

४५ अहं

विनायक-प्रस्तुत्यमाला : प्रस्तुति ३७

[पद्मशब्देय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

श्री इयामार्यवाचकसंकलित अनुष्ठ उपालङ्घ

## प्रद्वापनासूत्र

[तृतीय खण्ड, पद २३-२६]

[भूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा □

(स्व.) उपप्रबर्त्तक शासनसेवो स्वामी श्री जगलालजी महाराज

आशासंयोजक तथा प्रधान सम्पादक □

(स्व०) युवाचार्य श्री मिथ्येमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—सम्पादक □

श्री शानमुनिजी महाराज

[स्व. जनधर्मदिवाकर आचार्य श्रीमात्मारामजी म. के गुरुशिष्य]

प्रकाशक □

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

# विषयानुक्रमणिका

## तेइसवीं कर्मप्रकृतिशब्द

### प्राथमिक

प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य विषयों की संग्रहीय गाया	१
प्रथम : कर्तिप्रकृतिद्वार	१
द्वितीय : कह बंधतिद्वार	१०
तृतीय : कर्तिस्थानबंधद्वार	११
चतुर्थ : कर्तिप्रकृति वेदनद्वार	१३
पंचम : कर्तिविघ्र भ्रनुभवद्वार	१४

### द्वितीय उद्देशक

भूल और उत्तर प्रकृतियों के ऐद-प्रभेदों की प्ररूपणा	२७
ऐकन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	२८
द्वीन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	४६
भीन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	४८
चतुरिन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	६८
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	६९
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा	७१
कर्मों के अन्य स्थितिवन्धकों की प्ररूपणा	७४
कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के बन्धकों की प्ररूपणा	७५

### चौदोसवाँ कर्मबन्धपद

शान्तिवरणीय कर्मबंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बंध की प्ररूपणा	७९
वर्णेनावरणीय कर्मबंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बंध की प्ररूपणा	८१
वेदनीय कर्मबंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बंध की प्ररूपणा	८२
मोहृशीय आदि कर्मबंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बंध की प्ररूपणा	८३

### पचासवाँ कर्मबन्ध-वेदपद

ज्ञानावरणीयादि कर्मबंध के समय कर्मप्रकृतिवेद का निरूपण	८६
--	----

## छत्तीसवां कर्मवेद-वेदपद

ज्ञानावरणीयादि कर्मों के वेदन के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बच्च का निरूपण	८९
वेदनीयकर्म के वेदन से इग्नॉजल्य कर्मप्रकृतियों के बच्च की प्रपुणः	९२
शायुष्यादि कर्मवेदन के समय कर्मप्रकृतियों के बच्च की प्रपुणा	९४
<b>सत्ताईसवां कर्मवेद-वेदपद</b>	
ज्ञानावरणीयादि कर्मों के वेदन के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के वेदन का निरूपण	९६
<b>अट्टाईसवां आहारपद</b>	
<b>प्राथमिक</b>	<b>११</b>
<b>प्रथम उद्देशक</b>	
प्रथम उद्देशक में उल्लिखित ग्यारह द्वार	१०२
चौबीस दण्डकों में प्रथम सचित्ताहार द्वार	१०३
नैरपिकों में आहारार्थी आदि द्वितीय से अष्टम द्वार पर्यन्त	१०३
भवनपतियों के सम्बन्ध में आहारार्थी आदि सात द्वार	१०५
एकेन्द्रियों में आहारार्थी आदि सात द्वार	११०
विकलेन्द्रियों में आहारार्थी आदि सात द्वार	११२
पञ्चेन्द्रिय तिर्यकों, मनुष्यों, ज्योतिष्कों एवं वाणव्यत्तरों में आहारार्थी आदि सात द्वार	११५
वैमानिक देवों में आहारादि सात द्वारों को प्ररूपणा	११६
एकेन्द्रियकरीराविद्वार	१२२
लोमाहारद्वार	१२३
मनोभक्षीद्वार	१२४
<b>द्वितीय उद्देशक</b>	
द्वितीय उद्देशक के द्वारों की संग्रहणी गाथा	१२६
प्रथम-आहारद्वार	१२६
द्वितीय-भव्यद्वार	१२८
तृतीय-संज्ञीद्वार	१३०
चतुर्थ-लेश्याद्वार	१३२
पञ्चम-दृष्टिद्वार	१३४
छठा-संयतद्वार	१३६
सातवाँ-कषायद्वार	१३८
आठवाँ-जानद्वार	१३९
नौवाँ-योगद्वार	१४१
दसवाँ-उपयोगद्वार	१४२
शारहवाँ-वेदद्वार	१४३

वारहवी-शरीरद्वार  
तेरहवी-पर्याप्तिद्वार

१४४

१४५

### उनतीसवां उपयोगपद

प्राथमिक

१४६

जीव आदि में उपयोग के भेद-प्रभेदों की प्रकृष्टि

१४२

जीव आदि में साकारोपयुक्ता-अनाकारोपयुक्ता-निरूपण

१५५

### तीसवां पश्यत्तापद

जीव एवं चौबीस दण्डकों में पश्यत्ता के भेद-प्रभेदों की प्रकृष्टि

१६०

जीव एवं चौबीस दण्डकों में साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता

१६३

केवली में एक समय में दोनों उपदोगों का निषेध

१६६

### इकतीसवां संज्ञिपद

प्राथमिक

१७१

जीव एवं चौबीस दण्डकों में संज्ञी आदि की प्रकृष्टि

१७४

### बत्तीसवां संयतपद

प्राथमिक

१७७

जीवों एवं चौबीस दण्डकों में संयत आदि की प्रकृष्टि

१७४

### तेतीसवां अवधिपद

प्राथमिक

१८१

तेतीसवें पद के अर्थाधिकारों की प्रकृष्टि

१८३

अवधिभेदद्वारा

१८३

अवधिविषयद्वारा

१८४

अवधिज्ञान का संस्थान

१९०

शास्त्रन्तर-व्याख्या-प्रवधिद्वारा

१९२

देशावधि-सर्वावधिद्वारा

१९३

अवधिक्षय-वृद्धि आदि द्वारा

१९४

### चौतीसवां परिचारणापद

प्राथमिक

१९७

चौतीसवें पद का अर्थाधिकार-प्रकृष्टि

२०१

अनन्तराहारद्वारा

२०१

शाहीराभोगताद्वारा

२०३

पुद्गलज्ञानद्वार	२०४
षष्ठ्यवसायद्वार	२०५
सम्यक्त्वाभिगमद्वार	२०६
परिचारणाद्वार	२०७
अल्पवहृतद्वार	२१२

### पंतीसवां वेदतापद

प्राथमिक	२१५
पंतीसवे पद का अर्थाधिकार-प्ररूपण	२१७
शीतादि वेदनाद्वार	२१८
त्रिष्णादि वेदनाद्वार	२१९
शारीरादि वेदनाद्वार	२२१
सातादि वेदनाद्वार	२२१
द्वाष्टादि वेदनाद्वार	२२२
आध्युपगमिकी और श्रौपक्रमिकी वेदना	२२३
निदा-भनिदा वेदना	२२४

### छत्तीसवां समुद्घातपद

प्राथमिक	२२७
समुद्घात के भेदों की प्ररूपणा	२२९
समुद्घात के काल की प्ररूपणा	२३१
चौबीस दण्डकों में समुद्घात-संख्या	२३१
चौबीस दण्डकों में एकत्व रूप से भ्रतीतादि-समुद्घातप्ररूपणा	२३३
चौबीस दण्डकों में बहुत्व की अपेक्षा भ्रतीत-अनागत समुद्घात	२३७
चौबीस दण्डकों की चौबीस दण्डक-पर्यायों में एकत्व की अपेक्षा भ्रतीतादि समुद्घात	२४०
चौबीस दण्डकों की चौबीस दण्डक-पर्यायों में बहुत्व की अपेक्षा से भ्रतीतादि समुद्घात	२४३
विविध समुद्घात-समवहृत-असमवहृत जीवादि का अल्पवहृत्व	२४८
चौबीस दण्डकों में छाईस्थिक समुद्घातप्ररूपणा	२५०
वेदना एवं कथाय समुद्घात से समवहृत जीवादि के श्वेत, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा	२५२
मारणान्तिकसमुद्घात में समवहृत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा	२५५
तैजससमुद्घात-समवहृत जीवादि के श्वेत, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा	२५०
आहारकसमुद्घात-समवहृत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा	२५८
केवलिसमुद्घात-समवहृत अनगार के निर्जीर्ण धन्तिम पुद्गालों की सोकव्यापिता	२६३
केवलिसमुद्घात का प्रयोजन	२६६
केवलिसमुद्घात के पश्चात् योगनिरोध आदि की प्रक्रिया	२६८
सिद्धों के स्वरूप का निरूपण	२९४

# तेष्टाईसाइमाओ सत्ताईसाइमपञ्जजंताइ पयाइँ

तेष्टाईसवें पद से सत्ताईसवें पद पर्यन्त

## प्राथमिक

- ❖ ये प्रजापनासूत्र के तेष्टाईसवें से सत्ताईसवें पद तक पांच पद हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—  
(२३) कर्मप्रकृतिपद, (२४) कर्मबन्धपद, (२५) कर्मबन्ध-देदपद, (२६) कर्मवेद-बन्धपद और (२७) कर्मवेद-वेदकपद।
- ❖ ये पांचों पद कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादक हैं और एक-दूसरे से परस्पर संलग्न हैं।
- ❖ जैनदर्शन तात्किक और देवानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा को निश्चयदृष्टि से परमात्मतुल्य माना गया है, फिर वह आत्मा पृथ्वी, जल या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग-पशु-पक्षी-मानवादि रूप हो, तात्त्विक दृष्टि से समान है। प्रश्न हो सकता है, जब तत्त्वतः सभी जीव (आत्मा) समान हैं, तब उनमें परस्पर वैषम्य क्यों? एक धनी, एक निर्धन, एक छोटा, एक विशालकाय, एक बुद्धिमान् दूसरा मंदबुद्धि, एक सुखी, एक दुःखी, इत्यादि विषमताएँ क्यों हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कर्मसिद्धान्त का जन्म हुआ। कर्मधीन होकर ही जीव विभिन्न प्रकार के शरीर, इन्द्रिय, गति, जाति, अंगोपांग आदि की न्यूनाधिकता वाले हैं। आत्मगुणों के विकास की न्यूनाधिकता का कारण भी कर्म ही है।
- कर्मसिद्धान्त से तीन प्रयोजन मुख्य रूप से फलित होते हैं—
  - (१) वैदिकधर्म की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता के भ्रान्त अंश को दूर करना।
  - (२) बौद्धधर्म के एकान्त क्षणिकवाद को युक्तिविहीन बताना।
  - (३) आत्मा को जडतत्त्व से भिन्न स्वतंत्र चेतन के रूप में प्रतिष्ठापित करना।

- ❖ भगवान् महावीरकालीन भारतवर्ष में जैन, बौद्ध और वैदिक, ये तीन धर्म की मुख्य धाराएँ थीं। वेदानुगामी कतिपय दर्शनों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ मानते हुए भी उसे जगत् का कर्ता-हर्ता-धर्ता माना जाता था। कर्म जड होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भुगवा नहीं सकते, अतः जीव को अच्छे-बुरे कर्मों का फल भुगवाने वाला ईश्वर ही है। जीव चाहे जितनी उच्चकोटि का हो, वह ईश्वर हो नहीं सकता। जीव जीव ही रहेगा, ईश्वर नहीं होगा। जीव का विकास ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार कई दर्शन तो जीव को ईश्वर के हाथ की कठपुतली मानने लगे थे।

इस प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण विश्वास में चार बड़ी भूलें थीं—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि के प्रपञ्च में पड़ना और रागद्वेषयुक्त बनना। (२) आत्मा की स्वतंत्रता और शक्ति का दब जाना। (३) कर्म की शक्ति की अनभिज्ञता और (४) जप, तप संयम-

आत्मादि की साधना की व्यर्थता। इन भूलों का परिमार्जन करने और संसार को वस्तुस्थिति से अवगत कराने हेतु भगवान् महावीर ने बाणी से ही नहीं अपने कर्म-क्षय के कार्यों से कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या का प्रतिपादन किया।

- ❖ लथागत बुद्ध कर्म और उसके विपाक को मानते थे, किन्तु उनके क्षणिकवाद के सिद्धान्त से कर्मविशाक की लक्षणित व्यथा यदि वहीं दो सकती है। स्वकृत कर्म का स्वयं फलभोग तथा परकृत कर्म के फलभोग का स्वयं अभाव तभी घटित हो सकता है, जबकि आत्मा को न तो एकान्त-नित्य माना जाए और न ही एकान्त-क्षणिक।
- ❖ कुछ नास्तिक दर्शनवादी पुनर्जन्म, परलोक को मानते ही नहीं थे। उनके मतानुसार शुभ तथा अशुभ कर्म का शुभ एवं अशुभ फल घटित ही नहीं होता। तब फिर अध्यात्मसाधना का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के व्याख्यरूप से समाधान के लिए भगवान् महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। क्योंकि कर्म न हों तो जन्म-जन्मान्तर तथा इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट ही नहीं सकता।
- ❖ जो लोग यह कहते हैं, जीव अज्ञानी है, वह स्वकृत कर्म के दुःखद फल को स्वयं भोगने में असमर्थ है, इसलिए कर्मफल भुगवाने वाला ईश्वर है, ऐसा मानना चाहिए। वे कर्म की विशिष्ट शक्ति से अनभिज्ञ हैं। यदि कर्मफलप्राप्ति में दूसरे को सहायक माना जाएगा तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे तथा जीव के स्वकृत पुरुषार्थ की हानि भी होगी और उसमें सत्कार्यों में प्रवृत्ति, असत्कार्यों से निवृत्ति के लिए उत्साह नहीं जागेगा।
- मही कारण है कि भगवान् महावीर ने प्रस्तुत २३ वें कर्मप्रकृतिपद में ईश्वर या किसी भी शक्ति को सूष्टि की उत्पत्ति, स्थिति या विनाशकत्ति और कर्मफलप्रदाता के रूप में न मानकर स्वयं जीव को ही कर्मबन्ध करने, कर्मफल का वेदन करने तथा स्वकृतकर्मों तथा कर्म-क्षय का फल भोगने का अधिकारी बताया है। जीव अनादिकाल से स्वकृतकर्मों के बश होकर विविध गतियों, योनियों आदि में अभ्रमण कर रहा है। जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है, स्वतः सुखदुःखादि पाता है।
- ❖ कुछ दार्शनिक कर्मसिद्धान्त पर एक आक्षेप यह करते हैं कि प्रस्तुत २३ वें पद के अनुसार समस्त जीवों के साथ कर्म सदा से लगे हुए हैं और कर्म एवं आत्मा का अनादि सम्बन्ध है, तो फिर कर्म का सर्वथा नाश कदापि नहीं हो सकेगा। लेकिन कर्मसिद्धान्त के बारे में ऐसा एकान्त सार्वकालिक नियम नहीं है। इसी कारण आगे चलकर २३ वें पद के दूसरे उद्देशक में स्पष्ट बताया गया है कि जितने भी कर्म हैं, सबकी एक कालमयदा है। वह काल परिपूर्ण होने पर उस कर्म का क्षय हो जाता है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और धी का प्रवाहरूप से अनादि-सम्बन्ध होते हुए भी प्रयत्न-विशेष से वे पृथक्-पृथक् होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध होने पर भी, व्यक्तिशः अनादि-सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का भी अन्त होता है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है। नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है। इस प्रकार प्रवाहरूप से कर्म के अनादि होने पर भी तप, संयम, त्रैत आदि के द्वारा कर्मों का प्रवाह एक दिन नष्ट हो जाता है और आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

पूर्वकथन से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है और कर्मबन्ध हीता रहता है। ऐसी स्थिति में सहज ही एक प्रश्न उठता है कि आत्मा पहले है या कर्म? यदि आत्मा पहले है तो कर्म का बन्ध उसके साथ जबसे हुआ तबसे उसे 'सादि' मानना पड़ेगा। जैनदर्शन का समाधान है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। परन्तु कर्म का प्रवाह कब तक चलेगा? सर्वज्ञ के सिवाय कोई नहीं जानता और न ही बता सकता है, क्योंकि भूतकाल के समान भविष्यकाल भी अनन्त हैं।

कुछ व्यक्ति शंका कर सकते हैं कि सभी जीव आत्मामय हैं और आत्मा का लक्षण ज्ञान है, तब फिर सभी जीवों को एक समान ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यही है कि आत्मा वस्तुतः ज्ञानमय है, किन्तु उस पर कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है और उस आवरण के कारण ही आत्मारूपी सूर्य का ज्ञानगुणरूप प्रकाश कर्मरूपी मेघों से ढैका हुआ है। बादल हटते ही जैसे सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है, वैसे ही कर्मों का आवरण दूर होते ही आत्मा के ज्ञानादि गुण अधिकाधिक प्रकट होने लगते हैं।

इस पर से एक प्रश्न फिर समुद्भुत होता है—कि कर्म द्वारा आत्मा वात्सुदृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं, क्योंकि कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के बक्कर काटती रहती है, परन्तु अन्तदृष्टि से देखा जाए तो आत्मा की शक्ति असीम (अनन्त) है। वह जैसे अपनी परिणति से कर्मों का आस्तव एवं बन्ध करती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता भी रखती है। कर्म जाहे जितने शक्तिशाली क्यों न प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है। कठोरतम पाषाणों की चट्ठानों को मुलायम पानी टूकड़े-टूकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की अनन्त शक्ति कर्मों को चूर-चूर कर देती है।

इसके लिए कर्म और आत्मा की पृथक्-पृथक् शक्तियों को पहिचानने के लिए दोनों के लक्षणों को जान लेना आवश्यक है। आत्मा अपने-आप में शुद्ध (निश्चय) रूप में ज्ञान, दर्शन, मातन्द एवं शक्तिमय (वीर्यमय) है। कर्मों के आवरण के कारण उसके ये गुण दबे हुए हैं। कर्मों का आवरण सर्वथा हटते ही जेतना पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है, आत्मा परमात्मा बन जाती है।

कर्म का लक्षण है—मिथ्यात्व आदि पांच कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रभाव, कषाय और योग, इन पांचों में से किसी के भी निमित्त से आत्मा में एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है, जिसे अन्य दर्शनों में अदृश्य, अविद्या, माया, प्रकृति, संस्कार आदि विविध नामों से पुकारा जाता है, अतः वह कर्म ही हैं, जो राग-द्वेष का निमित्त-पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है और समय पाकर वह (कर्म) सुख-दुःख रूप फल देने लगता है।

कर्म के मुख्यतया दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के साथ राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम भावकर्म है तथा वह अचेतन कर्मद्रव्य जब आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् एक होकर सम्बद्ध हो जाता है, तब वह द्रव्यकर्म कहलाता है।

यद्यपि जैनदर्शन में भावकर्मबन्ध के मुख्यतया मिथ्यात्वादी पांच कारण एवं संक्षेप में क्षणाय और

योग के दो कारण बतलाए हैं, तथा पि तेईसवें पद के प्रथम उद्देशक में राग और द्वेष को ही भावकर्मबन्ध का कारण बतलाया है। चार कषायों को इन्हीं दो के अन्तर्गत कर दिया गया है। कोई भी मानसिक या वैचारिक प्रवृत्ति हो, या तो वह राग (आसक्तिरूप) या वह द्वेष (घुणा या क्रोधादि) रूप होगी। अतः रागमूलक या द्वेषमूलक प्रवृत्ति को ही भावकर्मबन्ध का कारण माना गया है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी राग-द्वेषात्मक वासना के कारण अव्यक्तरूप से भावकर्म रूप में शिलष्ट होते रहते हैं। कर्म की बंधकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) भी रागद्वेष के सम्बन्ध से ही है।

★ रागद्वेषजनित मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार क्रोधादिकषायवश शारीरिक, वाचिक क्रिया होती है, वही द्रव्यकर्मोपार्जन का कारण बनती है। जो क्रिया कषायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मबन्ध विशेष बलवान् होता है, किन्तु कषायरहित क्रिया से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल और अल्पस्थितिक होता है। वह थोड़े-से प्रयत्न एवं समय में नष्ट क्रिया जा सकता है। बस्तुतः जब प्राणी मन-बचन-काया से प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से तद्योग्य कर्मपुद्गल-परमाणुओं का ग्रहण होता है। इन्हीं गृहीत पुद्गल-परमाणु-समूह का कर्मरूप में आत्मा के साथ बढ़ होना द्रव्यकर्म कहलाता है।

बस्तुतः जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति होती रहती है। पूर्वबढ़ कर्म उदय में आता है तो आत्मा की परिणति को प्रभावित करता है और उसी के अनुसार वैवीन कर्मद्वय होता रहता है। यह उक्त अनादिकाल से (प्रवाहरूप से) चला आ रहा है।

★ आत्मा निश्चयदृष्टि से ज्ञान-दर्शनमय शुद्ध होने पर भी अपनी कषायात्मक वैकारिक प्रवृत्ति या क्रिया द्वारा ऐसे संस्कारों (भावकर्मों) का आकर्षण करती रहती है और कर्मपुद्गलों को भी तदनुसार ग्रहण करती रहती है। इस ग्रहण करने की प्रक्रिया में मन-बचन-काय का परिस्पन्दन सहयोगी बनता है। कषाय या रागद्वेष की तीव्रता-मन्दता के अनुसार ही जीव को उन-उन कर्मों का बन्ध होता है तथा बन्धे हुए कर्मों के अनुसार ही तत्काल या कालान्तर में सुख-दुःख-रूप शुभाशुभ फल प्राप्त होता रहता है। किन्तु जब यह आत्मा अपनी विशिष्ट ज्ञानादि शक्ति से समस्त कर्मों से रहित होकर पूर्णरूप से—कर्ममुक्त हो जाती है तब पुनः कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं होते और न अपना फल देते हैं।

★ कर्मसिद्धान्तानुसार एक बात स्पष्ट है कि आत्मा ही अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थिति का निर्माण करती है, जिसका प्रभाव बाह्य सामग्री पर पड़ता है और तदनुसार परिणमन होता है, तदनुसार ही कर्मफल स्वतः प्राप्त होता है। कर्म के परिपाक का जब समय आता है, तब उसके उदयकाल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की सामग्री होती है, वैसा ही उसका तीव्र, मन्द, मध्यम फल प्राप्त होता है। इस फलप्राप्ति का प्रदाता कोई अन्य नहीं है। कर्मफल प्रदाता दूसरे को माना जाए तो स्वयंकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे, तथा जीव के स्व-पुरुषार्थ की भी हानि होगी। फिर तो सत्कायों में प्रवृत्ति और असत्कायों से निवृत्ति के लिए न तो उत्साह जाग्रत होगा, न पुरुषार्थ ही।

इस दृष्टि से २३ वें से २७वें पद तक कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में उद्भूत होने वाले विविध प्रश्नों का समाधान किया गया है। कर्मबन्ध के चार प्रकारों की दृष्टि से यहां व्याख्या एवं स्पष्ट समाधान किया गया है। द्रव्यकर्मों के बन्ध को प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभावबन्ध, इन चार प्रकारों में वर्णित किया गया है।

बद्ध कर्मपरमाणुओं का आत्मा के ज्ञानादि गुणों के आवरण के रूप में परिणत होना, उन कर्म-पुद्गलों में विभिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न होना, प्रकृतिबन्ध है। कर्मविपाक (कर्मफल) के काल की अवधि (जचन्य-उत्कृष्ट कालमर्यादा) उत्पन्न होना स्थितिबन्ध है। गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप में आत्मप्रदेशों के साथ न्यूनाधिक रूप में बद्ध होना- प्रदेशबन्ध है। इसमें भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मपरमाणुओं (कर्मप्रदेशों) की संख्या का निर्धारण होता है और कर्मरूप में गृहीत पुद्गलपरमाणुओं के फल देने की शक्ति की तीव्रता-मन्दता आदि अनुभाग (रस) बन्ध है। कर्म के सम्बन्ध में समुद्भूत होने वाले कुछ प्रश्नों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है, जिनक समाधान इन पदों में दिया गया है। मूलकर्म कितने हैं? उनके उत्तर-भेद कितने हैं? आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध कैसे और किन-किन कारणों से होता है? कर्मों में फल देने की शक्ति कैसे पैदा हो जाती है? कौन-सा कर्म कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रहता है? आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि हाँ, तो कैसे, किन आत्मपरिणामों से? एक कर्म के बन्ध के समय, दूसरे किन कर्मों का बन्ध या वेदन हो सकता है? किस कर्म के वेदन के समय अन्य किन-किन कर्मों का वेदन होता है? इस प्रकार बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता आदि अवस्थाओं की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले नाना प्रश्नों का संयुक्तिक विशद वर्णन किया गया है।

❖ सर्वप्रथम तेईसवें 'कर्म-प्रकृति-पद' के प्रथम उद्देशक में पांच द्वारों के माध्यम से कर्म-सिद्धान्त की चर्चा की गई है। प्रथम द्वार में मूल-कर्म-प्रकृति की संख्या और चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में उनके सद्भाव की प्ररूपणा है। दूसरे द्वार में बताया गया है कि समुच्चय जीव तथा चौबीस दण्डकवर्ती जीव किस प्रकार आठ कर्मों को बांधते हैं? तीसरे द्वार में बताया गया है कि ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को एक या अनेक समुच्चय जीव तथा चौबीस दण्डकवर्ती जीव, राग और द्वेष (जिनके अन्तर्गत क्रोधादि चार कषायों का समावेश हो जाता है), इन दो कारणों से बांधते हैं। चौथे द्वार में यह बताया गया है कि समुच्चय जीव या चौबीस दण्डकवर्ती जीव एकत्र एवं बहुत्व की अपेक्षा से, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में किन-किन कर्मों का वेदन करता है? इसके पश्चात् पंचम कतिविधि-अनुभाव द्वार में विस्तृत रूप से बताया गया है कि जीव के द्वारा बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पृष्ट, संचित, चित, उपचित, आपाक-प्राप्त, विपाक-प्राप्त, फल-प्राप्त, उदय-प्राप्त, कृत, निष्पादित, परिणामित, स्वतःया परतः उदीरित, उभयतः उदीरणा किये जाते हुए गति, स्थिति और भव की अपेक्षा से ज्ञानावरणीयादि किस-किस कर्म के कितने-कितने विपाक या फल हैं?

❖ तेईसवें पद के द्वितीय उद्देशक में सर्वप्रथम अष्ट कर्मों की मूल और उत्तर-प्रकृतियों के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों की (भेद-प्रभेदसहित)

स्थिति का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् यह निरूपण किया गया है कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीव ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में से किस कर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं? तथा ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाले कौन-कौन जीव हैं?

- ◆ चौबीसवें 'कर्मबन्ध-पद' में बताया गया है कि चौबीस दण्डकवर्ती जीव ज्ञानावरणीय आदि किसी एक कर्म को बांधता हुआ, अन्य किन-किन कर्मों को बांधता है, अर्थात् कितने अन्य कर्मों को बांधता है?
- ◆ पच्चीसवें कर्मबन्ध-वेदपद में बताया गया है कि जीव आठ कर्मों में से किसी एक कर्म को बांधता हुआ, अन्य किन-किन कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है?
- ◆ छब्बीसवें कर्मवेद-बन्धपद में कहा गया है कि जीव आठ कर्मों में से किसी एक कर्म को वेदता हुआ, अन्य कितने कर्मों का बन्ध करता है?
- ◆ सत्ताईसवें 'कर्मवेद-वेदकपद' में कहा गया है कि जीव किसी एक कर्म के वेदन के साथ किन अन्य कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है?
- ◆ प्रस्तुत पांचों पदों के निरूपण द्वारा शास्त्रकार ने स्पष्ट घटनित कर दिया है कि जीव कर्म करते और फल भोगने में, नये कर्म बांधने तथा समभावपूर्वक कर्मफल भोगने में स्वतन्त्र है तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन का उद्देश्य देवगति या अमुक प्रकार के शरीरादि की उपलब्धि करना नहीं है। अपितु कर्मों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति पाना, जन्म-मरण से छुटकारा पाना ही उसका लक्ष्य है। इसी में आत्मा के पुरुषार्थ की पूर्णता है तथा यही आत्मा के शुद्ध, सिद्ध-शुद्ध-मुक्तस्वरूप की उपलब्धि है। इस चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनों प्रकार के कर्म त्याज्य हैं। सम्यगदर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप ही मोक्ष-पुरुषार्थ के परम साधन हैं जो कर्मकथ के लिए नितान्त आवश्यक हैं। आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः कर्मनिर्जरा करता हुआ आत्मा की विशुद्धतापूर्वक सर्वथा कर्मकथ कर सकता है। यही तथ्य शास्त्रकार के द्वारा घटनित किया गया है।



# तेतीसाङ्गमं कठमपगडिपयं

तेईसवाँ कर्मप्रकृतिपद

## पढमो उद्देशओ : प्रथम उद्देशक

### प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य विषयों की संग्रहणीयाथा

१६६४. कति पगडी १ कहु बंधइ २ कतिहि व ठाणेहि बंधए जोबो ३ ।

कति वेदेह य पयडी ४ अनुभावो कतिविहो कस्स ५ ॥२१७॥

[ १६६४ गाथार्थ— ] (१) (कर्म-) प्रकृतियाँ कितनी हैं ?, (२) किस प्रकार बंधती है ?, (३) जीव कितने स्थानों वे (कर्म) बंधता है ?, (४) कितनी (कर्म-) अनुभावों का वेदन करता है ?, (५) किस (कर्म) का अनुभाव (अनुभाग) कितने प्रकार का होता है ? ॥२१७॥

विवेचन—विविध पहलुओं से कर्मबन्धादि परिणाम-निरूपक पांच द्वार—(१) प्रथमद्वार—कर्मप्रकृतियों की संख्या का निरूपण करने वाला, (२) द्वितीयद्वार—कर्मबन्धन के प्रकार का निरूपक, (३) तृतीयद्वार—कर्म बंधने के स्थानों का निरूपक, (४) चतुर्थद्वार वेदन की जानेवाली कर्मप्रकृतियों की गणना और (५) पंचमद्वार—विविध कर्मों के विभिन्न अनुभावों का निरूपण करने वाला ।'

### प्रथम : कति-प्रकृतिद्वार

१६६५. कति ण भंते ! कम्पपगडीओ पण्णताओ ?

गोयमा ! अदू कम्पपगडीओ पण्णताओ । तं जहा—णानावरणिञ्जं १ दरिसणावरणिञ्जं २ वेदणिञ्जं ३ मोहणिञ्जं ४ आउयं ५ जामं ६ गोयं ७ अंतराहयं ८ ।

[ १६६५ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही हैं ?

[ १६६५ उ.] गीतम् ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही हैं, वे इस प्रकार—१. ज्ञानावरणीय, २. दशनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय ।

१६६६. जेरइयाणं भंते ! कति कम्पपगडीओ पण्णताओ ?

गोयमा ! एवं वेव । एवं जाव वेमाणियाणं ।

[ १६६६ प्र.] भगवन् ! नेरयिकों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[ १६६६ उ.] गीतम् ! इसी प्रकार पूर्ववत् आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं और (नारकों के ही समान) वैमानिक तक (आठ कर्मप्रकृतियाँ समझनी चाहिए ) ।

**विवेचन—**(१) कृति-प्रकृतिद्वार—आठ कर्मप्रकृतियाँ और छोटीस दण्डकों में उनका सद्भाव—मूल कर्मप्रकृतियाँ आठ प्रसिद्ध हैं। नारक से लेकर वैमानिक तक समस्त संसारी जीवों के भी आठ ही कर्मप्रकृतियाँ लगी हुई हैं।

**आठ कर्मप्रकृतियों का स्वरूप—**(१) ज्ञानावरणीय—जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे। सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के विशेष अंश का ग्रहण करना ज्ञान है। उसे जो आवृत्त करे, वह ज्ञानावरणीय है। (२) दर्शनावरणीय—पदार्थ के विशेषधर्म को ग्रहण न करके सामान्य धर्म को ग्रहण करना 'दर्शन' है। जो आत्मा के दर्शनगुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय है। (३) वेदनीय—जिस कर्म के कारण आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करे। (४) मोहनीय—जो कर्म आत्मा को मूढ़—सत्-असत् के विवेक से शून्य बनाता है। (५) आयुकर्म—जो कर्म जीव को किसी न किसी भव में विष्ट रखता है। (६) जात्कर्त्ता—जो कर्म जीव के गतिपरिणाम आदि उत्पन्न करता है। (७) गोत्रकर्म—जिस कर्म के कारण जीव उच्च अथवा नीच कहलाता है अथवा जिस कर्म के उदय से जीव प्रतिष्ठित कुल अथवा नीच—अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है। (८) अन्तरायकर्म—जो कर्म जीव के और दानादि के बीच में व्यवधान अथवा विघ्न ढालता है, अथवा जो कर्म दानादि करने के लिए उद्यत जीव के लिये विघ्न उपस्थित करता है।<sup>१</sup>

**द्वितीय : कह बंधइ (किस प्रकार बंध करता है) द्वार**

१६६७. कहणं भंते ! जीवे अद्व कस्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! णाणावरणिजजस्स कस्मस्स उदएण वरिसणावरणिजजं कस्मं णियच्छति, वरिसणावरणिजजस्स कस्मस्स उदएण वंसणभोहणिजजं कस्मं णियच्छति, वंसणमोहणिजजस्स कस्मस्स उदएण मिच्छतं णियच्छति, मिच्छत्तेण उदिणेण गोयमा ! एवं खनु जीवे अद्व कस्मपगडीओ बंधइ ।

[१६६७ प्र.] भगवन् ! जीव आठ कर्मप्रकृतियों को किस प्रकार बांधता है ?

[१६६७ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से (जीव) दर्शनावरणीय कर्म को निश्चय ही प्राप्त करता है, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से (जीव) दर्शनमोहनीय कर्म को प्राप्त करता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्म को निश्चय ही प्राप्त करता है और हे गौतम ! इस प्रकार मिथ्यात्म के उदय होने पर जीव निश्चय ही आठ कर्मप्रकृतियों को बांधता है।

१६६८. कहणं भंते ! नेरहए अद्व कस्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! एवं देव ! एवं जाव वेमाणिए ।

[१६६८ प्र.] भगवन् ! नारक आठ कर्मप्रकृतियों को किस प्रकार बांधता है ?

[१६६८ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्वोक्त कथनवत्) जानना चाहिए ।

इसी प्रकार (असुरकुमार से लेकर) वैमानिकपर्यन्त (समझना चाहिए ।)

१६६९. कहणं भंते ! जीवा अद्व कस्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! एवं देव ! एवं जाव वेमाणिया ।

१. प्रश्नापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ५, पृ. १५१

[१६६९ प्र.] भगवन् ! बहुत-से जीव आठ कर्मप्रकृतियाँ किस प्रकार बंधते हैं ?

[१६६९ उ.] गौतम ! पूर्वबत् जानना । इसी प्रकार बहुत-से वैमानिकों तक (समझना चाहिए ।)

**विवेचन**—समुच्चय जीव और चौदीस दण्डक में एकत्व-बहुत्व की विवाक्षा से अष्टकर्मबन्ध के कारण—प्रस्तुत द्वितीय द्वार में जीव अष्टकर्मबन्ध किस प्रकार करता है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि ज्ञानावरण का उदय होने पर दर्शनावरणीय कर्म का आगमन होता है अर्थात् जीव दर्शनावरणीयकर्म को उदय से बेदता है । दर्शनावरणीय के उदय से दर्शनमोह का और दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व का और मिथ्यात्व के उदीर्ण होने पर आठों कर्मों का आगमन होता है अर्थात् जीव मिथ्यात्व के उदय से आठ कर्मप्रकृतियों का बंध करता है । सभी जीवों में आठ कर्मों के बन्ध (या आगमन) या वही क्रम है । इन चारों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि कर्म से कर्म आता—बंधता है ।<sup>१</sup>

**स्पष्टीकरण**—आचार्य मलयगिरि ने इस सूत्र में प्रयुक्त 'खलु' शब्द का 'प्रायः' ग्रथं करके इस सूत्रबन्धुष्टव को 'प्रायिक' माना है । इसका आशय यह है कि कोई-कोई सम्यग्दृष्टि भी आठ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है । केवल सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थानवर्ती संयत आदि आठ कर्मों का बन्ध नहीं करते ।<sup>२</sup>

**ज्ञातव्य** यहाँ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध के कारणों में केवल मिथ्यात्व को ही मूल कारण बताया है, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को नहीं, किन्तु पारम्परिक कारणों में अविरति, प्रमाद और कषाय का भी समावेश ही जाता है । क्योंकि जीव ज्ञानावरणादि कर्म बांधता है, उसके (सू. १६७० में) मुख्यतया दो कारण बताए गए हैं—राग और द्रेष । राग में माया और लोभ का तथा द्रेष में क्रोध और मान का समावेश हो जाता है ।<sup>३</sup>

### तृतीयद्वार : कति-स्थान-बन्धद्वार

१६७०. जीवेण भंते ! ज्ञानावरणिज्ञं कर्मं कतिहि ठाणेहि बंधइ ?

गोदमा ! बोहि ठाणेहि । सं जहा—रागेण य बोलेण य । रागे दुष्प्रिये पण्णते, तं जहा—माया य लोभे य । दोसे दुष्प्रिये पण्णते, तं जहा—कोहे य माणे य । इक्षेतेहि चउहि ठाणेहि वीरियोदग्धहिएहि एवं खलु जीवे ज्ञानावरणिज्ञं कर्मं बंधइ ।

[१६७० प्र.] भगवन् ! जीव कितने स्थानों—कारणों से ज्ञानावरणीयकर्म बंधता है ?

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ (२३वें पद का विवार), पृ. १३१

(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. १६६

२. (क) प्रज्ञापना मलयगिरि वृत्ति, पृ. ४५४

(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. १६४

३. (क) पण्णवणासुत्तं, (सुलाठ-टिप्पण्युक्त) भा. १, पृ. १६२, सू. १६७०, पृ. ३६४ तथा पण्णवणासुत्तं भा. २ पृ. १३१

(ख) 'मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः' । — तत्त्वार्थमूल

(ग) रागो य दोसो विय कर्मबीय । उत्तराध्ययनसूत्र

[१६७० उ.] गीतम् ! वह दो कारणों (स्थानों) से ज्ञानावरणीय-कर्मबन्ध करता है, यथा—राग से और द्वेष से । राग दो प्रकार का कहा है, यथा—माया और लोभ । द्वेष भी दो प्रकार का कहा है, यथा—क्रोध और मान । इस प्रकार वीर्य से उपार्जित चार स्थानों (कारणों) से जीव ज्ञानावरणीयकर्म बंधता है ।

१६७१. एवं णेरहए जाव वेमाणिए ।

[१६७१] नैरयिक (से लेकर) वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (कहना चाहिए) ।

१६७२. जीवा णं भसे । ज्ञानावरणिज्ञं कस्मं कलिहि ठाणेहि बंधति ?

गोयमा ! दोहि ठाणेहि, एवं चेव ।

[१६७२ प्र.] भगवन् ! बहुत जीव कितने कारणों से ज्ञानावरणीयकर्म बंधते हैं ?

[१६७२ उ.] गीतम् ! पूर्वोक्त दो कारणों से (बंधते हैं।) तथा उन दो के भी पूर्ववत् चार प्रकार समझने चाहिए ।

१६७३. एवं णेरहया जाव वेमाणिया ।

[१६७३] इसी प्रकार बहुत से नैरयिकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक समझना चाहिए ।

१६७४. [१] एवं दंसणावरणिज्ञं जाव अन्तराहयं ।

[१६७४-१] इसी प्रकार दर्शनावरणीय (से लेकर) अन्तरायकर्म तक कर्मबन्ध के ये ही कारण समझने चाहिए ।

[२] एवं एते एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा ।

[१६७४-२] इस प्रकार एकत्व (एकवचन) और बहुत्व (बहुवचन) की चिवक्षा से ये सोलह दण्डक होते हैं ।

विवेचन—कितने कारणों से कर्मबन्ध होता है ? --द्वितीय द्वार में कर्मप्रकृतियों के बन्ध का क्रम तथा उनके बहिरंग कारण बताये गए हैं, जबकि इस तृतीय द्वार में कर्मबन्ध के अन्तरंग कारणों पर विचार किया गया है ।<sup>१</sup>

राग-द्वेष एवं कषाय का स्वरूप—जो प्रीतिरूप हो, उसे राग और जो अप्रीतिरूप हो, उसे द्वेष कहते हैं । राग दो प्रकार का है—माया और लोभ । चूंकि ये दोनों प्रीतिरूप हैं, इसलिए राग में समाविष्ट हैं, जबकि क्रोध और मान ये दोनों अप्रीतिरूप हैं, इसलिये इनका समावेश द्वेष में हो जाता है । क्रोध तो अप्रीतिरूप है ही, मान भी दूसरों के गुणों के प्रति असहिष्णुतारूप होने से अप्रीतिरूप है ।<sup>२</sup>

निष्कर्ष—(मूलपाठ के अनुसार) जीव अपने वीर्य से उपार्जित पूर्वोक्त (दो और) चार कारणों से ज्ञानावरणीय तथा शेष सात कर्मों का बंध करता है/करते हैं ।<sup>३</sup>

१. पण्डितासुत्त भाग २ (२३वें पद पर विचार) पृ. १२५

२. प्रश्नापना-प्रमेयबोधिनी टीका, पृ. १६९

३. वही पृ. १६९

## चतुर्थद्वार : कर्ति-प्रकृतिवेदन-द्वार

१६७५. अदि यं स्ते । णाणावरणिङ्गं कम्मं वेदेह ?

गोयमा ! अत्थेगद्दृष्ट वेदेह, अत्थेगद्दृष्ट णी वेदेह ।

[ १६७५ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता है ?

[ १६७५ उ. ] गीतम ! कोई जीव (ज्ञानावरणीयकर्म का) वेदन करता है और कोई नहीं करता है ।

१६७६. [ १ ] णेरद्दृष्ट णं भंते । णाणावरणिङ्गं कम्मं वेदेह ?

गोयमा ! णियमा वेदेह ।

[ १६७६-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता (भोगता) है ?

[ १६७६-१ उ. ] गीतम ! वह नियम से वेदन करता है ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणिए । णवरं मणूसे जहा जीवे (सु. १६७५) ।

[ १६७६-२ ] (असुरकुमार से लेकर) वेमानिकपर्यन्त इसी प्रकार जानना चाहिए, किन्तु मनुष्य के विषय में (सु. १६७५ में उक्त) जीव में समान वक्तव्यता समझनी चाहिए ।

१६७७. [ १ ] जीवा णं भंते । णाणावरणिङ्गं कम्मं वेदेति ?

गोयमा ! एवं चेव ।

[ १६७७-१ प्र.] भगवन् ! क्या बहुत जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन (अनुभव) करते हैं ?

[ १६७७-१ उ. ] गीतम ! पूर्ववत् सभी कथन जानना चाहिये ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणिया ।

[ १६७७-२ ] इसी प्रकार (बहुत से नैरथिकों से लेकर) वेमानिकों तक कहना चाहिए ।

१६७८. [ १ ] एवं जहा णाणावरणिङ्गं तहा वंसणावरणिङ्गं मोहणिङ्गं अंतराद्यं च ।

[ १६७८-१ ] जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के सम्बन्ध में कथन किया गया है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म के वेदन के विषय में समझना चाहिए ।

[ २ ] वेदणिङ्गजात्य-णाम-गोयाङ्गं एवं चेव । णवरं मणूसे वि णियमा वेदेति ।

[ १६७८-२ ] वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म के जीव द्वारा वेदन के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए, किन्तु मनुष्य (इन चारों कर्मों का) वेदन नियम से करता है ।

[ ३ ] एवं एते एवत्पोहत्तिया सोलस दंडना ।

[ १६७८-३ ] इस प्रकार एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से ये सोलह दण्डक होते हैं ।

विवेचन — समुच्चयजीव द्वारा किन कर्मों का वेदन होता है, किनका नहीं ?—जिस जीव के धातिकर्मों का क्षय नहीं हुआ है, वह ज्ञानावरणीयादि चार धातिकर्मों का वेदन करता है, किन्तु जिसने धातिकर्मों का क्षय कर डाला है, वह इन चारों कर्मों का वेदन नहीं करता है । मनुष्य को

छोड़कर नेरथिक से लेकर वैमानिक तक कोई भी जीव धातिकमी का क्षय करने में समर्थ नहीं होते, इसलिए वे ज्ञानावरणीयादि आठ कमी का वेदन करते हैं, मनुष्यों में जिनके चार धातिकमी का क्षय हो चुका है, वे ज्ञानावरणीयादि चार कमी का वेदन नहीं करते, और जिनके चार धातिकमी का हो चुका है, वे उनका वेदन करते हैं। (किन्तु वेदनीय, नाम और गोत्र, हन चार अधाति क्षय नहीं हुआ है, वे उनका वेदन करते हैं) क्योंकि ये चार अधातिकम मनुष्य में चौदहवें कमी का शेष जीवों की तरह मनुष्य भी वेदन करता है, क्योंकि ये चार अधातिकम मनुष्य में चौदहवें गुणस्थान के प्रन्त तक बने रहते हैं। मनुच्चय जीवों के कथन की अपेक्षा से संसारीजीव इन चार अधातिकमी का वेदन करते हैं, किन्तु मुक्त जीव वेदन नहीं करते।<sup>1</sup>

## पंचमद्वार : कतिविध-अनुभावद्वार

१६७९. याणाकरणिज्ञस्स जे भते ! कम्मस्स जीवेण बहुस्स पुदुस्स बद्द-फास-पुदुस्स सचितस्स जियस्स उचितस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जोवेण कडस्स जोवेण निष्क्रियस्स जोवेण परिणामियस्स सयं वा उचिण्णस्स परेण वा उदीरियस्स तवुभएण वा उदीरिज्जनाणस्स मति पर्य ठिति पर्य भवं पर्य खोगालं पर्य पोशतपदिणामं पर्य कतिवहे अणुभावे पण्णते ?

गोयमा । जाणावरणिडजस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्दस्स जाव पोगलपरिणामं पृथ्य वसविहे ग्रन्तुभावे पण्णते । तं जहा—सोयावरणे १ सोयविष्णाणावरणे २ गेत्तावरणे ३ गेत्तविष्णाणावरणे ४ घण्टावरणे ५ घाणविष्णाणावरणे ६ रसावरणे ७ रसविष्णाणावरणे ८ फासविष्णाणावरणे ९ फासविष्णाणावरणे १० । जं वेदेह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलाणं परिणामं, वरणे १० । जं वेदेह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलाणं परिणामं, तेसि वा उदएणं जाणियथं ण जाणइ, जाणिडकामे वि ण याणइ, जाणिला वि ण याणइ, उङ्कुण्णाणी वाचि भवइ जाणावरणिडजस्स कम्मस्स उदएणं । एस णं गोयमा । जाणावरणिडजे उङ्कुण्णाणी वाचि भवइ जाणावरणिडजस्स कम्मस्स जीवेण बद्दस्स जाव पोगलपरिणामं पृथ्य वसविहे ग्रन्तुभावे पण्णते १ ।

[१६७९ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा वद (वाधे गये), स्पृष्ट, वद्ध और स्पृष्ट किये हुए, संचित, चित और उपचित किये हुए, किञ्चित् पाक को प्राप्त, विपाक को प्राप्त, फल को प्राप्त तथा उदय-प्राप्त, जीव के द्वारा कृत, जीव के द्वारा निष्पादित, जीव के द्वारा परिणामित, स्वयं के द्वारा उदीरण-प्राप्त, दूसरे के द्वारा उदीरित (उदीरणा-प्राप्त) या दोनों के द्वारा उदीरणा-प्राप्त, उदीर्ण (उदय को प्राप्त), दूसरे के द्वारा उधीरित का, गति को प्राप्त करके, स्थिति को प्राप्त करके, भव को, पुदगल को तथा पुदगल-ज्ञानावरणीयकर्म का, गति को प्राप्त करके, स्थिति को प्राप्त करके, भव को, पुदगल को तथा पुदगल-परिणाम को प्राप्त करके कितने प्रकार का अनुभाव (फल) कहा गया है ?

[१६७९ उ.] श्रीतम ! जीव के द्वारा बढ़ पावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त ज्ञानावरणीयकर्म का दस प्रकार का अनुभाव कहा गया है यथा (१) श्रोत्रावरण, (२) श्रोत्रविज्ञानावरण, (३) नेत्रावरण, (४) नेत्रविज्ञानावरण, (५) घ्राणावरण, (६) घ्राणविज्ञानावरण, (७) रसावरण, (८) रसविज्ञानावरण, (९) स्पर्शावरण और (१०) स्पर्शविज्ञानावरण ।

ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से जो पुद्गल को अथवा पुद्गलों को या पुद्गल-परिणाम को अथवा स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम को वेदता है, उनके उदय से जानने योग्य को नहीं जानता, जानने का इच्छुक होकर भी नहीं जानता, जानकर भी नहीं जानता अथवा तिरोहित ज्ञान वाला होता है। गौतम ! यह है ज्ञानावरणीयकर्म ! हे गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके ज्ञानावरणीयकर्म का दस प्रकार का यह अनुभाव कहा गया है ॥ १ ॥

१६८०. दरिसणावरणिजजस्स णं भन्ते ! कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पर्य कतिविहे अणुभावे पण्णते ?

गोयमा ! दरिसणावरणिजजस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पर्य णविहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—१. णिद्रा २. पयला ३. पयलापयला ४. थीणगिढ़ी ५. अचक्षुदंसणावरणे ६. अचक्षुदंसणावरणे ७. ओहिदंसणावरणे ८. केवलदंसणावरणे ९ । जं वेदेह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा बीससा वा पोगलाणं परिणामं, तेसि वा उदएणं पासियथं ए पासइ, पासिउकामे वि ण पासइ, पासित्ता वि ण पासइ, उच्छष्टदंसणी यावि भवह, दरिसणावरणिजजस्स कम्मस्स उदएणं । एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिजजे कम्मे । एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिजजस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पर्य णविहे अणुभावे पण्णते २ ।

[ १६८० प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके दर्शनावरणीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[ १६८० उ.] गौतम ! जीवन के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त दर्शनावरणीयकर्म का नौ प्रकार का अनुभाव कहा गया है, तथा—१. निद्रा, २. निद्रा-निद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचला-प्रचला तथा ५. स्त्यानांदि एवं ६. चक्षुदर्शनावरण, ७. अचक्षुदर्शनावरण, ८. अवधिदर्शनावरण और ९. केवलदर्शनावरण । दर्शनावरण के उदय से जो पुद्गल या पुद्गलों को अथवा पुद्गल-परिणाम को या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम को वेदता है, अथवा उनके उदय से देखने योग्य को नहीं देखता, देखना चाहते हुए भी नहीं देखता, देखकर भी नहीं देखता अथवा तिरोहित दर्शन वाला भी हो जाता है ।

गौतम ! यह है दर्शनावरणीयकर्म । हे गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को पाकर दर्शनावरणीयकर्म का नौ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥ २ ॥

१६८१. [ १ ] सायावेदणिजजस्स णं भन्ते ! कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पर्य कतिविहे अणुभावे पण्णते ?

गोयमा ! सायावेदणिजजस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—मणुणा सहा १ मणुणा रुदा २ मणुणा गंधा ३ मणुणा रस ४ मणुणा फासा ५ मणोसुहता ६ बहसुहया ७ कायसुहया ८ । जं वेएह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा बीससा वा पोगलाणं परिणामं, तेसि वा उदएणं सायावेदणिजजे कम्मे वेदेह । एस णं गोयमा ! सायावेदणिजजे कम्मे । एस णं गोयमा ! सायावेदणिजजस्स जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते ।

[१६८१-१ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को पाकर सातावेदनीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[१६८१-१ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध सातावेदनीयकर्म का यावत् आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है, यथा—१. मनोज्ञशब्द २. मनोज्ञरूप, ३. मनोज्ञगन्धि, ४. मनोज्ञरस, ५. मनोज्ञस्पर्श, ६. मन का सौख्य, ७. वचन का सौख्य और ८. काया का सौख्य। जिस पुद्गल का अथवा पुद्गलों का उदय से सातावेदनीयकर्म को वेदन किया जाता है, अथवा उनके यह (जीव के द्वारा बद्ध) सातावेदनीयकर्म का यावत् आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है।

[२] असातावेयणिजजस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेण० तहेव पुच्छा उत्तरं च । तवरं अमणुण्णा सहा जाव कामदुहया । एस णं गोयमा ! असायावेदणिजजस्स जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते ३ ।

[१६८१-२ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् असातावेदनीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् ।

[१६८१-२ उ.] इसका उत्तर भी पूर्ववत् (सातावेदनीयकर्मसम्बन्धी कथन के समान,) जानना किन्तु (अष्टविधि अनुभाव के नामोल्लेख में) 'मनोज्ञ' के बदले सर्वत्र 'अमनोज्ञ' (तथा सुख के स्थान पर सर्वत्र दुःख) यावत् काया का दुःख जानना । हे गौतम ! इस प्रकार असातावेदनीयकर्म का यह

१६८२. मोहणिजजस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव कतिविहे अणुभावे पण्णते ?

गोयमा ! मोहणिजजस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—सम्बन्धवेयणिजजे १. मिळत्तवेयणिजजे २. सम्माभिच्छत्तवेयणिजजे ३. कसायवेयणिजजे ४. परिणामं, तेसि वा उदयं मोहणिजजे कम्मं वेदेष । एस णं गोयमा ! मोहणिजजे कम्मे । एस णं गोयमा ! मोहणिजजस्स कम्मस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णते ।

[१६८२ प्र.] भगवन् ! जीवन के द्वारा बद्ध यावत् मोहनीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[१६८२ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् मोहनीयकर्म का पाँच प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—१. सम्यक्त्व-वेदनीय, २. मिथ्यात्व-वेदनीय, ३. सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, ४. कषाय-वेदनीय और ५. नो-कषाय-वेदनीय ।

जिस पुद्गल का अथवा पुद्गलों का या पुद्गल परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का अथवा उनके उदय से मोहनीयकर्म का वेदन किया जाता है। गौतम ! यह है—मोहनीयकर्म और हे गौतम ! यह मोहनीयकर्म का यावत् पंचविधि अनुभाव कहा गया है ॥ ४ ॥

१६८३. आउशस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेण० तहेव पुच्छा ।

गोयमा ! आउशस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—

णेरहयाउए १ तिरिषाउए २ मणुष्याउए ३ देवाउए ४ । जं वेएह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा बीससा वा पोगलाणं परिणामं, लेसि वा उदएणं आउयं कम्मं वेदेह । एस णं गोयमा ! आउए कम्मे । एस णं शोयमा ! आउएस्स कम्मस्स जाव चौद्दिविहे अणुभावे पण्णते ५ ।

[ १६८३ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् आयुष्यकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[ १६८३ उ.] गीतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् आयुष्यकर्म का चार प्रकार का अनुभाव कहा गया है, यथा — १. नारकायु, २. तिर्यचायु, ३. मनुष्यायु और ४. देवायु ।

जिस पुदगल अथवा पुदगलों का, पुदगल-परिणाम का अथवा स्वभाव से पुदगलों के परिणाम का या उनके उदय से आयुष्यकर्म का वेदन किया जाता है, गीतम ! यह है—आयुष्यकर्म और यह आयुष्यकर्म का यावत् चार प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥ ५ ॥

१६८४. [ १ ] सुभणामस्स णं भते ! कम्मस्स जीवेण० पुच्छा ।

गोयमा ! सुभणामस्स णं कम्मस्स जीवेण बद्दुस्स जाव चौद्दसविहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—इट्टा सद्दा १ इट्टा रुद्दा २ इट्टा गंधा ३ इट्टा रसा ४ इट्टा फाला ५ इट्टा गती ६ इट्टा ठिती ७ इट्टे लावण्णे ८ इट्टा जसोकिती ९ इट्टे उद्दाण-कम्म-बल-विरिय-पुरिसकार-पराक्रमे १० इट्टुस्सरया ११ कंतस्सरया १२ पियस्सरया १३ मणुष्णस्सरया १४ । तं वेएह पोगलं वा पोगले वा पोगल-परिणामं वा बीससा वा पोगलाणं परिणामं, लेति वा उवाणं सुभणामं कम्मं वेदेह । एस णं गोयमा ! सुभनामे कम्मे । एस णं गोयमा ! सुभणामस्स कम्मस्स जाव चौद्दसविहे अणुभावे पण्णते ।

[ १६८४-१ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् शुभ नामकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि प्रश्न ।

[ १६८४-१ उ.] गीतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् शुभ नामकर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है । यथा - (१) इष्ट शब्द, (२) इष्ट रूप, (३) इष्ट गन्ध, (४) इष्ट रस, (५) इष्ट स्पर्श, (६) इष्ट गति, (७) इष्ट स्थिति, (८) इष्ट लावण्ण, (९) इष्ट यशोकीति, (१०) इष्ट उत्थान-कर्म-बल-बीर्य-पुरुषकार-पराक्रम, (११) इष्ट-स्वरूपा, (१२) कान्त-स्वरूपा, (१३) प्रिय-स्वरूपा और (१४) मनोज्ञ-स्वरूपा ।

जो पुदगल अथवा पुदगलों का या पुदगल-परिणाम का अथवा स्वभाव से पुदगलों के परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से शुभनामकर्म को वेदा जाता है, गीतम ! यह है शुभनामकर्म तथा गीतम ! यह शुभनामकर्म का यावत् चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।

[ २ ] दुहणामस्स णं भते । ० पुच्छा ।

गोयमा ! एवं चेवं । ऊवरं अणिट्टा सद्दा १ जाव हीणस्सरया ११ दीणस्सरया १२ अणिट्टुस्सरया १३ अकंतस्सरया १४ । चं वेदेह सेसं तं चेवं जाव चौद्दसविहे अणुभावे पण्णते ६ ।

[ १६८४-२ प्र.] भगवन् ! अशुभनामकर्म का जीव के द्वारा बद्ध यावत् कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि पूच्छा ।

[१६८४-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् अशुभनामकर्म का अनुभाव भी चौदह प्रकार का कहा गया है, (किन्तु वह है इससे विपरीत), यथा—अनिष्ट शब्द आदि यावत् (११) हीन-स्वरता, (१२) दीन-स्वरता, (१३) अनिष्ट-स्वरता और (१४) अकान्त-स्वरता ।

जो पुद्गल आदि का वेदन किया जाता है यावत् अथवा उनके उदय से दुःख (अशुभ) नामकर्म को वेदा जाता है । ऐसे सब पूर्ववत्, यावत् चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥ ६ ॥

१६८५. [१] उच्चागोप्यस्त णं भंते । कम्मस्त जीवेण० पुच्छा ।

गोप्यमा ! उच्चागोप्यस्त णं कम्मस्त जीवेण बद्धस्त जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—जातिविशिष्टया १ कुलविशिष्टया २ बलविशिष्टया ३ रूपविशिष्टया ४ तपविशिष्टया ५ सुपविशिष्टया ६ लाभविशिष्टया ७ इस्सरियविशिष्टया ८ । अं वेदेह पोगलं वा पोगले वा पोगल-परिणामं वा वीससा वा पोगलाणं परिणामं, तेसि वा उदएणं जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते ।

[१६८५-१ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् उच्चगोपकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्थादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१६८५-१ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् उच्चगोपकर्म का आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है, यथा—(१) जाति-विशिष्टता, (२) कुल-विशिष्टता, (३) बल-विशिष्टता, (४) रूप-विशिष्टता, (५) तप-विशिष्टता, (६) श्रुत-विशिष्टता, (७) लाभ-विशिष्टता और (८) ऐश्वर्य-विशिष्टता ।

जो पुद्गल अथवा पुद्गलों का, पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से उच्चगोपकर्म को वेदा जाता है, यावत् यही उच्चगोपकर्म है, जिसका उपर्युक्त आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।

[२] णीचगोप्यस्त णं भंते ० पुच्छा ।

गोप्यमा ! एवं चेत् । पवरं जातिविहीणया जाव १ इस्सरियविहीणया ८ । अं वेदेह पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलाणं परिणामं, तेसि वा उदएणं जाव अद्विहे अणुभावे पण्णते ७ ।

[१६८५-२ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् नीचगोपकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्थादि पूच्छा ।

[१६८५-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (नीचगोप का अनुभाव भी उतने ही प्रकार का है, परन्तु वह विपरीत है) यथा—जातिविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता । पुद्गल का, पुद्गलों का, अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का जो वेदन किया जाता है अथवा उन्हीं के उदय से नीचगोपकर्म का वेदन किया जाता है । गौतम यह है ...नीचगोपकर्म और यह यावत् उसका आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥ ७ ॥

१६८६. अंतराइयस्त णं भंते । कम्मस्त जीवेण० पुच्छा ।

गोयमा ! अंतराइयस्स णं कर्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णते । तं जहा—  
बाणंतराए १ लाभंतराए २ भोगंतराए ३ उद्भोगंतराए ४ वीरियंतराए ५ । जं वेदेष पोगलं वा  
पोगले वा जाव वीससा वा पोगलाणं परिणामं वा, तेसि वा उदएणं अंतराइयं कर्मे वेदेति । एस  
णं गोयमा ! अंतराइए कर्मे । एस णं गोयमा ! जाव पंचविहे अणुभावे पण्णते ८ ।

[ १६८६ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् अन्तरायकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव  
कहा गया है ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा ।

[ १६८६ उ.] गीतम् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् अन्तरायकर्म का पांच प्रकार का अनुभाव  
कहा गया है, यथा—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय  
और (५) वीर्यान्तराय ।

पुद्गल का या पुद्गलों का अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम  
का जो वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से जो अन्तरायकर्म को वेदा जाता है । यही है  
गीतम् ! वह अन्तरायकर्म, जिसका है गीतम् ! पांच प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥८॥

॥ तकर्म परिष्ठेष एवमो उहेसओ समतो ॥

**विवेचन**—बद्ध, पुद्गु आदि पदों के विशेषार्थ—बद्ध—राग-द्वेष-परिणामों के वशीभूत होकर  
दोधा गया, अर्थात्—कर्मरूप में परिणत किया गया । पुद्गु-स्पृष्ट—अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ  
सन्धार्घ को प्राप्त । अहम्बालपुद्गु-उद्गु-रागी-स्पृष्ट—पुनः प्रगाढ़रूप में बद्ध तथा अत्यन्त स्पर्श से  
स्पृष्ट, अर्थात् आवेष्टन, परिवेष्टनरूप से अत्यन्त गाढ़तर बद्ध । संचित—जो संचित है, अर्थात्—  
अवाधाकाल के पश्चात् वेदम् के योग्य रूप में निषिक्त किया गया है । चित—जो चय को प्राप्त हुआ  
है, अर्थात् उत्तरोत्तर स्थितियों में प्रदेश-हानि और रसवृद्धि करके स्थापित किया गया है ।  
उपचित—उपचित, अर्थात् जो समानजातीय अन्य प्रकृतियों के दलिकों में संक्रमण करके उपचय  
को प्राप्त है । विवागपत्त—जो विपाक को प्राप्त हुआ है, अर्थात् विशेष फल देने को अभिमुख हुआ  
है । आवागपत्त—आपाकप्राप्त, अर्थात् जो थोड़ा-सा फल देने को अभिमुख हुआ है । फलपत्त—  
फलप्राप्त, अर्थात् अतएव जो फल देने को अभिमुख हुआ है । उवयपत्त—उदय-प्राप्त, जो सामग्री-  
वशात् उदय को प्राप्त है । जीवेण कर्त्तव्य—जीव के—कर्मवन्धन-बद्ध जीव के द्वारा कृत । आशय  
यह है कि जीव उपयोग-स्वभाव वाला होने से रागादि परिणाम से युक्त होता है, अन्य नहीं ।  
रागादि परिणाम से युक्त होकर वह कर्मोपाजीन करता है तथा रागादि परिणाम भी कर्मवन्धन से  
बद्ध जीव के ही होता है, कर्मवन्धनमुक्त सिद्धजीव के नहीं । अतः जीव के द्वारा कृत का भावार्थ  
है—कर्मवन्धन से बद्ध जीव के द्वारा उपाजित । कहा भी है—

‘जीवस्तु कर्मवन्धन-बद्धो, वीरस्य भगवतः कर्ता ।

सन्तत्याऽनाद्यं च तदिष्टं कर्मत्वमः कर्तुः ॥

**अर्थात्**—भगवान् महाबीर के मत में कर्मवन्धन से बद्ध जीव ही कर्मों का कर्ता माना गया  
है । प्रवाह की व्येक्षा से कर्मवन्धन अनादिकालिक है । अतएव अनादिकालिक कर्मवन्धनबद्ध जीव  
(आत्मा) ही कर्मों का कर्ता अभीष्ट है ।

**जीवेण णिष्वत्तियस्त्**—जीव के द्वारा निष्पादित, अर्थात् जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म जीव के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि के रूप में व्यवस्थापित किया गया है। आशय यह है कि कर्मबन्ध के समय जीव सर्वप्रथम कर्मदर्गण के साधारण (अविशिष्ट) पुद्गलों को ही ग्रहण करता है अर्थात् उस समय ज्ञानावरणीय आदि भेद नहीं होता। तत्पश्चात् अनाभोगिक वीर्य के द्वारा उसी कर्मबन्ध के समय ज्ञानावरणीय आदि विशेषरूप में परिणत—व्यवस्थापित करता है, जैसे—आहार को रसादिरूप धातुओं के रूप में परिणत किया जाता है, इसी प्रकार साधारण कर्मदर्गण के पुद्गलों को ग्रहण करके ज्ञानावरणीय आदि विशिष्ट रूपों में परिणत करना 'निर्वर्तन' कहलाता है।

**जीवेण परिणामियस्त्**—जीव के द्वारा परिणामित, अर्थात् ज्ञान-प्रद्वेष, ज्ञान-निह व आदि विशिष्ट कारणों से उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त किया गया। सर्वं या उदिष्ट्वात्—जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म स्वतः ही उदय को प्राप्त हुआ है, अर्थात्—परनिरपेक्ष होकर स्वयं ही विपाक को प्राप्त हुआ है। परेण या उदीरियस्त्—अथवा दूसरे के द्वारा उदीरित किया गया है, अर्थात्—उदय को प्राप्त कराया गया है। तत्पुष्टेण या उदीरिज्जमाणस्त्—अथवा जो (ज्ञानावरणीयादि) कर्म स्व श्रीर पर के द्वारा उदय को प्राप्त किया जा रहा है।

**स्वनिमित्त से उदय को प्राप्त**—गति पृष्ठ—गति को प्राप्त करके, अर्थात्—कोई कर्म किसी गति को प्राप्त करके तीव्र अनुभाव वाला हो जाता है, जैसे—असातावेदनीय कर्म नरकगति को प्राप्त करके तीव्र अनुभाव वाला हो जाता है। नैरयिकों के लिए असातावेदनीय कर्म जितना तीव्र होता है, उतना तिर्यञ्चकों आदि के लिए नहीं होता। ठिति पृष्ठ—स्थिति को प्राप्त अर्थात्—सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त अशुभकर्म मिथ्यात्व के समान तीव्र अनुभाव वाला होता है। भवं पृष्ठ—भव को प्राप्त करके। आशय यह है कि कोई-कोई कर्म किसी भवविशेष को पाकर अपना विपाक विशेषरूप से प्रकट करता है। जैसे—मनुष्यभव या तिर्यञ्चभव को पाकर निद्रारूप दर्शनावरणीयकर्म अपना विशिष्ट अनुभाव प्रकट करता है। तात्पर्य यह है ज्ञानावरणीय आदि कर्म उस-उस गति, स्थिति या भव को प्राप्त करके स्वयं उदय को प्राप्त (फलाभिमुख) होता है।

**परनिमित्त से उदय को प्राप्त**—पोगलं पृष्ठ—पुद्गल को प्राप्त करके। अर्थात् काष्ठ, छेला या तलवार आदि पुद्गलों को प्राप्त करके अथवा किसी के द्वारा फेंके हुए काष्ठ, छेला, पत्थर, खड्ज आदि के योग से भी असातावेदनीय आदि कर्म का या क्रोधादिरूप कथायमोहनीयकर्म आदि का उदय हो जाता है। पोगलपरिणामं पृष्ठ—पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके, अर्थात् पुद्गल परिणाम के योग से भी कोई कर्म उदय में आ जाता है, जैसे—मदिरापान के परिणामस्वरूप ज्ञानावरणीयकर्म का अथवा भक्षित आहार के न पचने से असातावेदनीयकर्म का उदय हो जाता है।<sup>१</sup>

**प्रश्न का निष्कर्ष**—सू. १६७९ के प्रश्न का निष्कर्ष यह है कि जो ज्ञानावरणीयकर्म बढ़, स्पृष्ट आदि विभिन्न प्रकार के निमित्तों का योग पाकर उदय में आया है, उसका अनुभाव (विपाक फल) कितने प्रकार का है? <sup>२</sup>

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भाग. ५, पृ. ३८१ से ३८४ तक

२. पण्डितासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण्यकृत) भा. १, पृ. ३६५

ज्ञानावरणीयकर्म का दस प्रकार का अनुभावः क्या, क्यों और कैसे ? मूलपाठ में ज्ञानावरणीयकर्म का श्रोत्रावरण आदि दस प्रकार का अनुभाव बताया है। श्रोत्रावरण का अर्थ है—श्रोत्रेन्द्रिय-विषयक क्षमोपशम (लब्धि) का आवरण, श्रोत्रविज्ञानावरण का अर्थ है—श्रोत्रेन्द्रिय के उपयोग का आवरण। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के लब्धि (क्षयोपशम) और उपयोग का आवरण समझ लेना चाहिए।

इनमें से एकेन्द्रिय जीवों का प्रायः श्रोत्र, नेत्र, द्वाण और रसवा-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। द्वीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र, नेत्र और द्वाण-सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। त्रीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र और नेत्र-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। चतुरन्द्रिय जीवों को श्रोत्र-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है।

जिनका शरीर कुष्ठ आदि रोग से अनहत हो गया हो, उन्हें स्पर्शेन्द्रिय-सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। जो जन्म से अंधे, बहरे, गूंगे आदि हैं या बाद में हो गए हैं, नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण समझ लेना चाहिए।

इन्द्रियों की लब्धि और उपयोग का आवरण स्वयं ही उदय को प्राप्त या दूसरे के द्वारा उदीरित ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से होता है। इसी उदय को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जे चेनेइ पोगगलं वा इत्यादि, अथति—दूसरे के द्वारा फेंके गए या प्रहार करने में समर्थ काष्ठ, खड़ग आदि पुद्गल अथवा बहुत-से पुद्गलों से, जो कि ज्ञान का उपधात करने में समर्थ होते हैं, ज्ञान का या ज्ञान-परिणति का उपधात-आघात होता है अथवा जिस भक्षित आहार या सेवित पेय का परिणाम अतिदुखजनक होता है, उससे भी ज्ञान-परिणति का उपधात होता है अथवा स्वभाव से शीत, उष्ण, धूप आदि रूप पुद्गल-परिणाम का जब वेदन किया जाता है, तब उससे इन्द्रियों का उपधात (क्षति) होने से ज्ञानपरिणति का भी उपधात होता है, जिसके कारण जीव इन्द्रिय-गोचर ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जान पाता। यहीं तक ज्ञानावरणकर्म का सापेक्ष उदय बताया गया है।

इसके पश्चात् शास्त्रकार निररेक्ष उदय भी बताते हैं—ज्ञानावरणीय कर्म पुद्गलों के उदय से जीव अपने जानने योग्य (ज्ञातव्य) का ज्ञान नहीं कर पाता, जानने की इच्छा होने पर भी जानने में समर्थ नहीं होता अथवा पहले जान कर भी पश्चात् ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से नहीं जान पाता, अथवा ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से जीव का ज्ञान तिरोहित (लुप्त) हो जाता है। यहीं ज्ञानावरणीयकर्म का स्वरूप है।<sup>१</sup>

दर्शनावरणीयकर्म का नवविधि अनुभावः कारण, प्रकार और उदय—दर्शनावरणीयकर्म के अनुभाव के कारण वे ही बद्ध, स्पृष्ट आदि हैं, जो ज्ञानावरणीयकर्म के अनुभाव के लिए बताये हैं। वे अनुभाव नी प्रकार के हैं, जिनमें निद्रादि का स्वरूप दो गाथाओं में इस प्रकार बताया गया है—

सुह-पद्मिवोहा णिदा, णिदाणिदा य दुष्क्षपद्मिवोहा ।

पयला होइ ठियस्स उ, पयल-पयला य चकमतो ॥ १ ॥

थीणगिद्वी पुण अइसंकिलिहु-कम्माणुवेयणे होइ ।

महणिदा दिण-स्त्रिय-वाकार-पसाहणी पायं ॥ २ ॥

१. प्रज्ञानारूप प्रमेयबोधिती दीका भाग ५, पृ. १८५-१८६

अर्थात् जिस निद्रा से सखलतापूर्वक जागा जा सके, वह 'निद्रा' है। जो निद्रा बड़ी कठिनाई से भय हो, ऐसी गाढ़ी नींद को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं। बैठेबैठे आने वाली निद्रा 'प्रचला' कहलाती है तथा चलते-फिरते आने वाली निद्रा 'प्रचला-प्रचला' है। अत्यन्त संविलष्ट कर्मपरमाणुओं का वेदन होने पर आने वाली निद्रा स्त्यानगृद्धि या स्त्यानगृद्धि कहलाती है। इस महानिद्रा में जीव भानी शक्ति से अनेकमुण्डों अधिक शक्ति पाकर प्रायः दिन में सोने हुए असाधारण कार्य कर डालता है।

**चक्षुदर्शनावरण आदि का स्वरूप—चक्षुदर्शनावरण—नेत्र के द्वारा होने वाले दर्शन—सामान्य उपयोग का आवृत हो जाना। अचक्षुदर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य उपयोग का आवृत होना। अवधिदर्शनावरण अवधिदर्शन का आवृत हो जाना। केवल-दर्शनावरण—केवलदर्शन को उत्पन्न न होने देना।**

दर्शनावरणीयकर्मोदय का प्रभाव—ज्ञानावरणीयकर्म की तरह दर्शनावरणीयकर्म में भी स्वयं उदय को प्राप्त अथवा दूसरे के द्वारा उद्दीरित दर्शनावरणीयकर्म के उदय से इन्द्रियों के लब्धि और उपयोग का आवरण हो जाता है। पूर्ववत् दर्शन-परिणाम का उपघात होता है, जिसके कारण जीव प्रज्ञत्व—ऐतिहासिक वर्तन की भी नहीं देख पाता, इत्यादि दर्शनावरणीयकर्म के उदय से पूर्ववत् दर्शनगुण की विविध प्रकार से क्षति हो जाती है।<sup>१</sup>

सातावेदनीय और असातावेदनीयकर्म का अष्टविध अनुभाव : कारण, प्रकार और उदय—सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों प्रकार के वेदनीयकर्मों के आठ-आठ प्रकार के अनुभाव बताए गए हैं। इन अनुभावों के कारण तो वे ही ज्ञानावरणीयकर्म-सम्बन्धी अनुभाव के समान हैं।

सातावेदनीय के अष्टविध अनुभावों का स्वरूप—(१) मनोज्ञ वेणु, बीणा आदि के शब्दों की प्राप्ति, (२) मनोज्ञ रूपों की प्राप्ति, (३) मनोज्ञ इत्र, चन्दन, फूल आदि सुगन्धियों की प्राप्ति, (४) मनोज्ञ सुस्वादु रसों की प्राप्ति, (५) मनोज्ञ स्पशों की प्राप्ति, (६) मन में सुख का अनुभव, (७) वचन में सुखीपन, जिसका वचन सुनने सात्र से कर्ण और मन में आळाद उत्पन्न करने वाला हो और (८) काया का सुखीपन। सातावेदनीयकर्म के उदय से आठ प्रकार के अनुभाव होते हैं।

**परनिमित्तक सातावेदनीयकर्मोदय—**जिन माला, चन्दन आदि एक या अनेक पुद्गलों का आसेवन किया (वेदा) जाता है अथवा देश, काल, वय एवं ग्रन्थस्था के अनुरूप आहारपरिणतिरूप पुद्गल-परिणाम वेदा जाता है अथवा स्वभाव से पुद्गलों के शीत, उष्ण, आतप आदि की वेदना के प्रतोकार के लिए यथावसर अभीष्ट पुद्गल-परिणाम का सेवन किया (वेदा) जाता है, जिससे मन को समाधि—प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह परनिमित्तक सातावेदनीयकर्मों के उदय से सातावेदनीयकर्म का अनुभाव है। सातावेदनीयकर्म के फलस्वरूप साता-सुख का संवेदन (अनुभव) होता है। साता-वेदनीयकर्म के स्वतः उदय होने पर कभी-कभी मनोज्ञ शब्दादि (परनिमित्त) के बिना भी सुखसाता का संवेदन होता है। जैसे—तीर्थकर भगवान् का जन्म होने पर नारक जीव भी किंचित् काल पर्यन्त सुख का वेदन (अनुभव) करते हैं।

१. प्रजापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. १८९ से १९१

असातावेदनीयकर्म का अष्टविधि अनुभाव सातावेदनीय के अनुभाव (विषाक) के समान है परं यह अनुभाव सातावेदनीय से विपरीत है। विष, शस्त्र, कण्टक आदि पुद्गल या पुद्गलों का जब वेदन किया जाता है अथवा अपश्य या नीरस आहारादि पुद्गल-परिणाम का अथवा स्वभाव से यथाकाल होने वाले शीत, उष्ण, आतप आदिरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, तब मन की असमाधि होती है, शरीर को भी दुःखानुभव होता है तथा तदनुरूप वाणी से भी असाता के उद्गार निकलते हैं। ऐसा अनुभाव असातावेदनीय का है। असातावेदनीयकर्म के उदय से असाता-रूप (दुःखरूप) फल प्राप्त होता है। यह परतः असातावेदनीयोदय का प्रतिपादन है। किन्तु विना ही किसी परनिमित्त के असातावेदनीयकर्म-पुद्गलों के उदय से जो दुःखानुभव (दुःखवेदन) होता है, वह स्वतः असातावेदनीयोदय है।<sup>१</sup>

**मोहनीयकर्म का पंचविधि अनुभाव :** क्या, क्यों और कैसे ? - पूर्वोक्त प्रकार से जीव के द्वारा बढ़ आदि विशिष्ट मोहनीयकर्म का पांच प्रकार का अनुभाव है—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्ववेदनीय, (३) सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय, (४) कषायवेदनीय और (५) नोकषायवेदनीय। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

**सम्यक्त्ववेदनीय**—जो मोहनीयकर्म सम्यक्त्व-प्रकृति के रूप में वेदन करने योग्य होता है, उसे सम्यक्त्ववेदनीय कहते हैं, अर्थात्—जिसका वेदन होने पर प्रशम आदि परिणाम उत्पन्न होता है, वह सम्यक्त्ववेदनीय है। **मिथ्यात्ववेदनीय**—जो मोहनीयकर्म मिथ्यात्व के रूप में वेदन करने योग्य है, उसे मिथ्यात्ववेदनीय कहते हैं। अर्थात्—जिसका वेदन होने पर दृष्टि मिथ्या हो जाती है, अर्थात् अदेव आदि में देव आदि की बुद्धि उत्पन्न होती है, वह मिथ्यात्ववेदनीय है। **सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय**—जिसका वेदन होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिला-जुला परिणाम उत्पन्न होता है, वह सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीय है। **कषायवेदनीय**—जिसका वेदन कोशादि परिणामों का कारण होता है, वह कषायवेदनीय है। **नोकषायवेदनीय**—जिसका वेदन हास्य आदि का कारण हो, वह नोकषायवेदनीय है।

**परतः मोहनीय-कर्मोदय का प्रतिपादन**—जिस पुद्गल-विषय अथवा जिन बहुत से पुद्गल विषयों—का वेदन किया जाता है। अथवा जिस पुद्गल-परिणाम को, जो कर्म पुद्गल-विशेष को ग्रहण करने में समर्थ हो एवं देश-काल के अनुरूप आहार परिणामरूप हो, वेदन किया जाता है। जैसे कि ब्राह्मी आदि के आहार-परिणाम से ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि आहार के परिणाम-विशेष से भी कभी-कभी कर्मपुद्गलों में विशेषता आ जाती है। कहा भी है—

उवय-कुवय-खाओवसमोवसमा विय जं च कम्मुणो भणिथा ।

दृश्यं खेतं कालं भावं च भवं च संपत्प ॥१॥

**अथात्—**कर्मों के जो उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपर्शम कहे गये हैं, वे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव का निमित्त पाकर होते हैं, अथवा स्वभाव से ही जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, जैसे—आकाश में बादलों आदि के विकार को देखकर मनुष्यों को ऐसा वेदन

१. प्रज्ञापनासूक्त प्रमेयबोधिनी दीका भा. ५, पृ. २०४-२०५

(विवेक) उत्पन्न होता है कि मनुष्यों को आयु शरद्भूतु के मेषों के समान है, सम्पत्ति पुणित वृक्ष के सार के समान है और विषयोपभोग स्वप्न में इष्ट वस्तुओं के उपभोग के समान है। वस्तुतः इस जगत् में जो भी रमणीय प्रतीत होता है, वह केवल कल्पनामात्र ही है अथवा प्रशम आदि के कारणभूत जिस किसी बाह्य पदार्थ के प्रभाव से सम्यक्त्वमोहनीय आदि मोहनीयकर्म का वेदन किया जाता है, यह परतः मोहनीयकर्मदिव्य का प्रतिपादन है।

**स्वतः मोहनीयकर्मदिव्य-प्रतिपादन** जो सम्यक्त्ववेदनीय आदि कर्मपुद्गलों के उदय से मोहनीयकर्म का वेदन (प्रशमादिरूपफल का वेदन) किया जाता है, वह स्वतः मोहनीय कर्मदिव्य है।<sup>१</sup>

**आयुकर्म का अनुभाव** : प्रकार, स्वरूप, कारण — आयुकर्म का अनुभाव चार प्रकार से होता है—नारकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु।

**परतः आयुकर्म का उदय** — आयु का अपवर्तन (लग्न) करने में समर्थ जिस या जिन शस्त्र आदि पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है अथवा विष एवं अश आदि परिणामरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा स्वभाव से आयु का अपवर्तन करने वाले शीत-उष्णादिरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, उससे भूज्यमान आयु का अपवर्तन होता है। यह है—आयुकर्म के परतः उदय का निरूपण।

**स्वतः आयुकर्म का उदय** — नारकायुकर्म आदि के पुद्गलों के उदय से जो नारकायु आदि कर्म का वेदन किया जाता है, वह स्वतः आयुकर्म का उदय है।<sup>२</sup>

**नामकर्म के अनुभावों का निरूपण**—नामकर्म के मुख्यतया दो भेद हैं शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म। शुभनामकर्म का इष्ट शब्द आदि १४ प्रकार का अनुभाव (विपाक) कहा है। उनका स्वरूप इस प्रकार है— अभिलषित (मनचाहा)। नामकर्म का प्रकरण होने से यहाँ अपने ही शब्द आदि समझने चाहिए। अपना ही अभीष्ट शब्द (वचन) इष्ट शब्द है। इसी तरह इष्ट रूप, गन्ध, रस और स्पर्श समझना चाहिए। इष्ट गति के दो अर्थ हैं—(१) देवगति या मनुष्यगति अथवा (२) हाथी आदि जैसी उत्तम चाल। इष्ट स्थिति का अर्थ है इष्ट और संहज सिंहासन आदि पर आरोहण। इष्ट लावण्य अर्थात्—अभीष्ट कान्ति-विशेष अथवा शारीरिक सौन्दर्य। इष्ट यश कीति—विशिष्ट पराक्रम प्रदर्शित करने से होने वाली ख्याति को यश कहते हैं और दान, पुण्य आदि से होने वाली ख्याति को कीर्ति कहते हैं। उत्थानादि छह का विशेषार्थ—शारीर-सम्बन्धी चेष्टा को उत्थान, अमण आदि को कर्म, शारीरिक शक्ति को बल, आत्मा से उत्पन्न होने वाले सामर्थ्य को वीर्य, आत्मजन्य स्वाभिमान-विशेष को पुरुषकार और अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने वाले पुरुषार्थ को पराक्रम कहते हैं। इष्टस्वर—वीणा आदि के समान बल्लभ स्वर। कान्तस्वर—कोकिला के स्वर के समान कमनीय स्वर। इष्ट सिद्धि आदि सम्बन्धी स्वर के समान जो स्वर बार-बार अभिलषणीय हो, वह प्रियस्वर; तथा मनोवांछित लाभ आदि के तुल्य जो स्वर स्वाश्रय में प्रीति उत्पन्न कराए, वह मनोज्ञस्वर कहलाता है।

**शुभनामकर्म के परतः एवं स्वतः उदय का निरूपण**—वीणा, वेणु, वर्ण, गन्ध, ताम्बूल, पट्टाम्बर, पालखो, सिंहासन आदि शुभ पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, इन वस्तुओं

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयवीधिनी टीका, भा. ५ पृ. २०३ से २१० तक

२. वही, भा. ५, पृ. २११

(पुद्गलों) के निमित्त से शब्द आदि की अभीष्टता सूचित की गई है। अथवा जिस ब्राह्मी औषधि आदि आहार के परिणामनरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है। अथवा स्वभाव से शुभ मेव आदि की छटा या घटाटोप को देखकर शुभ पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है। जैसे— वषकालीन मेघों की घटा देखकर युवतियाँ इष्टस्वर में जान करने में प्रवृत्त होती हैं। उसके प्रभाव से शुभनामकर्म का वेदन किया जाता है। अर्थात् शुभनामकर्म के फलस्वरूप इष्टस्वरता आदि का अनुभव होता है। यह परनिमित्तक शुभनामकर्म का उदय है। जब शुभनामकर्म के पुद्गलों के उदय से इष्ट शब्दादि शुभनामकर्म का वेदन होता है, तब स्वतः नामकर्म का उदय समझना चाहिए।

**अशुभनामकर्म का अनुभाव—जीव के द्वारा बहु, स्पृष्ट आदि विशेषणों से विशिष्ट दुःख (अशुभ) नामकर्म का अनुभाव भी पूर्ववत् १४ प्रकार का है, किन्तु वह शुभ से विपरीत है। जैसे— अनिष्ट शब्द इत्यादि।**

गधा, ऊंट, कुत्ता आदि के शब्दादि अशुभ पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, क्योंकि उनके सम्बन्ध से अनिष्ट शब्दादि उत्पन्न होते हैं। यह सब पूर्वोक्त शुभनामकर्म से विपरीतरूप में समझ लेना चाहिए। अथवा विष आदि आहार-परिणामरूप जिस पुद्गल-परिणाम का या स्वभावतः वज्रपात (बिजली गिरना) आदिरूप जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है तथा उसके प्रभाव से अशुभनामकर्म के फलस्वरूप अनिष्टस्वरता आदि का अनुभव होता है। यह परतः अशुभनामकर्मोदय का अनुभाव है। जहाँ नामकर्म के अशुभकर्मपुद्गलों से अनिष्ट शब्दादि का वेदन होता हो, वहाँ स्वतः अशुभनामकर्मोदय समझना चाहिए।<sup>१</sup>

**गोत्रकर्म का अनुभाव :** भेद, प्रकार, कारण—गोत्रकर्म के भी मुख्यतया दो भेद हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उच्च जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य की विशिष्टता का अनुभव (वेदन) उच्चगोत्रानुभाव है तथा नीच जाति आदि की विशिष्टता का अनुभव नीचगोत्रानुभाव है।

**उच्चगोत्रानुभाव :** कैसे श्रीर किन कारणों से ?—उस-उस द्रव्य के संयोग से या राजा आदि विशिष्ट पुरुष के संयोग से नीच जाति में जन्मा हुआ पुरुष भी जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न के समान लोकप्रिय हो जाता है। यह जाति और कुल की विशिष्टता हुई। बलविशेषता भी मल्ल आदि किसी विशिष्ट पुरुष के संयोग से होती है। जैसे—लकड़ी धुमाने से मल्लों में शारीरिक बल पैदा होता है, यह बल की विशेषता है। विशेष प्रकार के वस्त्रों और अलंकारों से रूप की विशेषता उत्पन्न होती है। पर्वत की चोटी पर खड़े होकर आतापना आदि लेने वाले में तप की विशेषता उत्पन्न होती है। रमणीय भूभाग में स्वाध्याय करने वाले में श्रुत की विशेषता उत्पन्न होती है। बहुमूल्य उत्तम रत्न आदि के संयोग से लाभ की विशेषता उत्पन्न होती है। वन, स्वर्ण आदि के सम्बन्ध से ऐश्वर्य की विशेषता उत्पन्न होती है। इस प्रकार ब्राह्म द्रव्यरूप शुभ पुद्गल या पुद्गलों का जो वेदन किया जाता है, या दिव्य फल आदि के आहार-परिणामरूप जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, अथवा स्वभाव से जिन पुद्गलों का परिणाम अकस्मात् जलधारा के आगमन आदि के रूप में वेदा जाता है, यही है उच्चगोत्र कर्मफल का वेदन। ये परतः उच्चगोत्रनामकर्मोदय के कारण हैं। स्वतः उच्चगोत्रकर्मोदय में तो उच्चगोत्र-नामकर्म के पुद्गलों का उदय ही कारण है।

१. प्रजापतिसूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. २१३ से २१७ तक

**नीचगोत्रानुभाव :** प्रकार और कारण—पूर्वेक्त नीचगोत्रानुभाव भी ए प्रकार का है और उच्चगोत्र के फल से नीचगोत्र का फल एकदम विपरीत है, यथा—जाति-विहीनता आदि।

**जाति-कुल-विहीनता—अधम कर्म या अधम पुरुष के संसर्गरूप-पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, जैसे कि अधर्मकर्मदशात् उत्तम कुल और जाति वाला व्यक्ति अधम आजीविका या चाण्डालकन्या का सेवन करता है, तब वह चाण्डाल के समान ही लोक-निन्दनीय होता है। यह जाति-कुल-विहीनता है। सुखशय्या आदि का योग न होने से बलहीनता होती है। दूषित अव, खराब वस्त्र आदि के योग से रूपहीनता होती है। दुष्ट जनों के सम्पर्क से तपोहीनता उत्पन्न होती है। साइवाभास आदि के सम्पर्क से शुतविहीनता होती है। देश-काल आदि के प्रतिकूल कुश्य (गलत खरीद) आदि से लाभविहीनता होती है। खराब घर एवं कुलटा स्त्री आदि के सम्पर्क से ऐश्वर्यहीनता होती है। यथा बैंगन आदि आहारपरिणमनरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, क्योंकि बैंगन खाने से खुजली होती है, और उससे रूपविहीनता उत्पन्न होती है। अथवा स्वभाव से अशुभपुद्गल-परिणाम का जो वेदन किया जाता है, जैसे जलघारा के आगमन-सम्बन्धी विसंवाद, उसके प्रभाव से भी नीचगोत्रकर्म के फलस्वरूप जातिविहीनता आदि का वेदन होता है। यह परतः नीचगोत्रकर्मोदय का निरूपण हुआ। स्वतः नीचगोत्रोदय में नीचगोत्रकर्म के पुद्गलों का उदय कारणरूप होता है। उससे जातिविहीनता आदि का अनुभव किया जाता है।<sup>१</sup>**

**अन्तरायकर्म का पंचविष्ट अनुभाव : स्वरूप और कारण—दान देने में विघ्न आ जाना दानान्तराय है, लाभ में बाधाएँ आना लाभान्तराय है, इसी प्रकार भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न होना भोगान्तराय आदि है।**

विशिष्ट प्रकार के रत्नादि पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, यावत् विशिष्ट रत्नादि पुद्गलों के सम्बन्ध से उस विषय में ही दानान्तरायकर्म का उदय होता है। सेंध आदि लगाने के उपकरण आदि के सम्बन्ध से लाभान्तराय कर्मोदय होता है। विशेष प्रकार के आहार के या अभोज्य अर्थ के सम्बन्ध से लोभ के कारण भोगान्तरायकर्म का उदय होता है। इसी प्रकार उपभोगान्तराय कर्म का उदय भी समझ लेना चाहिए। लकड़ी, शस्त्र आदि की चोट से वीर्यन्तराय का उदय होता है। अथवा जिस पुद्गलपरिणाम का—विशिष्ट आहार-श्रौषध का वेदन किया जाता है, उससे भी, यानि विशिष्ट प्रकार के आहार और श्रौषध आदि के परिणाम से वीर्यन्तरायकर्म का उदय होता है। अथवा स्वभाव से विचित्र शीत आदिरूप पुद्गलों के परिणाम के वेदन से भी दानान्तरायादि कर्मों का उदय होता है। जैसे—कोई व्यक्ति वस्त्र आदि का दान देना चाहता है, भगर गर्भी, सर्दी आदि का आवागमन देखकर दान नहीं कर पाता,—यदाता बन जाता है। यह हुए परतः दानान्तरायादि कर्मोदय का प्रतिपादन। स्वतः दानान्तरायादि कर्मोदय में तो अन्तरायकर्म के पुद्गलों के उदय से दानान्तरायादि अन्तरायकर्म के फल का वेदन (अनुभव) होता है।<sup>२</sup>

## ॥ तेईसवीं कर्म-प्रहृतिपद : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

१. प्रशापनासूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. २१८ से २२२ तक

२. वही, भा. ५, पृ. २२३ से २२४

## ब्रीओ उद्देशओ : द्वितीय उद्देशक

मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों के भेद-भवेद की प्रकृतणा

१६८७. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अटु कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—ज्ञानावरणिज्जे जाव अंतराइयं ।

[१६८७ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही हैं ?

[१६८७ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ शाठ कही गई हैं, यथा—ज्ञानावरणीय यावत् भन्तराय ।

१६८८. ज्ञानावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णते । तं जहा—आभिनिकोमुयणाणावरणिज्जे जाव केवलज्ञानावरणिज्जे ।

[१६८८ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६८८ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—आभिनिकोधिकज्ञानावरणीय यावत् केवलज्ञानावरणीय ।

१६८९. [१] वरिसज्ञावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! त्रुविहे पण्णते । तं जहा—णिद्वापंचए म दंसणचउक्कए य ।

[१६८९-१ प्र.] भगवन् ! दर्शनावरणीयकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६८९-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा है, यथा—निद्रा-पंचक और दर्शनचतुष्क ।

[२] णिद्वापंचए णं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णते । तं जहा—णिद्रा जाव थीणगिद्वी ।

[१६८९-२ प्र.] भगवन् ! निद्रा-पंचक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६८९-२ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा है, यथा—निद्रा यावत् स्त्यानगृद्धि (स्त्यानर्द्धि) ।

[३] दंसणचउक्कए णं भंते ! ० पुरुषा ।

गोयमा ! चउधिविहे पण्णते । तं जहा—चक्षुदंसणावरणिज्जे जाव केवलदंसणावरणिज्जे ।

[१६९०-३ प्र.] भगवन् ! दर्शनचतुष्क कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-३ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है, यथा—चक्षुदर्शनावरण यावत् केवलदर्शनावरण ।

१६९०. [१] वेयणिक्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! त्रुविहे पण्णते । तं जहा—सायावेयणिक्जे य श्रसायावेयणिक्जे य ।

[१६९०-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—सातावेदनीय और असातावेदनीय ।

[२] सायावेयणिज्जे णं भंते ! कस्मे० पुच्छा ।

गोयमा ! अद्विहे पण्णते । तं जहा—मणुष्णा सद्वा जाव कायसुहया (सु. १६८१ [१]) ।

[१६९०-२ प्र.] भगवन् ! सातावेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-२ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है, यथा—(सु. १६८१-१ के अनुसार) मनोज शब्द यावत् कायसुखता ।

[३] असायावेदणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! अद्विहे पद्मगत्ते । तं जहा—अमगुण्णा सद्वा जाव कापदुहया ।

[१६९०-३ प्र.] भगवन् ! असातावेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-३ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है ।

१६९१. [१] मोहणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णते । तं जहा—दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य ।

[१६९१-१ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९१-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ।

[२] दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णते । तं जहा—सम्भत्तवेयणिज्जे १ मिच्छत्तवेयणिज्जे २ सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे ३ य ।

[१६९१-२ प्र.] भगवन् ! दर्शन-मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९१-२ उ.] गौतम ! दर्शन-मोहनीयकर्म तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्ववेदनीय और (३) सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय ।

[३] चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णते । तं जहा—कसायवेयणिज्जे य जोकसायवेयणिज्जे य ।

[१६९१-३ प्र.] भगवन् ! चारित्रमोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९१-३ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय ।

[४] कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! सोलसविहे पण्णते । तं जहा—अणंताणुबंधी कोहे १ अणंताणुबंधी माणे २ अणंताणुबंधी माया ३ अणंताणुबंधी लोमे ४ अपच्चक्षाणे कोहे ५ एवं माणे ६ माया ७ लोमे य,

पच्चक्षणावरणे कोहे ९ एवं माणे १० माया ११ लोभे १२, संजलणे कोहे १३ एवं माणे १४ माया १५ लोभे १६ ।

[ १६९१-४ प्र.] भगवन् ! कषायवेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९१-४ उ.] गौतम ! वह सोलह प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (२) अनन्तानुबन्धी मान, (३) अनन्तानुबन्धी माया, (४) अनन्तानुबन्धी लोभ; (५-६-७-८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; (९-१०-११-१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ, इसी प्रकार (१३-१४-१५-१६) संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ ।

[ ५ ] नोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! णवविहे पण्णते । तं जहा—इत्यवेष १ पुरिसवेष २ णपुंसगवेदे ३ हासे ४ रती ५ अरती ६ भये ७ सोये ८ दुगुंछा ९ ।

[ १६९१-५ प्र.] भगवन् ! नोकषाय-वेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९१-५ उ.] गौतम ! वह नौ प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) स्त्रीवेद, (२) पुरुषवेद, (३) नपुंसकवेद, (४) हास्य, (५) रति, (६) अरति, (७) भय, (८) शोक और (९) जुगुप्ता ।

१६९२. आउए णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! चउविहे पण्णते । तं जहा णेरइयाउए जाव वेवाउए ।

[ १६९२ प्र.] भगवन् ! आयुकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[ १६९२ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है, यथा—नारकायु याक्त देवायु ।

१६९३. णामे णं भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! बायालीसइविहे पण्णते । तं जहा—गतिणामे १ जाइणामे २ शरीरणामे ३ सरीरगोक्षणामे ४ सरीरबन्धणामे ५ सरीरसंघायणामे ६ संघयणामे ७ संठायणामे ८ वण्णणामे ९ पंषणामे १० रसणामे ११ फालणामे १२ अगुरुलहुयणामे १३ उवधायणामे १४ पराघायणामे १५ आणुपुर्वीणामे १६ उस्सासणामे १७ आयवणामे १८ उज्जोयणामे १९ विहायगतिणामे २० तसणामे २१ थावरणामे २२ सुहुमणामे २३ बादरणामे २४ पञ्जत्तणामे २५ अपञ्जत्तणामे २६ साहारण-शरीरणामे २७ पत्तेयसरीरणामे २८ धिरणामे २९ अधिरणामे ३० सुभणामे ३१ असुभणामे ३२ सुभणामे ३३ दूभणामे ३४ दूसरणामे ३५ दूसरणामे ३६ आदेउज्जणामे ३७ अणादेउज्जणामे ३८ जसोकितिणामे ३९ अजसोकितिणामे ४० णिमाणणामे ४१ तित्वगरणामे ४२ ।

[ १६९३ प्र.] भगवन् ! नामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९३ उ.] गौतम ! वह ब्यालीस प्रकार का कहा है, यथा—(१) गतिनाम, (२) जाति-नाम, (३) शरीरनाम, (४) शरीरांगोपांगनाम (५) शरीरबन्धननाम, (६) शरीरसंघातनाम, (७) संहनननाम, (८) संस्थाननाम, (९) वर्णनाम, (१०) गन्धनाम, (११) रसनाम, (१२) स्पर्श-नाम, (१३) अगुरुलचुनाम, (१४) उपधातनाम, (१५) पराघातनाम, (१६) आनुपूर्वीनाम, (१७) उच्छ्वासनाम, (१८) आतपनाम, (१९) उद्बोतनाम, (२०) विहावोगतिनाम, (२१) असनाम

(२२) स्थावरनाम, (२३) सूक्ष्मनाम, (२४) बादरनाम, (२५) पर्याप्तिनाम, (२६) अपर्याप्तिनाम, (२७) साधारणशरीरनाम, (२८) प्रत्येकशरीरनाम, (२९) स्थिरनाम, (३०) अस्थिरनाम, (३१) शुभनाम, (३२) अशुभनाम, (३३) सुभगनाम, (३४) दुर्भगनाम, (३५) सुस्वरनाम, (३६) दुःस्वरनाम, (३७) आदेयनाम, (३८) अग्रादेयनाम, (३९) गति कीर्तिनाम, (४०) अयशःकीर्तिनाम, (४१) निर्माणनाम और (४२) तीर्थकरनाम।

१६९४. [ १ ] गतिनामे एं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! चउविहे पण्णते ! तं जहा—गिरयगतिनामे १ तिरियगतिनामे २ मणुष्यगतिनामे ३ देवगतिनामे ४ ।

[ १६९४-१ प्र.] भगवन् ! गतिनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-१ उ.] गीतम ! वह आर प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) नरकगतिनाम, (२) तिर्यञ्चगतिनाम, (३) मनुष्यगतिनाम और (४) देवगतिनाम ।

[ २ ] जाइणामे एं भंते ! कम्मे० पुच्छा ।

गोयमा ! पंचविहे पण्णते ! तं जहा—एगिदियजाइणामे जाव पंचेदियजाइणामे ।

[ १६९४-२ प्र.] भगवन् ! जातिनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-२ उ.] गीतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—एकेन्द्रियजातिनाम, यावत् पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

[ ३ ] सरीरणामे एं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णते ! तं जहा—श्रोरालियसरीरणामे जाव कम्मगसरीरणामे ।

[ १६९४-३ प्र.] भगवन् ! शरीरतामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[ १६९४-३ उ.] गीतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—श्रीदारिकशरीरताम यावत् कार्मणशरीरनाम ।

[ ४ ] सरीरणोबंगणामे एं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णते ! तं जहा—श्रोरालियसरीरणोबंगणामे १ बेउवियसरीरणोबंगणामे २ आहारगसरीरणोबंगणामे ३ ।

[ १६९४-४ प्र.] भगवन् ! शरीरांगोपांगनाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-४ उ.] गीतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) श्रीदारिकशरीरांगोपांग, (२) वैक्षियशरीरांगोपांग और (३) आहारकशरीरांगोपांग नाम ।

[ ५ ] सरीरबंधणणामे एं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णते ! तं जहा—श्रोरालियसरीरबंधणणामे जाव कम्मगसरीरबंधणणामे ।

[ १६९४-५ प्र.] भगवन् ! शरीरबन्धननाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-५ उ.] गीतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—श्रीदारिकशरीरबन्धननाम, यावत् कार्मणशरीरबन्धननाम ।

[ ६ ] सरीरसंघायणमे णं भंते ! कतिविहे पण्णसे ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णते । तं जहा—ओरान्नियसरीरसंघातणमे जाव कम्मगसरीर-  
संघायणमे ।

[ १६९४-६ प्र. ] भगवन् ! शरीरसंघातनाम कितने प्रकार का कहा है ?

[ १६९४-६ उ. ] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है यथा—ओदारिकशरीरसंघात-  
नाम यावत् कार्मणशरीरसंघातनाम ।

[ ७ ] संघयणमे णं भंते ! कतिविहे पण्णसे ?

गोयमा ! छविहे पण्णते । तं जहा—बहुरोसभणारायसंघयणमे १ उसभणारायसंघयणमे  
२ यारायसंघयणमे ३ अद्वणारायसंघयणमे ४ कीलियासंघयणमे ५ लेवटुसंघयणमे ६ ।

[ १६९४-७ प्र. ] भगवन् ! संहनननाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-७ उ. ] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा है, यथा—( १ ) वज्रकृषभनाराचसंहनन-  
नाम, ( २ ) कृषभनाराचसंहनननाम, ( ३ ) नाराचसंहनननाम, ( ४ ) अर्द्धनाराचसंहनननाम, ( ५ )  
कीलिकासंहनननाम और ( ६ ) सेवार्तसंहनननामकर्म ।

[ ८ ] संठाणणमे णं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! छविहे पण्णसे । तं जहा—समचउरंसंसंठाणणमे १ णग्नोहपरिमङ्डलसंठाणणमे २  
सातिसंठाणणमे ३ वामणसंठाणणमे ४ खुज्जसंठाणणमे ५ हुंडसंठाणणमे ६ ।

[ १६९४-८ प्र. ] भगवन् संस्थाननाम कितने प्रकार का कहा है ?

[ १६९४-८ उ. ] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा गया है, यथा—( १ ) समचतुरस्संस्थान-  
नाम, ( २ ) न्यग्नोधपरिमङ्डलसंस्थाननाम, ( ३ ) सादिसंस्थाननाम, ( ४ ) वामनसंस्थाननाम, ( ५ ) कुञ्ज-  
संस्थाननाम और ( ६ ) हुण्डकसंस्थाननामकर्म ।

[ ९ ] बण्णणमे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णसे । तं जहा कालबण्णणमे जाव सुविकलबण्णणमे ।

[ १६९४-९ प्र. ] भगवन् ! वर्णनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[ १६९४-९ उ. ] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—कालवर्णनाम यावत्  
शुक्लवर्णनाम ।

[ १० ] गंधणमे णं भंते ! कम्मे० पुच्छा ।

गोयमा ! द्विविहे पण्णते । तं जहा—सुरभिगंधणमे १ दुरभिगंधणमे २ ।

[ १६९४-१० प्र. ] भगवन् ! गन्धनामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[ १६९४-१० उ. ] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—सुरभिगन्धनाम और  
दुरभिगन्धनामकर्म ।

[ ११ ] रसणमे ण० पुच्छा ।

गोयमा ! पंचविहे पण्णते । तं जहा तित्तरसणमे जाव महुररसणमे ।

[१६९४-११ प्र.] भगवन् ! रसनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-११ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—तिक्तरसनाम यावत् मधुररसनामकर्म ।

[१२] फासणामे णं० पुच्छा ।

गोयमा ! अद्विहे पण्णते । तं जहा—कषखलफासणामे जाव लुक्खफासणामे ।

[१६९४-१२ प्र.] भगवन् ! स्पर्शनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-१२ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया, है, यथा—कर्कशस्पर्शनाम यावत् रुक्षस्पर्शनामकर्म ।

[१३] डाढुवत्ताक्षण्यारे दग्गारे पण्णते ।

[१६९४-१३] श्रगुरुलधुनाम एक प्रकार का कहा गया है ।

[१४] उद्धायणामे एगागारे पण्णते ।

[१६९४-१४] उपद्वातनाम एक प्रकार का कहा है ।

[१५] पराधायणामे एगागारे पण्णते ।

[१६९४-१५] पराधातनाम एक प्रकार का कहा है ।

[१६] आणुपुष्टिविणामे चउविहे पण्णते । तं जहा—णेरह्याणुपुष्टिविणाम जाव देवाणु पुष्टिविणाम ।

[१६९४-१६] आनुपूर्वीनामकर्म चार प्रकार का कहा गया है, यथा—नेरयिकानुपूर्वीनाम यावत् देवानुपूर्वीनामकर्म ।

[१७] उस्सासणामे एगागारे पण्णते ।

[१६९४-१७] उच्चवासनाम एक प्रकार का कहा गया है ।

[१८] सेसाणि सद्वाणि एगागाराहं पण्णत्ताइ जाव तित्थगरणामे । जवर विहायगतिनामे डुविहे पण्णते । तं जहा—प्रसत्थविहायगतिनामे य अप्रसत्थविहायगतिनामे य ।

[१६९४-१८] शेष सब तोर्चकरनामकर्म तक एक-एक प्रकार के कहे हैं । विशेष यह है कि विहायोगतिनाम दो प्रकार का कहा है, यथा—प्रशस्तविहायोगतिनाम और अप्रशस्तविहायोगतिनाम ।

१६९५- [१] गोए ण भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णते । तं जहा—उच्चगोए य नीचगोए य ।

[१६९५-१ प्र.] भगवन् ! गोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९५-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—उच्चगोत्र और नीचगोत्र ।

[२] उच्चगोए ण भंते ! कस्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! अद्विहे पण्णते । तं जहा—आइविस्तिद्या जाव इस्सरियविस्तिद्या ।

[१६९५-२ प्र.] भगवन् ! उच्चगोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९५-२ उ.] गीतम् ! वह आठ प्रकार का कहा गया है, यथा—जातिविशिष्टता यावत् ऐश्वर्यविशिष्टता ।

[३] एवं णीयागोए वि । णवरं जातिविहीणया जाव इस्सरियविहीणया ।

[१६९५-३] इसी प्रकार तीव्रगोत्र भी आठ प्रकार का है। किन्तु यह उच्चगोत्र से विपरीत है, यथा—जातिविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता ।

१६९६. अंतराइए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! पञ्चविहे पण्णते । जहा—दाणंतराइए जाव वीरियंतराइए ।

[१६९६ प्र.] भगवन् ! अंतरायकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९६ उ.] गीतम् ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—दानान्तराय यावत् वीर्यान्तरायकर्म ।

**विवेचन**—उत्तरकर्मप्रकृतियाँ—प्रथम उद्देशक में ज्ञानावरणीय आदि द्व मूल कर्मप्रकृतियों के अनुभाव का वर्णन करने के पश्चात् द्वितीय उद्देशक में सर्वप्रथम (सू. १६७६ से १६९६ तक में) मूल कर्मप्रकृतियों के अनुसार उत्तरकर्मप्रकृतियों के भेदों का निरूपण किया गया है।<sup>१</sup>

उत्तरकर्मप्रकृतियों का स्वरूप—(१) ज्ञानावरणीयकर्म के पांच उत्तरभेद हैं। आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण—जो कर्म आभिनिबोधिक ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान को आवृत करता है, उसे आभिनिबोधिक ज्ञानावरण कहते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि के विषय में समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरणीयकर्म—पदार्थ के सामान्य धर्म को—सत्ता के प्रतिभास को दर्शन कहते हैं। दर्शन को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। दर्शनावरण के दो भेद—निद्रापंचक और दर्शनचतुष्क हैं। निद्रापंचक के पांच भेदों का स्वरूप प्रथम उद्देशक में कहा जा चुका है। दर्शनचतुष्क चार प्रकार का है—चक्षुदर्शनावरण—चक्षु के द्वारा वस्तु के सामान्यधर्म के ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है। अचक्षुदर्शनावरण—चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियों और मन से होने वाले सामान्यधर्म के प्रतिभास को रोकने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं। अबधिदर्शनावरण—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही द्रव्य के सामान्यधर्म के होने वाले बोध को रोकने वाले कर्म को अबधिदर्शनावरण कहते हैं। केवलदर्शनावरण—सम्पूर्ण द्रव्यों के होने वाले सामान्यधर्म के अवबोध को आवृत करने वाले को केवलदर्शनावरण कहते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निद्रापंचक प्राप्त दर्शनशक्ति का उपधातक है, जबकि दर्शनचतुष्क मूल से ही दर्शनलब्धि का घातक होता है।<sup>२</sup>

१. पण्णवणासुतं भा. १ (मूलपाठ-ठिप्पणयुक्त), पृ. ३६७ से ३७९ तक

२. (क) पण्णवणासुतं भा. १ (मू. पा. डि.), पृ. ३६८

(ख) प्रजापिना, (प्रमेयत्रोधिनी टीका) भाग ५, पृ. २४१-२४२

(ग) कर्मग्रन्थ भा. १ (महावरकेसरीच्छालक्षणी) पृ. ५९ से ६१ तक

(३) वेदनीयकर्म—जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन—वेदन कराए, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। वेदनीयकर्म से आत्मा को जो सुख-दुःख का वेदन होता है, वह इन्द्रियजन्य सुख-दुःख अनुभव है। आत्मा को जो स्वाभाविक सुखानुभूति होती है वह कर्मादय से नहीं होती। इसका स्वभाव तलवार की शहद-लगी धार को लाटने के समान है। इसके मुख्य दो प्रकार हैं—(१) सातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रियविषय-सम्बन्धी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीयकर्म कहते हैं। (२) असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रियविषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव हो, उसे असातावेदनीय कहते हैं। सातावेदनीय के मनोज्ञ शब्द आदि आठ भेद हैं और इसके विपरीत असातावेदनीय के भी अमनोज्ञ शब्द आदि आठ भेद हैं। इनका अर्थ पहले लिखा जा चुका है।<sup>१</sup>

(४) मोहनीयकर्म—जिस प्रकार भव के तथे में चूर मनुष्य अपने हिताहित का भान भूल जाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव में अपने वास्तविक स्वरूप एवं हिताहित को पहचानने और परखने को बुद्धि लुप्त हो जाती है, कदाचित् हिताहित को परखने की बुद्धि भी आ जाए तो भी तदनुसार आचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो पाता। उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। इसके मुख्यतः दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय—जो पदार्थ जैसा है, उसे यथार्थरूप में बैसा ही समझना, तत्त्वार्थ पर अद्वान करना दर्शन कहलाता है, आत्मा के इस निजी दर्शनगुण का घात (आचृत) करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं। चारित्रमोहनीय—आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति अथवा उसमें रमणता करना चारित्र है अथवा साक्षात्योग से निवृत्ति तथा निरवद्ययोग में प्रवृत्तिरूप आत्मा का परिणाम चारित्र है। आत्मा के इस चारित्रगुण को घात करने या उत्पन्न न होने देने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

दर्शनमोहनीयकर्म के तीन भेद हैं—सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय। इन्हें क्रमशः शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्धशुद्ध कहा गया है। जो कर्म शुद्ध होने से तत्त्वरूचिरूप सम्यक्त्व में बाधक तो न हो, किन्तु आत्मस्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होने देता, जिससे सूक्ष्म पदार्थों का स्वरूप विचारने में शंका उत्पन्न हो, सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती हो, चल, मल, अगाढ़ोष उत्पन्न हो जाते हों, वह सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय) है। जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रूचि ही न हो, अर्थात्—तत्त्वार्थ के अशद्वान के रूप में वेदा जाए उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को तत्त्व (यथार्थ) के प्रति या जिन प्रणीत तत्त्व में रूचि या अरुचि अथवा अद्वा या अशद्वा न होकर मिश्र स्थिति रहे, उसे सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) या मिश्रमोहनीय कहते हैं।

(५) चारित्रमोहनीयकर्म : भेद और स्वरूप—चारित्रमोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद हैं—कषाय-वेदनीय (मोहनीय) और नोकषायवेदनीय (मोहनीय)। कषायवेदनीय—जो कर्म क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में वेदा जाता हो, उसे कषायवेदनीय कहते हैं। कषाय का लक्षण विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रकार कहा गया है—जो आत्मा के गुणों को कषे—नष्ट करे अथवा कष यानी जन्म-मरणरूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं। कषाय के क्रोध, मान,

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग १, (मरुघरकेसरीव्याख्या), पृ. ६५-६६

(ख) प्रजापति (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. २४२

माया और लोभ, ये चार भेद हैं । क्रोध—समभाव को भूल कर आकृष्ण से भर जाना, दूसरे पर रोष करना । मान—गर्व, अभिमान या भूठा आत्मप्रदर्शन । माया—कपटभाव अथर्ति—विचार और प्रबृत्ति में एकरूपता का अभाव । लोभ—ममता के परिणाम । इसी कषायचतुष्टय के तीव्रतम्, तीव्रतर, तीव्र और मन्द स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो सकते हैं । वे क्रमशः अनन्तानुबन्धी (तीव्रतमस्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतरस्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तांत्रस्थिति) तथा संज्वलन (मन्दस्थिति) हैं । इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

**अनन्तानुबन्धी**—जो जीव के सम्यक्त्व आदि गुणों का घात करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण कराए, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं ।

**अप्रत्याख्यानावरण**—जो कषाय आत्मा के देशविरति चारित्र (आवकपन) का घात करे अर्थात् जिसके उदय से देशविरति—आंशिकत्यागरूप प्रत्याख्यान न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

**प्रत्याख्यानावरण**—जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमणधर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

**संज्वलन**—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परीष्ठ ही और उपसर्गों के द्वारा श्रमणधर्म के पालन करने को प्रभावित करे वह संज्वलन कषाय है ।

इन चारों के साथ क्रोधादि चार कषायों को जोड़ने से कषायमोहनीय के १६ भेद हो जाते हैं ।

**अनन्तानुबन्धी क्रोध**—पर्वत के फटने से हुई दरार के समान जो क्रोध उपाय करने पर भी शान्त न हो । **अप्रत्याख्यानावरण क्रोध**—सूखी मिट्टी में आई हुई दरार जैसे पानी के संयोग से फिर भर जाती है, वैसे ही जो क्रोध कुछ परिश्रम और उपाय से शान्त हो जाता हो । **प्रत्याख्यानावरण क्रोध**—धूल (रेत) पर खींची हुई रेखा जैसे हवा चलने पर कुछ समय में भर जाती है, वैसे ही जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो जाता है । **संज्वलन क्रोध**—पानी पर खींची हुई लकीर के समान जो क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है ।

**अनन्तानुबन्धी मान**—जैसे कठिन परिश्रम से भी पत्थर के खंभे को नमाना असंभव है, वैसे ही जो मान कदापि दूर नहीं होता । **अप्रत्याख्यानावरण मान**—हड्डी को नमाने के लिए कठोर श्रम के सिवाय उपाय भी करना पड़ता है, वैसे ही जो मान अतिपरिश्रम और उपाय से दूर होता है । **प्रत्याख्यानावरण मान**—सूखा काष्ठ तेल आदि की मालिश से नरम हो जाता है, वैसे ही जो मान कुछ परिश्रम और उपाय से दूर होता है । **संज्वलन मान**—विना परिश्रम के नमाये जाने वाले बैत के समान जो मान क्षणभर में अपने आग्रह को छोड़ कर नम जाता है ।

**अनन्तानुबन्धी माया**—बाँस की जड़ में रहने वाली वक्ता—टेढ़ापन का सीधा होना असम्भव होता है, इसी प्रकार जो माया छूटनी असंभव होती है । **अप्रत्याख्यानावरण माया**—मेंडे के सींग की

वक्ता कठोर परिश्रम व अनेक उपायों से दूर होती है, वैसे ही जो माया-परिणाम अत्यन्त परिश्रम व उपाय से दूर हो। प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए बैल की मूत्ररेखा को वक्ता के समान जो माया कुटिल परिणाम वाली होने पर कुछ कठिनाई से दूर होती है। संज्वलन माया—बांस के छिलके का टेढ़ापन जैसे बिना श्रम के सीधा हो जाता है, वैसे ही जो मायाभाव आसानी से दूर हो जाता है।

**अनन्तानुबन्धी लोभ**—जैसे किरमिची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, वैसे ही जिस लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी न छूटते हैं। **अप्रत्याख्यानावरण लोभ**—गाड़ी के पहिये की कीचड़ के समान अतिकठिनता से छूटने वाला लोभ का परिणाम। **प्रत्याख्यानावरण लोभ**—काजल के रंग के समान इस लोभ के परिणाम कुछ प्रयत्न से छूटते हैं। **संज्वलनलोभ**—सहज हो छूटने वाले हल्दी के रंग के समान इस लोभ के परिणाम होते हैं।

**नोकषायवेदनीय**—जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है, अथवा कषायों को उत्तेजित करने में सहायक हो। जो स्त्रोवेद आदि नोकषाय के रूप में वेदा जाता है, वह नोकषायवेदनीय है। नोकषायवेदनीय के ९ भेद हैं—

**स्त्रोवेद**—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो। **पुरुषवेद**—जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो। **नपुंसकवेद**—जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो। इन तीनों वेदों की कामवासना क्रमशः करीषामिन (उपर्युक्ती प्र.ग), तृष्णा, एवं धार नामाद्यह जैसे उपाय होती है। **हास्य**—जिस कर्म के उदय से कारण-वश या बिना कारण के हंसी आती है या दूसरों को हंसाया जाता हो। **रति-अरति**—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों के प्रति राग—प्रीति या द्वेष—अप्रीति उत्पन्न हो। **शोक**—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण शोक हो। **भय**—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या बिना कारण सात भयों में से किसी प्रकार का भय उत्पन्न हो। **जुगुप्सा**—जिस कर्म के उदय से बीभत्स—घृणाजनक पदार्थों को देख कर घृणा पैदा होती है।<sup>१</sup>

**आयुकर्म** : स्वरूप, प्रकार और विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यक्त्व और नारक के रूप में जीता है और जिसका क्षय होने पर उन रूपों का त्याग कर मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। आयुकर्म के चार भेद हैं, जो मूलपाठ में अंकित हैं। आयुकर्म का स्वभाव कारागार के समान है। जैसे अपराधी को छूटने की इच्छा होने पर भी अवधि पूरी हुए बिना कारागार से छुटकारा नहीं मिलता, इसी प्रकार आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक

१. (क) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. २४३ से २५१ तक

(ख) कर्मग्रन्थ भाग-१ (मरुधरकेस्त्रीव्याख्या) पृ. ५५-७०, ८१ से ९३ तक

(ि) कर्म कसी भवो वा कसमातोसि कसायातो ।

कसमायर्थति व जतो गमयन्ति कर्सं कसमयति ॥ —विशेषावश्यकभाष्य-१२२७

(ii) अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपवाती । तस्योदयाद्वि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते । प्रूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपत्ति ।  
संज्वलनकषायोदयाद्वयात्तचारित्रलाभो न भवति ।—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, अ. ८ सू. १०

(iii) कषाय-सहवतित्वात् कषाय-प्रेरणादपि ।

हास्यादितवक्ष्योक्ता नो-कषाय-कषायता ॥ १ ॥ —कर्मग्रन्थ, भा. १, पृ. ८४

नरकादि गतियों में रहना पड़ता है। बांधी हुई आयु भोग लेने पर ही उस शरीर से छुटकारा मिलता है। आयुकर्म का कार्य जीव को सुख-दुःख देना नहीं है, अपितु नियत अवधि तक किसी एक शरीर में बनाये रखने का है।' इसका स्वभाव हड्डि (खोड़ा-बेढ़ी) के समान है।

**नामकर्म :** स्वरूप, प्रकार और लक्षण जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यङ्च, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्याय प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे या शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म के अपेक्षा-भेद से १०३, ९३ अथवा ४२ या किसी अपेक्षा से ६७ भेद हैं। प्रस्तुत सूत्रों में नामकर्म के ४२ भेद कहे गए हैं, जिनका मूलपाठ में उल्लेख है। इनका लक्षण इस प्रकार है—

(१) गति-नामकर्म—जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारक, तिर्यङ्च, मनुष्य या देव की पर्याय प्राप्त करे। नारकत्व अतिवृद्ध परिवर्तन को गति कहते हैं। गति के ४ भेद हैं,—नरकगति आदि। इन गतियों को उत्पन्न करने वाला नामकर्म गतिनाम-कर्म है।

(२) जाति-नामकर्म एकेन्द्रियादि जीवों की एकेन्द्रियादि के रूप में जो समान परिणति (एकाकार अवस्था) उत्पन्न होती है, उसे जाति कहते हैं। स्पर्शन, रसन आदि पांच इन्द्रियों में से जीव एक, दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियों प्राप्त करता है और एकेन्द्रियादि कहलाता है, इस प्रकार की जाति का जो कारणभूत कर्म है, उसे जातिनामकर्म कहते हैं।

(३) शरीर-नामकर्म—जो शीर्ण (शण-क्षण में क्षीण) होता रहता है, वह शरीर कहलाता है। शरीरों का जनक कर्म—शरीरनामकर्म है अर्थात् जिस कर्म के उदय से औदारिक, वैक्षिय आदि शरीरों को प्राप्ति हो, अर्थात् ये शरीर बनें। शरीरों के भेद से शरीरनामकर्म के ५ भेद हैं।

(४) शरीर-अंगोपांग-नामकर्म मस्तिष्क आदि शरीर के ८ अंग होते हैं। कहा भी है—'सोसमुरोयर-पिट्ठो-दो बाहू ऊर्ध्वा य अद्विग्ना।' अर्थात् सिर, उर, उदर, पीठ, दो भुजाएँ और दो जांघ, ये शरीर के आठ अंग हैं। इन अंगों के अंगुली आदि अवयव उपांग कहलाते हैं और उनके भी अंग—जिसे अंगुलियों के पर्व आदि अंगोपांग हैं। जिस कर्म के उदय से अंग, उपांग आदि के रूप में पुद्गलों का परिणमन होता हो, अर्थात् जो कर्म अंगोपांगों का कारण हो, वह अंगोपांग नामकर्म है। यह कर्म तीन ही प्रकार का है, क्योंकि तैजस और कार्मणशरीर में अंगोपांग नहीं होते।

(५) शरीरवन्धन-नामकर्म—जिसके द्वारा शरीर बंधे, अर्थात् जो कर्म पूर्वगृहीत औदारिकादि शरीर और वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिकादि पुद्गलों का परस्पर में, अर्थात् तैजस आदि पुद्गलों के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करे, वह शरीरवन्धन-नामकर्म है।

(६) शरीर-संहनन-नामकर्म—हड्डियों की विशिष्ट रचना संहनन कहलाती है। संहनन औदारिक शरीर में ही हो सकता है, अन्य शरीरों में नहीं, क्योंकि अन्य शरीर हड्डियों वाले नहीं होते। अतः जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संघियां सुदृढ़ होती हैं, उसे संहनन-नामकर्म कहते हैं।

१. (क) प्रजापता (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. २५१

(ख) कर्मयन्थ, भा. १ (महाराकेसरीव्याख्या), पृ. ९४

(७) संघात-नामकर्म—जो श्रीदारिकशरीर आदि के पुद्गलों को एकत्रित करता है अथवा जो शरीरयोग्य पुद्गलों को व्यवस्थित रूप से स्थापित करता है, उसे संघातनामकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं।

(८) संस्थान-नामकर्म—संस्थान का अर्थ है—आकार। जिस कर्म में उदय से गृहीत, संधारित और बद्ध श्रीदारिक आदि पुद्गलों के शुभ या अशुभ आकार बनते हैं, वह संस्थान-नामकर्म है। इसके ६ भेद हैं।

(९) वर्ण-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के काले, गोरे, भूरे आदि रंग होते हैं, अथवा जो कर्म शरीर में वर्णों का जनक हो, वह वर्ण-नामकर्म है। इसके भी ५ भेद हैं।

(१०) गन्ध-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में अच्छी या बुरी गंध हो अर्थात् शुभाशुभ गंध का कारणभूत कर्म गन्धनामकर्म है।

(११) रस-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्ता, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो, अर्थात् यह रसोत्पादन में निमित्त कर्म है।

(१२) स्पर्श-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्विरध, रुक्ष आदि हो, अर्थात् स्पर्श का जनक कर्म स्पर्शनामकर्म है।

(१३) अगुह्लघु-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर न तो पाषाण के समान गुरु (भारी) हों और न ही लहौ के समान लघु (हल्के) हों, वह अगुह्लघु-नामकर्म है।

(१४) उपघात-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अपना शरीर अपने ही अवयवों से उपहत-बाधित होता है, वह उपघात-नामकर्म कहलाता है। जैसे—चोरदन्त, प्रतिजिह्वा (पड़जीभ) आदि। अथवा स्वयं तेयार किये हुए उद्बन्धन (फांसी), भृंगुपात आदि से अपने ही शरीर को पीड़ित करने वाला कर्म उपघातनामकर्म है।

(१५) पराघास-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से दूसरा प्रतिभाशाली, ओजस्वी, तेजस्वी जन भी पराजित या हतप्रभ हो जाता है, दब जाता है, उसे पराघातनामकर्म कहते हैं।

(१६) आनुपूर्वी-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव दो, तीन या चार समय-प्रमाण विप्रहगति से कोहनी, हल्ल या गोमूत्रिका के आकार से भवान्तर में अपने नियत उत्पत्तिस्थान पर पहुंच जाता है, उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं।

(१७) उच्छ्रवास-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को उच्छ्रवास-निःश्वासलब्धि की प्राप्ति होती है, वह उच्छ्रवासनामकर्म है।

(१८) आतप-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वरूप से उष्ण न होकर भी उष्णरूप प्रतीत होता हो, अथवा उष्णता उत्पन्न करता हो, वह आतपनामकर्म कहलाता है।

(१९) उद्योत-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर उष्णतारहित प्रकाश से युक्त होते हैं, वह उद्योतनामकर्म हैं। जैसे—रत्न, श्रीष्ठि, चन्द्र, नक्षत्र, तारा विमान आदि।

(२०) विहायोगति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की ज्ञाल (गति) हाथी, बैल आदि

की चाल के समान शुभ हो अथवा ऊँट, गधे आदि की चाल के समान अशुभ हो, उसे विहायोगति-नामकर्म कहते हैं ।

(२१) ऋस-नामकर्म—जो जीव त्रास पाते हैं, गर्भो आदि से संतप्त होकर छायादि का सेवन करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रियादि जीव 'ऋस' कहलाते हैं । जिस कर्म के उदय से ऋस-पर्याय की प्राप्ति हो वह ऋसनामकर्म है ।

(२२) स्थावर-नामकर्म—जो जीव सर्दी, गर्भो आदि से पीड़ित होने पर भी उस स्थान को त्यागने में समर्थ न हो, वह स्थावर कहलाता है । जैसे पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव । जिस कर्म के उदय से स्थावर-पर्याय प्राप्ति हो, उसे स्थावरनामकर्म कहते हैं ।

(२३) सूक्ष्म-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से बहुत-से प्राणियों के शरीर समुदित होने पर भी छविस्थ को दृष्टिगोचर न हों, वह सूक्ष्मनामकर्म है । इस कर्म के उदय से जीव अत्यन्त सूक्ष्म होता है ।

(२४) बावर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्रस्ति हो, अथवा जो कर्म शरीर में बादर-परिणाम को उत्पन्न करता है, वह बादर-नामकर्म है ।

(२५) पर्याप्ति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ होता है, अथवा आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें आहारादि के रूप में परिणत करने की कारणभूत आत्मा की शक्ति से सम्पन्न हो, वह पर्याप्तिनामकर्म है ।

(२६) अपर्याप्ति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके, वह अपर्याप्ति-नामकर्म है ।

(२७) साधारणशरीर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जोड़ों का एक ही शरीर हो, जैसे—निगोद के जीव ।

(२८) प्रत्येकशरीर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव का शरीर पृथक्-पृथक् हो ।

(२९) स्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर, अस्थि, दांत आदि शरीर के अवयव स्थिर हों, उसे स्थिर-नामकर्म कहते हैं ।

(३०) अस्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीभ आदि शरीर के अवयव अस्थिर (चपल) हों ।

(३१) शुभ-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हों ।

(३२) अशुभ-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के चरण आदि शरीरावयव अशुभ हों, वह अशुभनामकर्म है । पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व का लक्षण है ।

(३३) सुभग-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से किसी का उपकार करने पर और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी व्यक्ति सभी को प्रिय लगता हो, वह सुभगनामकर्म है ।

(३४) दुर्भग-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से उपकारक होने पर भी जीव लोक में अप्रिय हो, वह दुर्भगनामकर्म है ।

(३५) सुस्वर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और सुरोला हो, श्रोताओं के लिए प्रमोद का कारण हो, वह सुस्वरनामकर्म है। जैसे—कोयल का स्वर।

(३६) दुःस्वर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और फटा हुआ हो, उसका स्वर श्रोताओं की अव्याप्ति का कारण हो। जैसे—कोए का स्वर।

(३७) आदेय-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव जो कुछ भी कहे या करे, उसे लोग प्रमाणभूत मानें, स्वीकार कर लें, उसके बचन का आदर करें, वह आदेयनामकर्म है।

(३८) अनादेय-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से समोचीन भाषण करने पर भी उसके बचन ग्राह्य या मात्य न हों, लोग उसके बचन का अनादर करें, वह अनादेय-नामकर्म है।

(३९) यशःकीर्ति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से लोक में यश और कीर्ति फैले। शौर्य, पराक्रम, त्याग, तप आदि के द्वारा उपार्जित ख्याति के कारण प्रशंसा होना, यशःकीर्ति है। अथवा सर्व दिशाओं में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और एक दिशा में फैले उसे यश कहते हैं।

(४०) अथशः-कीर्ति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से सर्वत्र अपकीर्ति हो, बुराई या बदनामी हो, मध्यस्थजनों के भी अनादर का पात्र हो।

(४१) निर्मण-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में अपनी-अपनी जाति के अनुसार अंगोपांगों का यथास्थान निर्मण हो, उसे निर्मणनामकर्म कहते हैं।

(४२) तीर्थकर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से चौड़ीम अतिशय और पंतीस वाणी के गुण प्रकट हों, वह तीर्थकरनामकर्म कहलाता है।

नामकर्म के भेदों के प्रभेद--गतिनामकर्म के ४, जातिनामकर्म के ५, शरीरनामकर्म के ५, शरीरांगोपांगनामकर्म के ३, शरीरबन्धननामकर्म के ५, शरीरसंधातनामकर्म के ५, संहनननामकर्म के ६, संस्थाननामकर्म के ६, वर्णनामकर्म के ५, गन्धनामकर्म के २, रसनामकर्म के ५, स्पर्शनामकर्म के ८, अगुहलधुनामकर्म का एक, उपघात, पराघात नामकर्म का एक-एक, आनुपूर्वीनामकर्म के चार तथा आतपनाम, उद्योतनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणशरीरनाम, प्रत्येकशरीरनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुप्रगनाम, दुर्भेगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम, यशःकीर्तिनाम, अयशःकीर्तिनाम, निर्मणनाम और तीर्थकरनामकर्म के एक-एक भेद हैं। विहायोगतिनामकर्म के दो भेद हैं।<sup>१</sup>

**गोत्रकर्म : स्वरूप और प्रकार**—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं। जिस कर्म के उदय से लोक में सम्मानित, प्रतिष्ठित जाति, कुल आदि की प्राप्ति होती है तथा उत्तम बल, तप, रूप, ऐश्वर्य, सामर्थ्य, श्रुत, सम्मान उत्थान, आसनप्रदान, अंजलिकरण आदि की प्राप्ति होती है, वह उच्चगोत्रकर्म है। जिस कर्म के उदय से लोक में निन्दित कुल, जाति की प्राप्ति होती हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं। सुघट और मद्यघट

१. (क) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. १, पृ. १८ से १०३ तक

(ख) वही, भा. ५, पृ. २५८ से २५७ तक

बनाने वाले कुम्भकार के समान गोत्रकर्म का स्वभाव है। उच्चगोत्र और नीचगोत्र के क्रमशः आठ-आठ भेद हैं।<sup>१</sup>

**प्रत्यन्तरायकर्म :** स्वरूप, प्रकार और लक्षण—जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (पराक्रम) में अन्तराय (विघ्न-बाधा) उत्पन्न हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं, इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

**दानान्तराय**—दान की सामग्री पास में हो, गुणवान् पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान का फल भी जात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव दान न दे पाये उसे 'दानान्तरायकर्म' कहते हैं।

**लाभान्तराय**—दाता उदार हो, देय वस्तु भी विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल एवं गुणवान् पात्र हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे 'लाभान्तरायकर्म' कहते हैं।

**भोगान्तराय**—जो पदार्थ एक बार भोगे जाएँ उन्हें 'भोग' कहते हैं जैसे—भोजन आदि। भोग के विविध साधन होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से भोग्य वस्तुओं का भोग (सेवन) नहीं कर पाता, उसे 'भोगान्तरायकर्म' कहते हैं।

**उपभोगान्तराय**—जो पदार्थ बार-बार भोगे जाएँ, उन्हें उपभोग कहते हैं। जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि। उपभोग की सामग्री होते हुए भी जिस के उदय से जीव उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे 'उपभोगान्तरायकर्म' कहते हैं।

**वीर्यान्तराय**—वीर्य का अर्थ है पराक्रम, सामर्थ्य, पुरुषार्थ। नीरोग, शक्तिशाली, कार्यक्षम एवं युवावस्था होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव अल्पप्राण, मन्दोत्साह, आलस्य, दौर्बल्य के कारण कार्यविशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार आठों कर्मों के भेद-प्रभेदों का वर्णन सू. १६८७ से १६९६ तक है।<sup>२</sup>

### कर्मप्रकृतियों की स्थिति की प्रकृतणा

१६९७. ज्ञानावरणिज्जस्य एं भंते ! कम्मस्स केवतिवं कालं ठिती पण्णता ?

गोयमा ! जहुणेण अंतोमुहूर्तं उषकोसेण तोसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिणिं य वाससहस्राहं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो ।

[१६९७ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९७ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट तीस कोडा-

१. (क) वही, भा. ५ पृ. २०५-७६

(ख) कर्मशत्र्य, भा. १, (मर. च्या.) पृ. १५१

२. (क) वही, भा. ५, पृ. १५१

(ख) प्रजापता (प्रमेयबोधिनीटीका), भा. ५, पृ. २७७-७८

कोडी सागरोपम को है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। सम्पूर्ण कर्मस्थिति (काल) में से अबाधाकाल को कम करने पर (शेष काल) कर्मनिषेक का काल है।

**१६९८. [ १ ] निहापंचयस्त एं भंते ! कर्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णता ?**

गौयमा ! जहणेण सागरोवमस्त तिणि सत्तभागा पलिश्रोवमस्त असंख्यजडभागेण ऊणया, उष्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडीश्रो; तिणि य वाससहस्राइं अबाहा, अबाहृणिया कर्मठिती कर्मणिसेगो ।

[१६९८-१ प्र.] भगवन् ! निद्रापंचक (दर्शनावरणीय) कर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९८-१ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम, सागरोपम के तु भाग की है और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है तथा (सम्पूर्ण) कर्मस्थिति (काल) में से अबाधाकाल को कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल है।

**[ २ ] वंसणचउक्कस्त एं भंते ! कर्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णता ?**

गौयमा ! जहणेण अंतमुहूर्त, उष्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडीश्रो; तिणि य वाससहस्राइं अबाहा० ।

[१६९८-२ प्र.] भगवन् ! दर्शनचतुष्क (दर्शनावरणीय) कर्म को स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९८-२ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। (निषेककाल पूर्ववत् है।)

**१६९९. [ १ ] सातावेयणिङ्गस्त इरियावहिवंधगं पञ्चुच अजहण्णमणुकोसेणं दो समया, संपराइवंधगं पञ्चुच जहणेण बारह मुहूर्ता, उष्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीश्रो; पण्णरस य वाससयाइं अबाहा० ।**

[१६९९-१] सातावेदनीयकर्म की स्थिति ईयापिथिक-बन्धक की अपेक्षा जघन्य-उत्कृष्ट-भेदरहित दो समय की है तथा साम्पराधिक-बन्धक की अपेक्षा जघन्य बारह मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पञ्चवत् से वर्ष का है। (निषेककाल पूर्ववत् है।)

**[ २ ] असायावेयणिङ्गस्त जहणेण सागरोवमस्त तिणि सत्तभागा पलिश्रोवमस्त असंख्यजडभागेण ऊणया, उष्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडीश्रो; तिणि य वाससहस्राइं अबाहा० ।**

[१६९९-२] असायावेदनीयकर्म की स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग की (अर्थात् तु भाग की) है और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है (निषेककाल पूर्ववत् है)।

१७००. [ १ ] सम्मतवेयणिङ्गजस्त पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण अंतोमुहुत्तं, उवकोसेण छार्वांति सागरोबमाइं साहरेगाइं ।

[ १७००-१ प्र.] भगवन् ! सम्यक्त्व-वेदनीय (मोहनीय) की स्थिति कितने काल की है ?

[ १७००-१ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट कुछ अधिक छियासठ सागरोपम की है ।

[ २ ] मिच्छत्ववेयणिङ्गजस्त जहुणेण सागरोबमं पलिश्रोबमस्त असंख्यजहुभागेण ऊणगें, उवकोसेण सत्तरि कोडाकोडीओ; सत्य बाससहस्राइ अवाहा, अद्याहूणियाँ ।

[ १७००-२ ] मिथ्यात्व-वेदनीय (मोहनीय) की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम एक सागरोपम की है और उत्कृष्ट सत्तरि कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है तथा कर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल है ।

[ ३ ] सम्मामिष्ठस्तवेदणिङ्गजस्त जहुणेण अंतोमुहुत्तं, उवकोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[ १७००-३ ] सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) कर्म की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तमुहूर्त की है ।

[ ४ ] कसाथबारसगस्त जहुणेण सागरोबमस्त चत्तारि सत्तभागा पलिश्रोबमस्त असंख्यजहुभागेण ऊणगा, उवकोसेण चत्तालीसं सागरोबमकोडाकोडीओ; चत्तालीसं बाससमाइं अवाहा, जाथ णिसेगो ।

[ १७००-४ ] कषाय-द्वादशक (आदि के बारह कषायों) की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम सागरोपम के सात भागों में से चार भाग की (अर्थात् ४ भाग की) है और उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल चालीस सौ (चार हजार) वर्ष का है तथा कर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर जो शेष बचे, वह निषेककाल है ।

[ ५ ] कोहुसंजलणाइ पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण दो मासा, उवकोसेण चत्तालीसं सागरोबमकोडाकोडीओ; चत्तालीसं बाससमाइं जाव णिसेगो ।

[ १७००-५ प्र.] संज्वलन-कोध की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न है ।

[ १७००-५ उ.] गौतम ! (संज्वलन-कोध की स्थिति) जघन्य दो मास की है और उत्कृष्ट चालीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल चालीस सौ वर्ष (चार हजार वर्ष) का है, यावत् निषेक अर्थात्—कर्मस्थिति (काल) में अबाधाकाल कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल समझता ।

[ ६ ] माणसंजलणाइ पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण मासं, उवकोसेण जहा कोहुस्त ।

[ १७००-६ प्र.] मान-संज्वलन की स्थिति के विषय में प्रश्न है ।

[१७००-६ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य एक मास की है और उत्कृष्ट क्रोध की स्थिति के समान है ।

[७] मायासंज्वलणाए पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण अद्वासं, उक्कोसेण जहा कोहस्स ।

[१७००-७ प्र.] माया-संज्वलन की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न है ।

[१७००-७ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति लाल्या आर्थमात्र की है और उत्कृष्ट स्थिति क्रोध के बराबर है ।

[८] लोभसंज्वलणाए पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण अंतोमुमुक्षुं, उक्कोसेण जहा कोहस्स ।

[१७००-८ प्र.] लोभ-संज्वलन की स्थिति के विषय में प्रश्न है ।

[१७००-८ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति क्रोध के समान, इत्यादि पूर्ववत् ।

[९] इत्यदेवस्स णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण सागरोवमस्स दिवद्वं सत्तभागं पलिग्रोवमस्स असंख्यजड्यागेण ऊण्यं, उक्कोसेण पर्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पर्णरस य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७००-९ प्र.] स्त्रीवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१७००-९ उ.] गौतम ! उसकी जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवौ भाग कम सागरोपम के सात भागों में से डेढ़ भाग (३<sup>०</sup> भाग) की है और उत्कृष्ट पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है, इसका अवाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है ।

[१०] पुरिसवेयस्स णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण अद्व संवच्छराहं, उक्कोसेण दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाहं अबाहा, जाव निसेगो ।

[१७००-१० प्र.] पुरुषवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१७००-१० उ.] इसकी जघन्य स्थिति आठ संवत्सर (वर्ष) की है और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अवाधाकाल दस सौ (एक हजार वर्ष) का है। निषेककाल पूर्ववत् जानना ।

[११] नपुंसगवेयस्स णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण सागरोवमस्स दुणि सत्तभागा पलिग्रोवमस्स असंख्यजड्यागेण ऊण्गा, उक्कोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; बीसति वाससयाहं अबाहा० ।

[१७००-११ प्र.] नपुंसकवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१७००-११ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवै भाग कम, सागरोपम के दो भाग की है और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अवाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[ १२ ] हास-रक्षीणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेणं सागरोवमस्स एकं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स आसंखेजडभागेणं क्षणं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीश्चो; वस थ वाससयाइं अबाहा० ।

[ १७००-१२ प्र. ] हास्य और रति की स्थिति के विषय में पृच्छा है ।

[ १७००-१२ उ. ] गौतम ! इनकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दु भाग की है और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अवाधाकाल दस सी (एक हजार) वर्ष का है ।

[ १३ ] अरह-भय-सोग-दुगुङ्खाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेणं सागरोवमस्स दोणिण सत्तभागा पलिश्रोवमस्स आसंखेजडभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं बीसं सागरोवमकोडाकोडीश्चो; बीसति वाससयाइं अबाहा० ।

[ १७००-१३ प्र. ] भगवन् ! अरति, भय, शोक और जुगुप्ता (मोहनीयकर्म) की स्थिति कितने काल की है ?

[ १७००-१३ उ. ] गौतम ! इनकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दु भाग की है और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इनका अवाधाकाल बीस सी (दो हजार) वर्ष का है ।

१७०१. [ १ ] णेरइयाउपस्स णं. पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेणं दस वाससहस्राइं अंतोमुहुत्तमवभियाइं उक्कोसेणं तेसीसं सागरोवमाइं पुञ्चकोडीतिभागमवभइयाइं ।

[ १७०१-१ प्र. ] भगवन् ! नरकायु की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[ १७०१-१ उ. ] गौतम ! नरकायु की जघन्य स्थिति अन्तमुंहूर्त-अधिक दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व के तृतीय भाग अधिक तेतीस सागरोपम की है ।

[ २ ] तिरिक्खजोणियाउपस्स पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिणिण पलिश्रोवमाइं पुञ्चकोडितिभागमवभियाइं ।

[ १७०१-२ प्र. ] इसी प्रकार तियंचरायु की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न है ।

[ १७०१-२ उ. ] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति अन्तमुंहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि के त्रिभाग अधिक तीन पल्योपम की है ।

[ ३ ] एवं मञ्चुसाउपस्स वि ।

[ १७०१-३ ] इसी प्रकार मनुष्यायु की स्थिति के विषय में जानना चाहिए ।

[ ४ ] देवउपस्स जहा णेरइयाउपस्स ठिति त्ति ।

[ १७०१-४ ] देवायु की स्थिति नरकायु की स्थिति के समान जानने चाहिए ।

१७०२. [१] णिरयगतिणामए णं भंते ! कम्मस्स० पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमसहस्रस्स वो सत्तभागा पलिश्रोवमस्स असंखेजजतिभागेण ऊणगा, उक्कोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; बीस य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७०२-१ प्र.] भगवन् ! नरकगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-१ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम एक सागरोपम के ३ भाग की है और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[२] तिरियगतिणामए जहा णपुंसगवेदस्स (सु. १७०० [११]) ।

[१७०२-२] तिर्येव्वगति-नामकर्म की स्थिति (सु. १७००-११ में उल्लिखित) नपुंसकवेद की स्थिति के समान है।

[३] मण्यगतिणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्स दिवद्वं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेजजहृभागेण ऊणगा, उक्कोसेण पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७०२-३ प्र.] भगवन् ! मनुष्यगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के ३<sup>१</sup> भाग की है और उत्कृष्ट पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है।

[४] देवगतिणामए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमसहस्रस्स एकं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेजजहृभागेण ऊणगा, उक्कोसेण जहा पुरिसवेयस्स [सु. १७००. [१०]] ।

[१७०२-४ प्र.] भगवन् ! देवगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-४ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र-सागरोपम के ३ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति (१७००-१० में उल्लिखित) पुरुषवेद की स्थिति के तुल्य है।

[५] एर्गिदिवजाहणामए पुच्छा ।

२८

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्स दोषिण सत्तभागा पलिश्रोवमस्स असंखेजजहृभागेण ऊणगा, उक्कोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; बीस य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७०२-५ प्र.] एकेन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न है।

[१७०२-५ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के ३ भाग की है और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है। [कर्म-स्थिति में से अबाधाकाल कम इसका निषेककाल है] ।

[ ६ ] वेदविद्यजातिणामए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स णव पणतीसतिभागा पलिश्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उष्कोसेण अट्टारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अट्टारस य वाससयाइ अबाहा० ।

[ १७०२-६ प्र.] द्वीन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न है ।

[ १७०२-६ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के  $\frac{1}{2}$  वें भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है । [ कर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर शेष कर्म-निषेक-काल है । ]

[ ७ ] तेहविद्यजाइणामए णं जहुणेण एवं चेव, उष्कोसेण अट्टारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अट्टारस य वाससयाइ अबाहा० ।

[ १७०२-७ प्र.] त्रीन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी पृच्छा है ।

[ १७०२-७ उ.] इसकी जघन्य स्थिति पूर्ववत् है । उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है ।

[ ८ ] चतुर्विद्यजाइणामए णं० पुच्छा ।

जहुणेण सागरोबमस्स नव पणतीसतिभागा पलिश्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उष्कोसेण अट्टारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अट्टारस य वाससयाइ अबाहा० ।

[ १७०२-८ प्र.] चतुर्विद्य-जाति-नामकर्म की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न है ।

[ १७०२-८ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यतावें भाग कम सागरोपम के  $\frac{1}{2}$  भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है ।

[ ९ ] पञ्चेदियजाइणामए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स दोणि सत्तभागा पलिश्रोबमस्स असंखेजजभागेण ऊणगा, उष्कोसेण बीस सागरोबमकोडाकोडीओ; बीस य वाससयाइ अबाहा० ।

[ १७०२-९ प्र.] भगवत् ! पञ्चेन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[ १७०२-९ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ३ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[ १० ] ओरालियसरोरणामए वि एवं चेव ।

[ १७०२-१० ] ओदारिक-शरीर-नामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार समझनी चाहिए ।

[ ११ ] वेऽच्चियसरोरणामए णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमसहस्रस्स दो सत्तभागा पलिश्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उष्कोसेण बीस सागरोबमकोडाकोडीओ; बीस य वाससयाइ अबाहा० ।

[१७०२-११ प्र.] भगवन् ! वैक्रिय-शरीर-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-११ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहज सागरोपम के दु भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल बीस वर्ष का है ।

[१२] आहारग्रस्तरीरणामए जहृणेण अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ; उवकोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ ।

[१७०२-१२] आहारक-शरीर-नामकर्म की जघन्य स्थिति अन्तःसागरोपम कोडाकोडी की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तःसागरोपम कोडाकोडी की है ।

[१३] तेया-कम्मसरीरणामए जहृणेण [सागरोवमस्स] विष्णि सत्तभागा पलिश्रोवमस्स असंख्यजडागेण ऊणया, उवकोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; बील य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७०२-१३] तेजस और कार्मण-शरीर-नामकर्म की जघन्य स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के दु भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इनका अबाधाकाल बीस सी (दो हजार) वर्ष का है ।

[१४] ओरालिय-वेउचिथ-आहारग्रस्तरीरंगोवंगणामए तिष्णि वि एवं चेत् ।

[१७०२-१४] ओदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियशरीरांगोपांग और आहारकशरीरांगोपांग, इन तीनों नामकर्मों की स्थिति भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) है ।

[१५] सरीरबंधणामए वि पंचण्ह वि एवं चेत् ।

[१७०२-१५] पाँचों शरीरबन्धन-नामकर्मों की स्थिति भी इसी प्रकार है ।

[१६] सरीरसंघारणामए पंचण्ह वि जहा सरीरणामए (सु. १७०२ [१०-१३]) कम्मस्स ठिति ति ।

[१७०२-१६] पाँचों शरीरसंघात-नामकर्मों की स्थिति (सु. १७०२-१०-१३ में उल्लिखित) शरीर-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[१७] वइरोसभषारायसंघयणामए जहा रतिणामए (सु. १७०० [१२]) ।

[१७०२-१७] वष्टकृष्णभनाराचसंहनन-नामकर्म की स्थिति (सु. १७००-१२ में उल्लिखित) रति-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[१८] उसभषारायसंघयणामए पुछ्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्स छ पणतीसतिभागा पलिश्रोवमस्स असंख्यजडागेण ऊणया, उवकोसेण बारस सागरोवमकोडाकोडीओ; बारस य वाससयाहं अबाहा० ।

[१७०२-१८ प्र.] भगवन् ! कृष्णभनाराचसंहनन-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[ १७०२-१८ उ.] गीतम ! इस की स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के त्रै भाग की है और उत्कृष्ट बारह कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अवाधाकाल बारह सौ वर्ष का है ।

[ १९ ] नारायसंघयणणामए जहुणेण सागरोबमस्स सत्त पणतीसतिभागा पलिग्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उक्कोसेण चोहस सागरोबमकोडाकोडीओ; चोहस य बाससयाहं अबाहा० ।

[ १७०२-१९ ] नाराचसंहनन-नामकर्म की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के त्रै भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति चादह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल चौदह सौ वर्ष का है ।

[ २० ] अद्विनारायसंघयणणामस्स जहुणेण सागरोबमस्स अट्ठ पणतीसतिभागा पलिग्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उक्कोसेण सोलस सागरोबमकोडाकोडीओ; सोलस य बाससयाहं अबाहा० ।

[ १७०२-२० ] अद्विनाराचसंहनन-नामकर्म की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के त्रै भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल सोलह सौ वर्ष का है ।

[ २१ ] खौलियासंघयणे ण० पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स णव पणतीसतिभागा पलिग्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उक्कोसेण अट्ठारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य बाससयाहं अबाहा० ।

[ १७०२-२१ प्र.] कीलिकासंहनन-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न है ।

[ १७०२-२१ उ.] गीतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के त्रै भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है ।

[ २२ ] सेवूसंघयणणामस्स पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिग्रोबमस्स असंखेजजहभागेण ऊणगा, उक्कोसेण बोसं सागरोबमकोडाकोडीओ; बोस य बाससयाहं अबाहा० ।

[ १७०२-२२ प्र.] सेवात्संहनन-नामकर्म की स्थिति के विषय में पूच्छा है ।

[ १७०२-२२ उ.] गीतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के त्रै भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[ २३ ] एवं जहा संघयणणामए छ भणिया एवं संठाणा वि छ भाणियच्छा ।

[ १७०२-२३ ] जिस प्रकार छह संहनननामकर्मों की स्थिति कही, उसी प्रकार छह संस्थान-नामकर्मों की भी स्थिति कहनी चाहिए ।

## [२४] सुविकल्पणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स एं सत्तमार्गं पलिओबमस्स असंख्यजहुभागेण ऊणगं, उक्कोसेण वस सागरोबमकोडाकोडीओ; वस य वाससयाई अबाहा० ।

[१७०२-२४ प्र.] शुक्लवर्ण-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१७०२-२४ उ.] गीतम् ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ३ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्षों का है ।

## [२५] हालिद्वयणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स यंच अद्वावीसतिभागा पलिओबमस्स असंख्यजहुभागेण ऊणगा, उक्कोसेण अद्वतेरस सागरोबमकोडाकोडीओ; अद्वतेरस य वाससयाई अबाहा० ।

[१७०२-२५ प्र.] पीत (हारिद्र) वर्ण-नामकर्म की स्थिति के सम्बन्ध में पूछ्छा है ।

[१७०२-२५ उ.] गीतम् ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २५ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल साढ़े बारह सौ वर्षों का है ।

## [२६] लोहियवणामए ण० पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स छ अद्वावीसतिभागा पलिओबमस्स असंख्यजहुभागेण ऊणगा, उक्कोसेण पण्णरस सागरोबमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससयाई अबाहा० ।

[१७०२-२६ प्र.] भगवन् ! रक्त (लोहित) वर्ण-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-२६ उ.] गीतम् ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २५ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्षों का है ।

## [२७] नीलवणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमस्स सल अद्वावीसतिभागा पलिओबमस्स असंख्यजहुभागेण ऊणथा, उक्कोसेण अद्वद्वारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अद्वद्वारस य वाससयाई अबाहा० ।

[१७०२-२७ प्र.] नीलवर्ण-नामकर्म की स्थिति-विषयक प्रश्न है ।

[१७०२-२७ उ.] गीतम् ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २५ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति साढ़े सत्तरह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल साढ़े सत्तरह सौ वर्षों का है ।

## [२८] कालवणामए जहा सेवद्वसंघवणस्स (सू. १७०२ [२२]) ।

[१७०२-२८] कृष्णवर्ण-नामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-२२ में उल्लिखित) सेवार्तसंहनन-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[ २९ ] सुविभगंधणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहा सुविकलबणणामस्त (सु. १७०२ [ २४ ]) ।

[ १७०२-२९ प्र.] सुरभिगन्ध-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[ १७०२-२९ उ.] गीतम् ! इसकी स्थिति (सु. १७०२-२४ में उल्लिखित) शुक्लवर्ण-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[ ३० ] दुविभगंधणामए जहा सेवदृसंधयणस्त ।

[ १७०२-३० ] दुरभिगन्ध-नामकर्म की स्थिति सेवार्तं संहनन-नामकर्म (की स्थिति) के समान (जानना चाहिए ।)

[ ३१ ] रसार्ण गदुरारीषं रत्नं वरणार्णं नविष्टं (सु. १७०२ [ २४-२८ ]) तत्त्वं परिवाढीए आणियज्ञं ।

[ १७०२-३१ ] मधुर आदि रसों की स्थिति का कथन (सु. १७०२-२४-२८ में उल्लिखित) वर्णों की स्थिति के समान उसी ऋग (परिपाठी) से कहना चाहिए ।

[ ३२ ] कासा जे अपसस्था तेसि जहा सेवदृस्त, जे पसस्था तेसि जहा सुविकलबणणामस्त (सु. १७०२ [ २४ ]) ।

[ १७०२-३२ ] जो अप्रशस्त स्पर्श हैं, उनकी स्थिति सेवार्तंसंहनन की स्थिति के समान तथा प्रशस्त स्पर्श हैं, उनकी स्थिति (सु. १७०२-२४ में उल्लिखित) शुक्लवर्ण-नामकर्म की स्थिति के समान कहनी चाहिए ।

[ ३३ ] अगुरुलद्धुणामए जहा सेवदृस्त ।

[ १७०२-३३ ] अगुरुलद्धु-नामकर्म की स्थिति सेवार्तंसंहनन की स्थिति के समान जानना चाहिये ।

[ ३४ ] एवं उवधायणामए वि ।

[ १७०२-३४ ] इसी प्रकार उपधात-नामकर्म की स्थिति के विषय में भी कहना चाहिए ।

[ ३५ ] पराधायणामए वि एवं चेव ।

[ १७०२-३५ ] पराधात-नामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार है ।

[ ३६ ] शिरयाणुपुविष्णामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेण सागरोवमसहस्रस्त दो सत्तमागा पल्लिश्रोवमस्त प्रसंखेज्जाहभागेण ऊणगा, उक्कोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीश्रो; बीस य बाससयाद् अबाहु ॥

[ १७०२-३६ प्र.] नरकानुपूर्वी-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी पृच्छा है ।

[ १७०२-३६ उ.] गीतम् ! इसकी जघन्य स्थिति पल्लिश्रोवम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम के दु भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । बीस सी (दो हजार) वर्ष का इसका अवधाकाल है ।

[३७] तिरियाणुपुष्टीए पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्स वो सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेजहृभागे ऊणगा, उक्कोसेण बीसं सागरोवमकोडाकोडीश्चो; वस य वाससयाइ अबाहा० ।

[१७०२-३७ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चानुपूर्वी की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३७ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के दु भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[३८] भण्डाणुपुष्टिविषामए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्स विवड्हं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेजहृभागेण ऊणगं, उक्कोसेण पर्णरस सागरोवमकोडाकोडीश्चो; पर्णरस य वाससयाइ अबाहा० ।

[१७०२-३८ प्र.] मनुष्यानुपूर्वी-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ।

[१७०२-३८ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के दु " भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है ।

[३९] देवाणुपुष्टिविषामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण सागरोवमस्सहस्रस्स एं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेजहृभागेण ऊणगं, उक्कोसेण दस सागरोवमकोडाकोडीश्चो; दस य वाससयाइ अबाहा० ।

[१७०२-३९ प्र.] भगवन् ! देवानुपूर्वी-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३९ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम के दु भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है ।

[४०] उस्सासणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहा तिरियाणुपुष्टीए ।

[१७०२-४० प्र.] भगवन् ! उच्छ्वास-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-४० उ.] गौतम ! इसकी स्थिति तिर्यञ्चानुपूर्वी (सू. १७०२-३७ में उक्त) के समान है ।

[४१] आयवणामए वि एवं चेत्र, उज्जोवणामए वि ।

[१७०२-४१] इसी प्रकार आतप-नामकर्म की भी और तथेव उद्योत-नामकर्म की भी स्थिति जाननी चाहिए ।

[४२] पसत्यविहायनतिणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहृणेण एं सागरोवमस्स सत्तभागं, उक्कोसेण दस सागरोवमकोडाकोडीश्चो; दस य वाससयाइ अबाहा० ।

[ १७०२-४२ प्र.] प्रश्नस्तविहायोगति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न है ।

[ १७०२-४२ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के उ भाग की और उल्कुष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है । दस सी (एक हजार) वर्ष का इसका अवधाकाल है ।

[ ४३ ] अपस्त्वविहायगतिणामस्तु पुच्छा ।

गोदमा ! जहुण्णेण सागरोबमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओबमस्स असंख्यजहागेण ऊण्या, उक्कोसेण बीसं सागरोबमकोडाकोडीओ; बीस य बाससयाहूं अबाहा० ।

[ १७०२-४३ प्र.] अप्रश्नस्तविहायोगति-नामकर्म की स्थिति-विषयक प्रश्न है ।

[ १७०२-४३ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के उ भाग की है तथा उल्कुष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल बीस सी (दो हजार) वर्ष का है ।

[ ४४ ] तसनामए थावरणामए य एवं चेब ।

[ १७०२-४४ ] त्रस-नामकर्म और स्थावर-नामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार जाननी चाहिए ।

[ ४५ ] सुहुमणामए पुच्छा ।

गोदमा ! जहुण्णेण सागरोबमस्स णव पणतीसतिभागा पलिओबमस्स असंख्यजहागेण ऊण्या, उक्कोसेण अट्टारस सागरोबमकोडाकोडीओ; अट्टारस य बाससयाहूं अबाहा० ।

[ १७०२-४५ प्र.] सूझम-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[ १७०२-४५ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के उ भाग की और उल्कुष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अट्टारह सी वर्ष का है ।

[ ४६ ] बावरणामए जहा अपस्त्वविहायगतिणामस्स (सू. १७०२ [ ४३ ]) ।

[ १७०२-४६ ] बादर-नामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-४३ में उल्लिखित) अप्रश्नस्त-विहायोगति की स्थिति के समान जानना चाहिए ।

[ ४७ ] एवं पञ्जतगणामए वि । अपञ्जतगणामए जहा सुहुमणामस्स (सू. १७०२ [ ४५ ]) ।

[ १७०२-४७ ] इसी प्रकार पर्याप्त-नामकर्म की स्थिति के विषय में जानना चाहिए । अपर्याप्त-नामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-४५ में उक्त) सूझम-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[ ४८ ] पक्षेयसरीरणामए वि दो सत्तभागा । साहारणसरीरणामए जहा सुहुमस्स ।

[ १७०२-४८ ] प्रत्येकशरीर-नामकर्म की स्थिति भी उ भाग की है । साधारणशरीर-नामकर्म की स्थिति सूझमशरीर-नामकर्म की स्थिति के समान है ।

[४९] विरणामए एर्ग सत्तभागं । अविरणामए बो ।

[१७०२-४९] स्थिर-नामकर्म की स्थिति उभाग की है तथा अस्थिर-नामकर्म की स्थिति उभाग की है ।

[५०] सुभणामए एगो । असुभणामए बो ।

[१७०२-५०] शुभ-नामकर्म की स्थिति उभाग की और अशुभ-नामकर्म की स्थिति उभाग की समझनी चाहिए ।

[५१] सुभग्नामए एगो । दूसरग्नामए बो ।

[१७०२-५१] सुभग-नामकर्म की स्थिति उभाग की और दुभंग-नामकर्म की स्थिति उभाग की है ।

[५२] सुसरणामए एगो । दूसरणामए बो ।

[१७०२-५२] सुस्वर-नामकर्म की स्थिति उभाग की और दुःस्वर-नामकर्म की स्थिति उभाग की होती है ।

[५३] आएज्जणामए एगो । अप्पाएज्जणामए बो ।

[१७०२-५३] आदेय-नामकर्म की स्थिति उभाग की और अनादेय-नामकर्म की उभाग की होती है ।

[५४] जसोकिलिणामए जहुण्णेण अट्ट मुहुता, उष्कोसेण वस सागरोवमकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-५४] यशःकीर्ति-नामकर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त की और उत्कृष्ट दस कोडीओ सागरोपम की है । उसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का होता है ।

[५५] अजसोकिलिणामए पुच्छा ।

गोयमा । जहा प्रपसत्थविहायगतिणामस्स (सू. १७०२ [४३]) ।

[१७०२-५५ प्र.] भगवन् । प्रयशःकीर्ति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-५५ उ.] गौतम ! (सू. १७०२-४३ में उल्लिखित) अप्रशस्तविहायोगति-नामकर्म की स्थिति के समान इसकी (जघन्य और उत्कृष्ट) स्थिति जाननी चाहिए ।

[५६] एवं णिम्माणणामए वि ।

[१७०२-५६] इसी प्रकार निम्मण-नामकर्म की स्थिति के विषय में भी (जानना चाहिए ।)

[५७] स्तिथगरणामए ण० पुच्छा ।

गोयमा । जहुण्णेण अंतोसागरोवमकोडीओ, उष्कोसेण वि अंतोसागरोवम-कोडीओ ।

[१७०२-५७ प्र.] भगवन् । तीर्थकरनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-५७ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की कही गई है ।

[५८] एवं जत्य एगो सत्तमागो तत्य उक्कोसेण दस सागरोबमकोडाकोडी दस या वाससयाईं अबाहा । जस्थ बो सत्तमागा तत्य उक्कोसेण बीसं सागरोबमकोडाकोडीओ बीस य वाससयाईं अबाहा० ।

[१७०२-५८] जहाँ (जघन्य स्थिति सागरोपम के) ३ भाग की हो, वहाँ उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की और अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का (समझना चाहिए) एवं जहाँ (जघन्य स्थिति सागरोपम के) ३ भाग की हो, वहाँ उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की और अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का (समझना चाहिए) ।

१७०३- [१] उच्चागोयस्स पुच्छा ।

गोयमा ! अहणेण अद्व मुहूर्ता, उक्कोसेण दस सागरोबमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाईं अबाहा० ।

[१७०३-१ प्र.] भगवन् ! उच्चागोय-कर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०३-१ उ.] गौतम ! इसका स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त की और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल दस सौ वर्ष का है ।

[२] नीवागोयस्स पुच्छा ।

गोयमा ! जहा अपस्त्यविहायोगतिणामस्स ।

[१७०३-२ प्र.] भगवन् ! नीवगोयकर्म की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१७०३-२ उ.] गौतम ! अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म की स्थिति के समान इसकी स्थिति है ।

१७०४. अन्तरायस्स यं पुच्छा ।

गोयमा ! अहणेण अन्तमुहूर्त, उक्कोसेण तीसं सागरोबमकोडाकोडीओ; तिण्ण य वाससहस्राई अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगे ।

[१७०४ प्र.] भगवन् ! अन्तरायकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०४ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है एवं अबाधाकाल कम करने पर शेष कर्मस्थिति कर्मनिषेककाल है ।

**विवेखन** – प्रस्तुत प्रकरण के (सू. १६९७ से १७०४ तक) में ज्ञानावरणीय से लेकर अन्तराय-कर्म तक (उत्तरकर्मप्रकृतियों सहित) की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है। साथ ही अपृष्ट प्रश्न के व्याख्यान के रूप में इन सब कर्मों के अबाधाकाल तथा निषेककाल के विषय में भी कहा गया है ।<sup>१</sup>

१. पण्डितासुसं (मूलपाठ-टिप्पण्युक्त) भा. १, पृ. ३७१ से ३७७ तक

**स्थिति**—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेद सहित सभी कर्मों के श्रधिकतम और न्यूनतम समय तक आत्मा के साथ रहने के काल को स्थिति कहते हैं। इसे ही कर्मसाहित्य में स्थितिबन्ध कहा जाता है।

कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को कर्मरूपतावस्थानरूप स्थिति कहते हैं।

**अबाधाकाल**—कर्म बंधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते, वे कुछ समय तक ऐसे ही पढ़े रहते हैं। अतः कर्म बंधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार के फल न देने की (फल-हीन) अवस्था को अबाधाकाल कहते हैं। निषेककाल बन्धसमय से लेकर अबाधाकाल पूर्ण होने तक जीव को वह बद्ध कर्म कोई बाधा नहीं पहुँचाता, क्योंकि इस काल में उसके कर्मदलिकों का निषेक नहीं होता, अतः कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में से अबाधाकाल को कम करने पर जितने काल की उत्कृष्ट स्थिति रहती है, वह उसके कर्मनिषेक का (कर्मदलिक-निषेकरूप) काल अर्थात्—अनुभवयोग्यस्थिति का काल कहते हैं।<sup>१</sup>

पृष्ठ ४७ से ६१ पर दिये रेखाचित्र में पत्येक कर्म की जघन्य-उत्कृष्टस्थिति एवं अबाधाकाल व निषेककाल का अंकन है।

**एकेन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बन्धस्थिति को प्रलयणा**

१७०५. एगिदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिजजस्त कम्मस्त कि बन्धंति ?

गोयमा ! जहणेण सागरोबमस्त तिष्ण सत्तभागे पलिग्रोबमस्त असंखेजजहभागेण ऊणए, उक्कोसेण ते चेव पडिपुणे बन्धंति ?

[१७०५ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०५ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवै भाग कम सागरोपम के त्रै भाग का बन्ध करते हैं और उत्कृष्टतः पूरे सागरोपम के त्रै भाग का बन्ध करते हैं।

१७०६. एवं णिहार्पञ्चकस्त वि दंसणचउचकस्त दि ।

[१७०६] इसी प्रकार निद्रापञ्चक और दर्शनचतुष्क का (जघन्य और उत्कृष्ट) बन्ध भी ज्ञानावरणीयपञ्चक के समान जानना चाहिए।

१७०७. [१] एगिदिया णं भंते ! जीवा सातावेयणिवजस्त कम्मस्त कि बन्धंति ?

गोयमा ! जहणेण सागरोबमस्त विवड्ढं सत्तभागं पलिग्रोबमस्त असंखेजजहभागेण ऊणयं, उक्कोसेण तं चेव पडिपुणं बन्धंति ।

[१७०७-१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सातावेदनीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०७-१ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवै भाग कम सागरोपम के त्रै भाग का और उत्कृष्ट पूरे सागरोपम के त्रै भाग का बन्ध करते हैं।

१. (क) प्रजापता. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ३३६-३३७

(ख) कर्मग्रन्थ भाग ३, पृ. ६४-६५

क्रम	कार्मप्रकृति का नाम	जपन्य स्थिति	लब्धिधाकाल	निषेककाल
१	ज्ञानावरणीय (पञ्चविद्य)	शतमुँहर्त	३० कोडाकोडी सागरोपम ३ हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति में ३ हजार वर्ष कम	
२	दर्शनावरणीय निद्रापञ्चक	पत्त्योपम के असंख्यातर्वं भाग कम	११ १२ १३ १४ १५	"
३	" II दर्शनचतुष्कं	सागरोपम के ३ भाग	११ १२ १३ १४ १५	"
४	I ईर्यापिथकार्येक्षा से	दो समय	१५ कोडाकोडी सागरोपम १५०० वर्ष उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम	
	II साम्परणिक बन्धक की प्रयोग से	बाहरहूँ भूहर्त	१६ १७ १८ १९ २०	
५	असतावेदनीय कर्म	पत्त्योपम के असंख्यातर्वं भाग	१६ १७ १८ १९ २०	उत्कृष्ट स्थिति में तीन हजार वर्ष कम
६	सम्पत्त्ववेदनीय (मोहनीय)	काम सागरोपम का ३ भाग	१६ १७ १८ १९ २०	
	शतमुँहर्त	कुछ अधिक ६६ सागरोपम —	—	
७	मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय)	पत्त्योपम का असंख्यातर्वं भाग कम	१७० कोडाकोडी सागरोपम ७००० वर्ष उत्कृष्ट स्थिति में ७ हजार वर्ष कम	
	१ सागरोपम	शतमुँहर्त	—	
८	सम्पत्त्वपित्यात्ववेदनीय (मोहनीय)	पत्त्योपम के असंख्यातर्वं भाग कम	१७० कोडाकोडी सागरोपम ७००० वर्ष उत्कृष्ट स्थिति में ७ हजार वर्ष कम	
	१ कथाय-द्वादशक (प्रारम्भ के १२ कथाय) शतता, अप्रत्या, प्रत्या.	सागरोपम का ३ भाग	१८० कोडाकोडी सागरोपम ८००० वर्ष उत्कृष्ट स्थिति में ८ हजार वर्ष कम	
९	संज्वलनकोष (मोहनीय)	दो भाग	१९ २० २१ २२ २३	उत्कृष्ट स्थिति में ८ हजार वर्ष कम
	११ संज्वलनमान	एक भाग	२२ २३ २४ २५ २६	"
१२	संज्वलनमाया	अर्द्धं भाग	२२ २३ २४ २५ २६	"
१३	संज्वलनसोयम	शतमुँहर्त	२२ २३ २४ २५ २६	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
१४	स्त्रीवेद (मोहनीय)	पत्त्योपम के असंख्यातर्वं भाग काम सागरोपम का ३ भाग द वर्ष की	२२ २३ २४ २५ २६	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम
१५	पुरुषवेद	२० कोडाकोडी सागरोपम १००० वर्ष	२० कोडाकोडी सापरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम
१६	नपु सकंवेद	पत्त्योपम के असंख्यातर्वं भाग का ३ सागरोपम का ३ भाग	२० कोडाकोडी सापरोपम २००० वर्ष	

क्रम	कर्मशक्ति का नाम	जबन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अवधारकाल	निवेदकाल
१७-१८	हास्य श्रीर रति (मोहनीय)	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम १००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में से १००० वर्ष कम
१९-२२	अरति, अय, शोक, जुगुप्सा	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
२३	नारकायु	अन्तमुङ्हूर्त अधिक १० हजार वर्ष	करोड़ पूर्व के तृतीय भाग अधिक ३३ सागरोपम	—	—
२४	तिर्यञ्चायु	अन्तमुङ्हूर्त	करोड़ पूर्व का तीसरा भाग अधिक ३ पल्योपम	—	—
२५	भनुव्यायु		" " करोड़ पूर्व के तृतीय भाग	—	—
२६	देवायु	अन्तमुङ्हूर्त अधिक १० हजार वर्ष	अधिक ३३ सागरोपम की २० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
२७	नरकगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्रसागरोपम का तु भाग	" " "	"	"
२८	तिर्यञ्चगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	" " "	"	"
२९	भनुव्यगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	१५ कोडाकोडी सागरोपम १५०० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
३०	देवगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का तु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम १००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
३१	एकेन्द्रियजातिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
३२	द्वीन्द्रियजातिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का तु भाग	१८ कोडाकोडी सागरोपम १८०० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
३३	श्रीन्द्रियजातिनाम	" "	" " "	"	"
३४	चतुर्विन्द्रियजातिनाम	" "	" " "	"	"
३५	पञ्चेन्द्रियजातिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
३६	बौद्धारिकशरीरनाम	" "	" " "	"	"
३७	कैकियणशरीरनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्रसागरोपम का तु भाग	" " "	"	"
३८	माहारकशरीरनाम	अन्तःकोडाकोडी सागरोपम	—		
३९-४०	तीजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष		उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	अधिक स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अवाधाकाल	निषेककाल
४१	श्रीदारिकशरीरांगोपांगनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
४२	बैक्शिकशरीरांगोपांगनाम	पूर्ववत्	" "	"	"
४३	श्राहारकशरीरांगोपांगनाम	" "	" "	"	"
४४-४५	पंचशरीरवन्धननाम	" "	" "	"	"
४६-४७	पंचशरीरसंहननाम	शरीरनामकर्म के समान	शरीरनामकर्मवत्	पूर्ववत्	पूर्ववत्
४८	वज्रशूषभनाराचसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भागकम सागरोपम का दु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
४९	क्रहमनाराचसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१२ कोडाकोडी सागरोपम	१२०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १२०० वर्ष कम
५०	नाराचसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१४ कोडाकोडी सागरोपम	१४०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १४०० वर्ष कम
५१	अद्वेनाराचसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भागकम सागरोपम का दु भाग	१६ कोडाकोडी सागरोपम	१६०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १६०० वर्ष कम
५२	कीलिकासंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भागकम सागरोपम का दु भाग	१८ कोडाकोडी सागरोपम	१८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
५३	सेवातंसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम
५४-५५	छह प्रकार के संस्थाननाम	छह संहनननामकर्म के समान	" " " वटसंहननवत्	वटसंहननवत्	वटसंहनन के समान
५६	शुक्लवर्णनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
५७	दीतवर्णनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१२। कोडाकोडी सागरोपम	१२५० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १२५० वर्ष कम
५८	रक्तवर्णनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१५ कोडाकोडी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
५९	नीलवर्णनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१७।। कोडाकोडी सागरोपम	१७५० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १७५० वर्ष कम
६०	कृष्णवर्णनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
६१	सुरभिगन्धनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का दु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम

क्रम अर्थप्रकृति का नाम	जब्दन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अवाधाकाल	निवेककाल
७२ दुरभिगच्छनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का है भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम	
७३-७४ मधुर आदि पांच रस नाम	शुक्लवर्ण आदि पांच वर्णों की स्थिति के समान	शुक्लादि पंचवर्णवत्	पंचवर्णवत्	
७५-७६ अप्रशस्त स्पर्श चार (कर्कश, गुरु, रुद्र, शीत)	सेवात्मसंहनन के समान	सेवात्मसंहननवत्	सेवात्मवत्	
७७-७८ प्रशस्त स्पर्श चार (मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण)	शुक्लवर्णनाभकर्म की स्थिति के समान	शुक्लवर्णवत्	शुक्लवर्णवत्	
७९ अगुरुलघुनाम	सेवात्मसंहनन के समान	सेवात्मवत्	सेवात्मवत्	
८० उपचारनाम	" " "	"	"	
८१ पराधाननाम	" " "	"	"	
८२ नरकानुपूर्वीनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का है भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम	
८३ तिर्यचानुपूर्वीनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का है भाग	" " " "	" "	
८४ मनुष्यानुपूर्वीनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का है भाग	१५ कोडाकोडी सागरोपम १५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम	
८५ देवानुपूर्वीनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का है भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम १००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम	
८६ उच्चवासनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सहस्र सागरोपम का है भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम	
८७ आतपनाम	" " "	" " " "	"	
८८ उद्घोतनाम	" " "	" " " "	"	
८९ प्रशस्तविहायोगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का है भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम १००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम	
९० अप्रशस्तविहायोगतिनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का है भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम	
९१ ऋसनाम	" " "	" " " "	"	
९२ स्थाविरनाम	" " "	" " " "	"	
९३ सूक्ष्मनाम	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का है भाग	१८ कोडाकोडी सागरोपम १८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम	
९४ वादरनाम	अप्रशस्तविहायोगति की स्थिति के समान	२० कोडाकोडी सागरोपम २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २००० वर्ष कम	

क्रम कर्मप्रकृति का नाम	जगन्नाथ स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अवाधारकाल	निषेककाल
१०२ पर्याप्तनाम	बादर के समान	बादरवत्	बादरवत्	बादरवत्
१०३ अपर्याप्तनाम	पत्त्योपम के असंख्यातरे भाग कम सागरोपम का तु भाग	१८ कोडाकोडी सागरोपम	१८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
१०४ सांधारणशरीरनाम	" "	" कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
१०५ प्रत्येकशरीरनाम	पत्त्योपम के असंख्यातरे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	"
१०६ अस्थिरनाम	पत्त्योपम के असंख्यातरे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
१०७ स्थिरनाम	" "	" "	" "	"
१०८ सुभनाम	" "	" "	" "	"
१०९ सुभग्ननाम	" "	" "	" "	"
११० सुस्वरनाम	" "	" "	" "	"
१११ अदेयनाम	" "	" "	" "	"
११२ यज्ञःकीर्तनाम	आठ मुहूर्त पत्त्योपम के असंख्यातरे भाग कम सागरोपम का तु भाग	१० कोडाकोडी सागरोपम २० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष २००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
११३ अशुभनामः	" "	" "	" "	"
११४ दुर्मनाम	" "	" "	" "	"
११५ दुःस्वरनाम	" "	" "	" "	"
११६ अनादेयनाम	" "	" "	" "	"
११७ अथशःकीर्तनाम	" "	" "	" "	"
११८ निर्मणनाम	अन्तःकोडाकोडी सागरोपम	अन्तःकोडाकोडी सागरोपम	—	—
११९ तीर्थकरनाम	आठ मुहूर्त	१० कोडाकोडी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम
१२० उच्चगोत्र	" "	" "	" "	"
१२१ नीचगोत्र	पत्त्योपम के असंख्यातरे भाग कम सागरोपम का तु भाग	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
१२२ अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त	२० कोडाकोडी सागरोपम	३००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में ३ हजार वर्ष कम

१. (क) विशेष स्पष्टीकरण के लिए कर्मप्रकृत्य भा. ५ तथा छिक्कंघो भावि देखें।  
 (ख) पर्णवणासुत्तं (सूक्षकाद-टिप्पण्यूक्त) भा. १, पृ. ३७५ से ३७७ तक

१७०७. [२] असायावेयणिजजस्स जहा णाणावरणिजजस्स (सु. १७०५) ।

[१७०७-२] असातावेदनीय का (जघन्य और उत्कृष्ट) बन्ध ज्ञानावरणीय के समान जानना चाहिए ।

१७०८. [१] एगिविया णं भंते ! जीवा सम्मतवेयणिजजस्स कम्मस्स कि बंधति ?  
गोयमा ! णत्थि किञ्चि बंधति ।

[१७०८-१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय) कर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०८-१ उ.] गौतम : वे किसी भी काल का बंध नहीं करते—इधर करते ही नहीं हैं ।

[२] एगिविया णं भंते ! जीवा मिष्ठत्तवेयणिजजस्स कम्मस्स कि बंधति ?

गोयमा ! जहुण्णोणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेजज्ञामागेणं ऊण्यं, उक्कोसेणं तं चेद पद्धिपुण्णं बंधति ।

[१७०८-२ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) कर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०८-२ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यात्वे भाग कम एक सागरोपम काल का बांधते हैं और उत्कृष्ट एक परिपूर्ण सागरोपम का बांधते हैं ।

[३] एगिविया णं भंते ! सम्मामिष्ठत्तवेयणिजजस्स (कम्मस्स) कि बंधति ?

गोयमा ! णत्थि किञ्चि बंधति ।

[१७०८-३ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय-कर्म) कितने काल तक का बांधते हैं ?

[१७०८-३ उ.] गौतम ! वे किसी काल का नहीं बांधते ।

[४] एगिविया णं भंते ! कसायबारसमस्स कि बंधति ?

गोयमा ! जहुण्णोणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेजज्ञामागेणं ऊण्य, उक्कोसेणं ते चेद पद्धिपुण्णे बंधति ।

[१७०८-४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव कषायद्वादशक का कितने काल का बन्ध करते हैं ।

[१७०८-४ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यात्वे भाग कम सागरोपम के झु भाग और उत्कृष्ट वही झु परिपूर्ण बांधते हैं ।

[५] एवं कोहुसंजलणाए वि जाव लोभसंजलणाए वि ।

[१७०८-५] इसी प्रकार यावत् संज्वलन कोश से लेकर यावत् संज्वलन लोभ तक बांधते हैं ।

[६] इत्यवेयस्स जहा सायावेयणिजजस्स (सु. १७०७ [१]) ।

[१७०८-६] स्त्रीवेद का बन्धकाल सातावेदनीय (सु. १७०७-१ में उक्त) के बन्धकाल के समान जानना ।

[७] एगिविया पुरिसवेदस्स कम्मस्स जहुण्णोणं सागरोवमस्स एवकं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेजज्ञामागेणं ऊण्यं, उक्कोसेणं तं चेद पद्धिपुण्णं बंधति ।

[१७०८-७] एकेन्द्रिय जीव जघन्यतः पुरुषवेदकर्म का पल्योपम के असंख्यात्में भाग कम सागरोपम का है भाग बांधते हैं और उत्कृष्टतः वही है भाग पूरा बांधते हैं ।

[८] एग्निदिया णपुंसगवेदस्स कस्मस्स जहणेण सागरोवमस्स दो सत्तभागे पलिश्रोबमस्स असंख्यजड्मागेण ऊणए, उक्कोसेण ते चेव पडिपुणे बंधति ।

[१७०८-८] एकेन्द्रिय जीव नपुंसकवेदकर्म का जघन्य पल्योपम के असंख्यात्में भाग कम सागरोपम का है भाग बांधते हैं और उत्कृष्ट वही है भाग परिपूर्ण बांधते हैं ।

[९] हास-रतोए जहा पुरिसवेयस्स (सु. १७०८ [७]) ।

[१७०८-९] हास्य और रति का बन्धकाल पुरुषवेद (सु. १७०८-७ में उक्त) के समान जानना ।

[१०] अरति-भय-सोग-दुण्ड्याए जहा णपुंसगवेयस्स (सु. १७०८ [८]) ।

[१७०८-१०] अरति, भय, शोक और जुगुप्सा का बन्धकाल नपुंसकवेद के समान जानना चाहिए ।

१७०९. णेरहयाउअ- वेवाउअ- णिरयगतिणाम- देवगतिणाम- वेडविद्यसरीरणाम- आहारण- सरीरणाम-णेरहयाणुपुविणाम-वेवाणुपुविणाम-तित्यगरणाम एयाणि पयाणि ण बंधति ।

[१७०९] नरकायु, देवायु, नरकगतिनाम, देवगतिनाम, वेक्षियशरीरनाम, आहारक-शरीरनाम, नरकानुपूर्वीनाम, देवानुपूर्वीनाम, तीर्थकरनाम, इन नी पदों को एकेन्द्रिय जीव नहीं बांधते ।

१७१०. तिरिक्खाजोणियाउअस्स जहणेण अंतोमुहूर्तं, उक्कोसेण पुञ्चकोडी सत्तहि वाससहस्रेहि वाससहस्रतिभागेष्य अहियं बंधति । एवं मणुस्साउअस्स वि ।

[१७१०] एकेन्द्रिय जीव तिर्यञ्चायु का जघन्य अन्तमुहूर्त का, उत्कृष्ट सात हजार तथा एक हजार बर्ष का तृतीय भाग अधिक करोड़ पूर्व का बन्ध करते हैं ।

मनुष्यायु का बन्ध भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

१७११. [१] तिरियगतिणामए जहा णपुंसगवेदस्स (सु. १७०८ [८]) । मणुयगतिणामए जहा सातावेवणिङ्गस्स (सु. १७०७ [१]) ।

[१७११-१] तिर्यञ्चगतिनाम का बन्धकाल (सु. १७०८-८ में उक्त) नपुंसकवेद के समान है तथा मनुष्यगतिनाम का बन्धकाल (सु. १७०७-१ में उक्त) सातावेदनीय के समान है ।

[२] एग्निदियजाइणामए पंचेदियजाइणामए य जहा णपुंसगवेदस्स । वेइविय-सेइदिय-जातिणामए जहणेण सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागे पलिश्रोबमस्स असंख्यजड्मागेण ऊणए, उक्कोसेण ते चेव पडिपुणे बंधति । चउर्दियनामए वि जहणेण सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागे पलिश्रोबमस्स असंख्यजड्मागेण ऊणए, उक्कोसेण ते चेव पडिपुणे बंधति ।

[१७११-२] एकेन्द्रियजाति-नाम और पचेन्द्रियजाति-नाम का बन्धकाल नपुंसकबेद के समान जानना चाहिए तथा द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरन्द्रिय जाति-नाम का बंध जघन्य पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम का  $\frac{1}{2}$  भाग बांधते हैं और उत्कृष्ट वही  $\frac{1}{2}$  भाग पूरे बांधते हैं।

१७१२. एवं जत्थ जहृणगं दो सत्तभागा तिष्ण वा चत्तारि वा सत्तभागा पद्मावीतसिभागा० अर्वति तत्थ एं जहृणेण ते चेद पलिश्रोबमस्स असंखेऽजहृभागेण ऊणगा भाणियव्वा, उक्कोसेण ते चेद पडिपुणे बंधति । जत्थ एं जहृणेण एगो वा दिवद्वारे वा सत्तभागो तत्थ जहृणेण ते चेद भाणियव्वं, उक्कोसेण तं चेद पडिपुणे बंधति ।

[१७१२] जहाँ जघन्यतः  $\frac{1}{2}$  भाग,  $\frac{1}{2}$  भाग या  $\frac{1}{2}$  भाग अथवा  $\frac{1}{2}$ ,  $\frac{1}{2}$  एवं  $\frac{1}{2}$  भाग कहे हैं, वहाँ वे ही भाग जघन्य रूप से पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम कहने चाहिए और उत्कृष्ट रूप में ये ही भाग परिपूर्ण समझने चाहिए । इसी प्रकार जहाँ जघन्य रूप से  $\frac{1}{2}$  या  $\frac{1}{2}$  भाग है, वहाँ जघन्य रूप से वही भाग कहना चाहिए और उत्कृष्ट रूप से वही भाग परिपूर्ण कहना चाहिए ।

१७१३. जसोकिति-वच्छागोपाणं जहृणेण सागरोबमस्स एवं सत्तभागं पलिश्रोबमस्स असंखेऽजहृभागेण ऊणयं, उक्कोसेण तं चेद पडिपुणे बंधति ।

[१७१३] यशःकीर्तिनाम और उच्चगोत्र का एकेन्द्रिय जीव जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम सागरोपम के  $\frac{1}{2}$  भाग का एवं उत्कृष्टतः सागरोपम के पूर्ण  $\frac{1}{2}$  भाग का बन्ध करते हैं ।

१७१४. अन्तराद्यस्स एं भंते ॥० पुण्ड्रा ।

गोयमा ! बहु णाणावरणिऽजस्स जाव उक्कोसेण ते चेद पडिपुणे बंधति ।

[१७१४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव अन्तरायकर्म का बन्ध कितने काल का करते हैं ?

[१७१४ उ.] गोतम ! इनका अन्तरायकर्म का जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल ज्ञानावरणीय कर्म के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—इससे पूर्व सभी कर्म-प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, अबाधाकाल एवं निषेककाल का प्रतिपादन किया गया था । इस प्रकरण में एकेन्द्रिय जीव बन्धकों को लेकर आठों कर्मों की स्थिति की प्ररूपणा की गई है । अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानावरणीयादि कर्म का जो बन्ध होता है, उसको स्थिति कितने काल तक की होती है ? ।

निम्नोत्तर रेखाचत्र से एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानावरणीयादि कर्मों की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति का आसानी से जान हो जाएगा—

## एकेन्द्रिय जीवों की बन्धस्थिति का रेखाचित्र

क्रम कर्मप्रकृति का नाम

१. ज्ञानावरणीय (पंचक)  
असातावेदनीय तिद्रापंचक,  
दाक्षानावरणचतुष्क अंतरापंचक  
२. तिर्यङ्गचायु

३. सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति,  
मनुष्यानुपूर्वी

४. सम्यक्स्त्ववेदनीय श्रीर मिश्र वेदनीय  
(मोहनीय) कर्म

५. मिश्यात्ववेदनीय (मोहनीय)

६. कषाययोडशक (सोलह कषाय)

७. पुरुषवेद, हात्य, रति, प्रशस्ति विहायोगति, स्थिरादिष्टक समचतुरस-  
संस्थान, वज्रशृंखभनाराजसंहनन,  
शुक्लवर्ण, सुरभिगन्ध, मधुररस  
और उच्चगोत्र, यशोकीति

८. द्विन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुर्नि-  
न्द्रिय-जातिनाम

९. नरकायु, देवायु, नरकगति,  
देवगति, वैकियशरीर,  
श्राहारकशरीर नरकानुपूर्वी,  
देवानुपूर्वी, तीर्थकरनामकर्म

१०. द्वितीय संस्थान, द्वितीय संहनन

११. तीसरा संस्थान, तीसरा संहनन

१२. रक्तवर्ण, कषायरस

१३. पीलावर्ण, अम्लरस

१४. नीलवर्ण, कट्टकरस

१५. नपुंसकवेद, भय, शोक, जुगुप्सा, अरति,  
तिर्यङ्गचाहिक, श्रीदारिकाहिक, अन्तिम  
संस्थान, अन्तिम संहनन, कृष्णवर्ण,  
तिक्तरस, अगुच्छत्व, उपघात, पराघात,  
उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति,  
प्रत्येकशरीर, अस्थिरादिष्टक, स्थावर,  
आतप, उद्योत, अप्रशस्ति विहायो-  
गति, निमणि, एकेन्द्रिय पंचेन्द्रिय  
जाति तैजस, कार्मण शरीरनाम

बन्धन्य बन्धस्थिति

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम का  $\frac{3}{4}$  भाग

अन्तमुङ्गुर्ते की "

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम का  $\frac{3}{4}$  भाग

बन्ध नहीं

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
एक सागरोपम की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

इन नी पदों का बन्ध नहीं

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पल्योपम के असंख्यातवे भाग कर्म  
सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

" " "

" " "

" " "

" " "

" " "

उत्तराष्ट्र बन्धस्थिति

पूरे सागरोपम का  $\frac{3}{4}$  भाग

" " "

सात हजार तथा एक हजार  
वर्ष का तृतीय भाग अधिक  
करोड़ पूर्व की

पूरे सागरोपम का  $\frac{3}{4}$  भाग

बन्ध नहीं

पूरे सागरोपम की

पूरे सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पूरे सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग की

पूरे सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग

बन्ध नहीं

पूरे सागरोपम के  $\frac{3}{4}$  भाग

" " "

" " "

" " "

" " "

१. (क) पण्णवणासुत्ते भा. १

(ख) प्रजापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयबोधिनी दीकासहित)

**द्वीन्द्रियजीवों में कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्ररूपण।**

१७१५. बेहंदिया एं भंते ! जीवा ज्ञानावरणिकजस्स कम्भमस्स कि बंधंति ?

गोयमा ! जहुणेण सागरोवमपणुवीसाए तिणि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जहभागेण ऊण्या, उष्कोसेण ते चेव पडिपुण्णे बंधंति ।

[१७१५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७१५ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यात्वे भाग कम पच्चीस सागरोपम के भाग (काल) का बन्ध करते हैं और उत्कृष्ट वही परिपूर्ण बांधते हैं ।

१७१६. एवं णिद्वार्ष्णगस्स वि ।

[१७१६] इसी प्रकार निद्रापञ्चक (निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और ल्यनयृदि) की रिधति के विषय में जानना चाहिए ।

१७१७. एवं जहा एगिदियाण भणियं तहा बेहंदियाण वि भाणियव्यं । शबरं सागरोवमपणुवीसाए सह भाणियव्या पलिओवमस्स असंखिज्जहभागेण ऊणा, सेसं तं चेव, जत्य एगिदिया ण बंधंति तत्य एते वि ण बंधंति ।

[१७१७] इसी प्रकार जैसे एकेन्द्रिय जीवों की बांधस्थिति का कथन किया है, वैसे ही द्वीन्द्रिय जीवों की बांधस्थिति का कथन करना चाहिए । जहाँ (जिन प्रकृतियों को) एकेन्द्रिय नहीं बांधते, वहाँ (उन प्रकृतियों को) ये भी नहीं बांधते हैं ।

१७१८. बेहंदिया एं भंते ! जीवा मिच्छसवेयणिज्जस्स कि बंधंति ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोवमपणुवीसं पलिओवमस्स असंखिज्जहभागेण ऊण्यं, उष्कोसेण तं चेव पडिपुण्णं बंधंति ।

[१७१८ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव मिथ्यात्ववेदनीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७१८ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यात्वे भाग कम पच्चीस सागरोपम की और उत्कृष्टतः वही परिपूर्ण बांधते हैं ।

१७१९. तिरिक्षणोम्याउश्चस्स जहुणेण अतोमुहुर्तं, उष्कोसेण पुञ्चकोडि चउहि वासेहि अहियं बंधंति । एवं मनुष्याउश्चस्स वि ।

[१७१९] द्वीन्द्रिय जीव तियंकायु को जघन्यतः अन्तमुहुर्ते की और उत्कृष्टतः चार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष की बांधते हैं । इसी प्रकार मनुष्यायु का कथन भी कर देना चाहिए ।

१७२०. सेसं जहा एगिदियाण जाव अंतराइयस्स ।

[१७२०] शेष यावत् अन्तरायकर्म तक एकेन्द्रियों के कथन के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का बन्ध कितने काल का करते

हैं ? इस प्रश्न का समाधान यहाँ किया गया है। नीचे लिखे रेखाचित्र से आसानी से समझ में आ जाएगा—

कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य बन्धस्थिति	उत्कृष्टबन्धस्थिति
ज्ञानावरणीय, निद्रापंचक शेषकर्म	पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम २५ सागरोपम के तु भाग की एकेन्द्रिय के समान बन्ध- अबन्ध जानना	२५ सागरोपम के तु भाग की
मिथ्यात्वमोहनीय	पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम २५ सागरोपम की	पूर्ण पच्चीस सागरोपम की
तिर्थक्षचायु मनुष्यायु नाम गोत्र अत्तरायादि	अन्तमुँहूर्त एकेन्द्रिय के समान	४ वर्ष अधिक पूर्वकोटि की एकेन्द्रियवत् ।

एकेन्द्रियों की अपेक्षा द्विन्द्रिय जीवों के बन्धकाल को विशेषता—एक विशेषता यह है कि द्विन्द्रिय जीवों का बन्धकाल एकेन्द्रिय जीवों से पच्चीस गुणा अधिक होता है। जैसे—एकेन्द्रिय के ज्ञानावरणीयकर्म का जघन्य बन्धकाल पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम एक सागरोपम के तु भाग का है, जबकि द्विन्द्रिय का जघन्य बन्धकाल पल्योपम के असंख्यातवे भाग कम २५ सागरोपम के तु भाग का है। इस प्रकार पच्चीस गुणा अधिक करके पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। जिन कर्मप्रकृतियों का बन्ध एकेन्द्रिय जीव नहीं करते, द्विन्द्रिय जीव भी उनका बन्ध नहीं करते।

इस प्रकार जिस कर्म की जो-जो उत्कृष्ट स्थिति पहले कही गई है, उस स्थिति का मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी के साथ भाग करने पर जो संख्या लब्ध होती है, उसे पच्चीस से गुणा करने पर जो राशि आए उसमें से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर द्विन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति का परिमाण आ जाता है। यदि उसमें से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम न करें तो उत्कृष्ट स्थिति का परिमाण आ जाता है। उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणीय पंचक आदि के सागरोपम के तु भाग का पच्चीस से गुणा किया जाय तो पच्चीस सागरोपम के तु भाग हुए। अर्थात्—उनका उत्कृष्ट बन्धकाल पूरे पच्चीस सागरोपम के तु भाग हुए। यदि पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम कर दिया जाए तो उनका जघन्य स्थिति बन्धकाल हुआ।<sup>१</sup>

### द्विन्द्रियजीवों में कर्मप्रकृतियों की स्थिति-बन्धप्ररूपण।

१७२१. तेहंदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिङ्जस्स कि बन्धति ?

गोप्यमा ! जहणेण सागरोबमपणासाए तिण्ण सत्तभागा पलिग्रीवमस्स असंख्यजहागेण ऊणया, उक्कोसेण ते चेत्र पण्डपुणे बन्धति । एवं जस्स जह भागा ते तस्स सागरोबमपणासाए सह भाणियव्वा ।

१. पण्णबणासुत्तं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पण्युक्त) पृ. ३७९

२. प्रज्ञापनासूत्र भाग ५ (प्रमेयबोधिनी टीका) पृ. ४१९-४२०

[१७२१ प्र.] भगवन् ! श्रीनिदिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बंध करते हैं ?

[१७२१ उ.] गीतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यात्में भाग कम पचास सागरोपम के ३ भाग का बंध करते हैं और उत्कृष्ट वही परिपूर्ण बंधते हैं। इस प्रकार जिसके जितने भाग हैं, वे उनके पचास सागरोपम के साथ कहने चाहिए।

१७२२. तेऽद्विद्या णं मिच्छत्तवेयणिजजस्स कम्मस्स कि बंधंति ?

गोयमा ! जहृण्णेण सागरोबमपणासं पलिष्ठोबमस्स असंख्यजडभागेण ऊणयं, उवकोसेण सं चेष पदिपुण्णं बंधंति ।

[१७२२ प्र.] भगवन् ! श्रीनिदिय जीव मिथ्यात्व-वेदनीय कर्म का कितने काल का बंध करते हैं ?

[१७२२ उ.] गीतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यात्में भाग कम पचास सागरोपम का और उत्कृष्ट पूरे पचास सागरोपम का बंध करते हैं।

१७२३. तिर्त्तिर्त्तज्ञोग्याडम्भस्स जहृण्णेण अंतोमुहृत्तं, उवकोसेण पुष्वकोडि सोलहसहि राद्विद्यर्हि राद्विद्यतिभागेण य अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि ।

[१७२३] तिर्त्तिर्त्तज्ञायु का जघन्य अन्तमुहृत्तं का और उत्कृष्ट सोलह रात्रि-दिवस तथा रात्रिदिवस के तीसरे भाग अधिक करोड़ पूर्व का बंधकाल है। इसी प्रकार मनुष्यायु का भी बंधकाल है।

१७२४. सेसं जहा वेऽद्विद्याणं जाव अंतराद्वयस्स ।

[१७२४] शेष यावत् अन्तराय तक का बंधकाल हीनिदिय जीवों के बंधकाल के समान जानना चाहिए।

विवेचन—श्रीनिदिय जीवों के बंधकाल को विशेषता—श्रीनिदिय जीवों के बंधकाल की प्ररूपणा भी इसी प्रकार की है, किन्तु उनका बन्धस्थितिकाल एकेनिदिय जीवों की आपेक्षा ५० गुणा अधिक होता है।<sup>१</sup>

**चतुरनिदिय जीवों की कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्ररूपणा**

१७२५. चतुरद्विद्या णं भंते ! जीवा णाणावरणिजजस्स कि बंधंति ?

गोयमा ! जहृण्णेण सागरोबमस्यस्स तिण्णि सत्तभागे पलिष्ठोबमस्स असंख्यजडभागेण ऊणए, उवकोसेण से चेष पदिपुण्णे बंधंति । एवं जस्स जह भागा ते तस्स सागरोबमसतेण सह माणियस्ता ।

[१७२५ प्र.] भगवन् ! चतुरनिदिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बंध करते हैं ?

[१७२५ उ.] गीतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यात्में भाग कम सी सागरोपम के ३ भाग का और उत्कृष्ट पूरे सी सागरोपम के ३ भाग का बंध करते हैं।

१. (क) पणवणासुतं भाग, १. पृ. ३८०

(ख) प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयबोधिनी दीका) पृ. ४२०

१७२६. तिरिक्षणज्ञोणियाउप्रस्स कम्मस्स जहणेण अंतोमुहूर्तं, उक्कोसेण पुष्टकोऽि दोहि  
मासेहि प्रहियं । एवं मणुस्साउप्रस्स वि ।

[ १७२६ ] तिर्यञ्चनायुक्तं का (बन्धकाल) जघन्य अन्तमुहूर्तं का है और उत्कृष्ट दो मास  
अधिक करोड़शूर्वं का है । इसी प्रकार मनुष्यायु का बन्धकाल भी जानना चाहिए ।

१७२७. सेसं जहा बेहंदियाणं । जवरं मिच्छत्सवेदणिजजस्स जहणेण सागरोबमसतं  
पलिश्रोबमस्स गतिः प्राह्मागेणं ऊपर्य, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुणं बंधति । सेसं जहा बेहंदियाणं जाव  
अंतराइयस्स ।

[ १७२७ ] शेष यावत् अन्तराय द्वीन्द्रियजीवों के बन्धकाल के समान जानना चाहिए ।  
विशेषता यह कि मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) का जघन्य पल्योपम का असंख्यातवौ भाग कम सौ  
सागरोपम और उत्कृष्ट परिपूर्ण सौ सागरोपम का बन्ध करते हैं । शेष कथन अन्तराय कर्म तक  
द्वीन्द्रियों के समान है ।

विवेचन—चतुरिन्द्रिय जीवों के बन्धकाल की विशेषता—उनका बन्धकाल एकेन्द्रियों की  
अपेक्षा सौ गुणा अधिक होता है ।

### असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों की कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्रकृतणा

१७२८. असण्णी णं भंते ! जीवा पंचेन्द्रिया ज्ञानावरणिजजस्स कम्मस्स कि बंधति ?

गौतम ! जहणेण सागरोबमसहस्रस्स तिर्ण सत्तभागे पलिश्रोबमस्स असंख्याह्मागेणं  
ऊणए, उक्कोसेण ते चेव पडिपुणे बंधति । एवं सो चेव गमो जहा बेहंदियाणं । जवरं सागरोबम-  
सहस्रेण समं आणियष्वा जस्स जति भाग लि ।

[ १७२८ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीय कर्म कितने काल का बांधते  
हैं ?

[ १७२८ उ. ] गौतम ! वे पल्योपम के असंख्यातवौ भाग कम सहस्रसागरोपम के तु भाग काल  
का और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम के तु भाग (काल) का बन्ध करते हैं । इस प्रकार द्वीन्द्रियों  
के (बन्धकाल के) विषय में जो गम (प्रालापक) कहा है, वही यहाँ जानना चाहिए । विशेष यह है कि  
यहाँ असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के प्रकरण में जिस कर्म का जितना भाग हो, उसका उतना ही भाग  
सहस्रसागरोपम से गुणित कहना चाहिए ।

१७२९. मिच्छत्सवेदणिजजस्स जहणेण सागरोबमसहस्रं पलिश्रोबमस्स असंख्याह्मागेणं  
ऊपर्य, उक्कोसेण तं चेव पडिपुणं ।

[ १७२९ ] वे मिथ्यात्ववेदनीयकर्म का जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवौ भाग कम  
सहस्र सागरोपम का और उत्कृष्ट बन्ध परिपूर्ण सहस्र सागरोपम का (करते हैं) ।

१. (क) पण्णवणासुत्तो, भाग १, पृ. ६८०

(ख) प्रजापनासूत्र (प्रमेयबोधिती टीका), भाग ५, पृ. ४२१

१७३० [१] गोरुद्यारयह जहुण्णेण उस तत्त्वहस्ताद्वं अंतोमुहुत्तबमङ्गाहं, उक्कोसेण पलिश्चोबमस्त असंखेजज्ञभागं पूर्वकोडितिभागबमहयं बन्धंति ।

[१७३०-१] वे नरकायुष्यकर्म का (बन्ध) जघन्य अन्तमुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के त्रिभाग अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग का बन्ध करते हैं ।

[२] एवं तिरिक्षालोणियाऽग्रस्त वि । अवरं जहुण्णेण अंतोमुहुत्तं ।

[१७३०-२] इसी प्रकार तिर्यञ्चायु का भी उत्कृष्ट बन्ध पूर्वकोटि का त्रिभाग अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग का, किन्तु जघन्य अन्तमुहूर्त का करते हैं ।

[३] एवं मणुस्ताऽग्रस्त वि ।

[१७३०-३] इसी प्रकार मनुष्यायु के (बन्ध के) विषय में समझना चाहिए ।

[४] देवाऽग्रस्त जहा णेरहयाऽग्रस्त ।

[१७३०-४] देवायु का बन्ध नरकायु के समान समझना चाहिए ।

१७३१. [१] असण्णी णं भंसे ! जीवा पंचेदिवा पिरयगतिनामए कम्मस्त कि बन्धंति ?

गोप्यमा ! जहुण्णेण सागरोबमसहस्रस्त दो सत्तभागे पलिश्चोबमस्त असंखेजज्ञभागेण ऊणाए, उक्कोसेण ते चेव पठिपुण्णे ।

[१७३१-१ प्र.] भगवन् ! असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव नरकगतिनाम का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७३१-१ उ.] गीतम ! वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र-सागरोपम (काल) का ३ भाग और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम का ३ भाग बांधते हैं ।

[२] एवं तिरियगतीए वि ।

[१७३१-२] इसी प्रकार तिर्यञ्चगतिनाम के बन्ध के विषय में समझना चाहिए ।

[३] मणुशगतिनामए वि एवं चेव । अवरं जहुण्णेण सागरोबमसहस्रस्त दिवद्वं ते सत्तभागं पलिश्चोबमस्त असंखेजज्ञभागेण ऊण्यं, उक्कोसेण ते चेव पठिपुण्णं बन्धंति ।

[१७३१-३] मनुष्यगतिनामकर्म के बन्ध के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए । विशेष यह है कि इसका जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र-सागरोपम के ३<sup>०</sup> भाग और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम के ३<sup>०</sup> भाग का करते हैं ।

[४] एवं देवगतिनामए वि । अवरं जहुण्णेण सागरोबमसहस्रस्त एवं सत्तभागं पलिश्चोबमस्त असंखेजज्ञभागेण ऊण्यं, उक्कोसेण ते चेव पठिपुण्णं ।

[१७३१-४] इसी प्रकार देवगतिनामकर्म के बन्ध के विषय में समझना । किन्तु विशेषता यह है कि इसका जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के ३ भाग का और उत्कृष्ट पूरे उसी (सहस्र सागरोपम) के ३ भाग का करते हैं ।

[ ५ ] वेदविषयसरीरणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहुणेण सागरोबमसहस्रसस दी सप्तभागे पलिओबमस्त असेलेजाइभागेण ऊणए, उकोसेण दो पडिपुणे बंधति ।

[ १७३१-५ प्र.] भगवन् ! (असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव) वैक्षियशरीरनाम का बन्ध कितने काल का करते हैं ?

[ १७३१-५ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवै भाग कम सहस्र सागरोपम के दु भाग का और उत्कृष्ट पूरे सहस्र सागरोपम के दु का करते हैं ।

१७३२. सम्मत-सम्भामिच्छत्त-आहारगसरीरणामए तिरथगरणामए य य किञ्चि बंधति ।

[ १७३२ ] (असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव) सम्यक्त्वमोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, आहारकशरीरनामकर्म और तीर्थकरनामकर्म का बन्ध करते ही नहीं हैं ।

१७३३. अथसिद्धं जहा द्वेष्विद्याणं । एवर जस्स जत्तिया भागा तस्स ते सागरोबमसहस्रेण सह भाणियक्त्वा । स्ववेसि आणुपुच्छीए जाव अंतराहयस्त ।

[ १७३३ ] शेष कर्मप्रकृतियों का बन्धकाल द्वीन्द्रिय जीवों के कथन के समान जानना । विशेष यह है कि जिसके जितने भाग हैं, वे सहस्र सागरोपम के साथ कहने चाहिए । इसी प्रकार अनुक्रम से यावत् अन्तरायकर्म तक सभी कर्मप्रकृतियों का यथायोग्य (बन्धकाल) कहना चाहिए ।

विवेचन—द्वीन्द्रियों के समान आलापक, किन्तु विशेष अन्तर भी--द्वीन्द्रिय जीवों के बन्धकाल से असंज्ञीपंचेन्द्रियों के प्रकरण में विशेषता यही है कि यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल को सहस्र सागरोपम से गुणित कहना चाहिए । जिस कर्म का जितना भाग है, उसका उतना ही भाग यहाँ सहस्र सागरोपम से गुणित कहना चाहिए ।<sup>१</sup>

### संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों में कर्म-प्रकृतियों के स्थिति-बन्ध का निरूपण

१७३४. सर्णी णं भंते ! जोवा पंचेदिया णाणावरणिजजस्स कस्मस्त कि बंधति ?

गोयमा ! जहुणेण अंतोभूत्त, उकोसेण तोसं सागरोबमकोडाकोडीओ, तिणि य बाससहस्राई अवाहा० ।

[ १७३४ प्र.] भगवन् ! संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव जानावरणीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[ १७३४ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तभूत्त का और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम (काल का) बन्ध करते हैं । इनका अवाधाकाल तीन हजार वर्ष का है । (कर्मस्थिति में से अवाधाकाल कम करने पर इनका कर्मनिषेककाल है ।)

१७३५. [ १ ] सर्णी णं भंते ! पंचेदिया णिहापंचगस्स कि बंधति ?

गोयमा ! जहुणेण अंतोसागरोबमकोडाकोडीओ; उकोसेण तोसं सागरोबमकोडाकोडीओ, तिणि य बाससहस्राई अवाहा० ।

१. प्रजापनासूत्र भा. ५, पृ. ४२६

[१७३५-१ प्र.] भगवन् ! संजीपचेन्द्रिय जीव निद्रापंचककर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७३५-१ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तःकोडाकोडी सागरोपम का और उत्कृष्ट तीस कडाकोडी सागरोपम का बन्ध करते हैं। इनका तीन हजार वर्ष का अवधाकाल है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[२] दंसणद्वउक्तस्त जहा णाणावरणिङ्गस्स ।

[१७३५-२] दण्डनचतुष्क का बन्धकाल ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धकाल के समान है ।

१७३६- [१] सातावेदणिङ्गस्स जहा ओहिया ठिली भणिया तहेव भाणियवा इरियावहिय-बन्धयं पदुच्च संपराइयबन्धयं च ।

[१७३६-१] सातावेदनीयकर्म का बन्धकाल उसकी जो औधिक (सामान्य) स्थिति कही है, उनना ही कहना चाहिए। ऐयपिथिकबन्ध और साम्परायिकबन्ध की अपेक्षा से (सातावेदनीय का बन्धकाल पृथक्-पृथक्) कहना चाहिए ।

[२] असातावेयणिङ्गस्स जहा णिदापंचगस्स ।

[१७३६-२] असातावेदनीय का बन्धकाल निद्रापंचक के समान (कहना चाहिए) ।

१७३७. [१] सम्मतवेदणिङ्गस्स सम्मामिच्छत्तवेदणिङ्गस्स य जा ओहिया ठिली भणिया तं बन्धंति ।

[१७३७-१] वे सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय) और सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) की जो औधिक स्थिति कही है, उनने ही काल का बांधते हैं ।

[२] मिच्छत्तवेदणिङ्गस्स जहणेण अंतोसागरोपमकोडाकोडीओ, उक्तकोसेण सत्तरि सागरोपमकोडाकोडीओ, सत्त य वाससहस्राहं अवाहा० ।

[१७३७-२] वे मिथ्यात्ववेदनीय का बंध जघन्य अन्तःकोडाकोडी सागरोपम का और उत्कृष्ट ७० कोडाकोडी सागरोपम का करते हैं। अवाधाकाल सात हजार वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[३] कसायबारसगस्स जहणेण एवं चेव, उक्तकोसेण चत्तालीसं सागरोपमकोडाकोडीओ; चत्तालीस य वाससहस्राहं अवाहा० ।

[१७३७-३] कषायद्वादशक (बारह कषायों) का बन्धकाल जघन्यतः इसी प्रकार (अन्तःकोटि सागरोपम प्रमाण) है और उत्कृष्टतः चालीस कोडाकोडी सागरोपम का है। इनका अवाधाकाल चालीस हजार वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[४] कोहु-याण-माया-लोभसंजलणाए य दो मासा मासो अद्वमासो अंतोमुहूर्तो एवं जहणेण उक्तकोसेण पुण्य जहा कसायबारसगस्स ।

[१७३७-४] संज्वलन कोध-मान-माया-लोभ का जघन्य बन्ध श्रमशः दो मास, एक मास, अद्वं मास और अन्तमुहूर्त का होता है तथा उत्कृष्ट बन्ध कषाय-द्वादशक के समान होता है ।

१७३८. चउण्ह वि आउश्राणं जा श्रोहिया ठिती भणिया तं बंधन्ति ।

[ १७३८ ] चार प्रकार के आयुष्य (नरकायु, तिर्यङ्गचायु, मनुष्यायु और देवायु) कर्म की जो सामान्य (आवृत्तिक) स्थिति कही गई है, उसी स्थिति का वे (संज्ञीपञ्चेन्द्रिय) बन्ध करते हैं ।

१७३९. [ १ ] आहारनसरीरस्स तिष्ठगरणामए य जहणेण अंतोसागरोबमकोडाकोडीओ, उक्कोसेण वि अंतोसागरोबमकोडाकोडीओ बंधन्ति ।

[ १७३९-१ ] वे आहारकशरीर और तीर्थकरनामकर्म का बन्ध जघन्यतः अन्तःकोटाकोटि सागरोपम का करते हैं और उत्कृष्टतः भी उतने ही काल का बन्ध करते हैं ।

[ २ ] पुरिसवेवस्स जहणेण अटु संबच्छराइ, उक्कोसेण इस सागरोबमकोडाकोडीओ; इस य वासतयाइ अबाहा० ।

[ १७३९-२ ] पुरुषवेद का बन्ध वे जघन्य आठ वर्ष का और उत्कृष्ट दशकोटाकोटि सागरोपम का करते हैं । उनका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[ ३ ] जसोकित्तिणामए उच्चागोयस्स य एवं चेद । णवरं जहणेण अटु मुहुत्ता ।

[ १७३९-३ ] यशःकीतिनाम और उच्चगोत्र का बन्ध भी इसी प्रकार (पुरुषवेदवत्) जानना चाहिए । विशेष यह है कि संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवों का जघन्य स्थितिबन्ध (-काल) आठ मुहूर्त का है ।

१७४०. अंतराइयस्स जहा णाणावरणिउजस्स ।

[ १७४० ] अन्तरायकर्म का बन्धकाल ज्ञानावरणीयकर्म के (बन्धकाल के) समान है ।

१७४१. सेसएसु सव्वेसु ठाणेसु लंघयणेसु संठाणेसु वणेसु गंधेसु य जहणेण अंतोसागरोबमकोडाकोडीओ, उक्कोसेण जा वस्स श्रोहिया ठिती भणिया तं बंधन्ति, णवरं इसं णाणात्त—अबाहा अबाहूणिया ण बुञ्चति । एवं आणुपुञ्चवीए सव्वेसि जाव अंतराइयस्स ताव भाणियवं ।

[ १७४१ ] शेष सभी स्थानों में तथा संहनन, संस्थान, वर्ण, मन्थ नामकर्मों में बन्ध का जघन्य काल अन्तःकोटाकोटि सागरोपम का है और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का काल, जो इनकी सामान्य स्थिति कही है, वही कहना चाहिए । विशेष अन्तर यह है कि इनका 'अबाधाकाल' और अबाधाकालन्यून (कर्मसिषेककाल) नहीं कहा जाता ।

इसी प्रवार अनुक्रम से सभी कर्मों का अन्तरायकर्म तक वा स्थितिबन्धकाल कहना चाहिए ।

**विवेचन**—कुछ स्पष्टीकरण—संज्ञीपञ्चेन्द्रिय बन्धक की अपेक्षा से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जा जघन्य स्थितिबन्धकाल कहा गया है, वह क्षणक जीव को उस समय होता है, जब उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का चरम समय हो । निद्रापञ्चक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, कषायद्वादश आदि का बन्ध क्षण से पहले होता है, अतएव उनका जघन्य और उत्कृष्ट बन्ध भी अन्तःकोटाकोटि

सागरोपम का होता है, जो अत्यन्त संकलेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के समझना चाहिए। चारों प्रकार के आयुष्यकर्म का उत्कृष्ट बन्ध उन-उनके बन्धकों में जो अतिविशुद्ध होते हैं, उनको होता है।  
कर्मों के जघन्य स्थितिबन्धक नहीं।

**१७४२. ज्ञानावरणिङ्गस्स णं भंते ! कम्मस्स जहृण्णठितिबंधए के ?**

गोयमा ! अण्णयरे सुक्ष्मसंपराए उवसामए वा खबए वा, एस णं गोयमा ! ज्ञानावरणिङ्गस्स कम्मस्स जहृण्णठितिबंधए, तथ्वइरिते अजहृणे। एवं ऐतेण अभिलाक्षेण मोहाऽउवज्ज्वल्लाणं सेसकम्माणं भाणिपद्धं ।

[१७४२ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक (बांधने वाला) कौन है ?

[१७४२ उ.] गीतम ! वह अन्यतर (कोई एक) सूक्ष्मसम्पराय, उपशामक (उपशमक्षेणी वाला) या क्षपक (क्षपकश्रेणी वाला) होता है। हे गीतम ! यही ज्ञानावरणीयकर्म का जघन्य स्थिति-बन्धक होता है, उससे अतिरिक्त अजघन्य स्थिति का बन्धक होता है। इस प्रकार इस अभिलाप से मोहनीय और आयुकर्म को छोड़ कर शेष कर्मों के विषय में कहना चाहिए।

**१७४३. मोहणिङ्गस्स णं भंते ! कम्मस्स जहृण्णठितिबंधए के ?**

गोयमा ! अण्णयरे बाधरसंपराए उवसामए वा खबए वा, एस णं गोयमा ! मोहणिङ्गस्स कम्मस्स जहृण्णठितिबंधए, तथ्वतिरिते अजहृणे ।

[१७४३ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक कौन है ?

[१७४३ उ.] गीतम ! वह अन्यतर बादरसम्पराय, उपशामक अथवा क्षपक होता है। हे गीतम ! यह मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक होता है, उससे भिन्न अजघन्य स्थिति का बन्धक होता है।

**१७४४. आउपस्स णं भंते ! कम्मस्स जहृण्णठितिबंधए के ?**

गोयमा ! जे णं जीवे असंखेष्यद्वप्पविद्धे सम्बिनिरुद्धे से आउए, सेसे सम्बहन्तीए आउअबंध-द्वाए, तीसे णं आउअबंधद्वाए चरिमकालसमयंसि सम्बजहृणियं ठिहं पञ्जत्तापञ्जलियं जिवदत्तेति । एस णं गोयमा ! आउयकम्मस्स जहृण्णठितिबंधए, तथ्वइरिते अजहृणे ।

[१७४४ प्र.] भगवन् ! आयुष्यकर्म का जघन्यस्थिति-बन्धक कौन है ?

[१७४४ उ.] गीतम ! जो जीव असंखेष्य-आद्वाप्रविष्ट होता है, उसकी आयु सर्वनिरुद्ध (सबसे कम) होती है। शेष सबसे बड़े उस आयुष्य-बन्धकाल के अन्तिम काल के समय में जो सबसे जघन्य स्थिति को तथा पर्याप्ति-अपर्याप्ति को बांधता है। हे गीतम ! यही आयुष्यकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक होता है, उससे भिन्न अजघन्य स्थिति का बन्धक होता है।

**विवेचन—निष्कर्ष—** मोहनीय और आयुकर्म को छोड़कर शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति का बन्धक जीव सूक्ष्मसम्पराय अवस्था से युक्त उपशामक अथवा क्षपक दोनों में से कोई एक (अन्यतर)

होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध सूक्ष्मसम्पराय अवस्था में उपशमक और क्षपक दोनों का जघन्य अन्तमुहूर्तप्रमाण होता है। अतएव दोनों का स्थितिबन्ध का काल समान होने से कहा गया है—उपशमक अथवा क्षपक दोनों में से कोई एक। यद्यपि उपशमक और क्षपक दोनों का स्थितिबन्धकाल अन्तमुहूर्तप्रमाण है, तथापि दोनों के अन्तमुहूर्त के प्रमाण में अन्तर होता है। क्षपक की अपेक्षा उपशमक का बन्धकाल दुगुना समझना चाहिए। उदाहरणार्थः दसवें गुणस्थान वाले क्षपक को जितने काल का ज्ञानावरणीय कर्म का स्थितिबन्ध होता है, उसकी अपेक्षा श्रेणी चढ़ते हुए उपशमक को दुगुने काल का स्थितिबन्ध होता है और फिर वह श्रेणी से गिरते हुए दसवें गुणस्थान में आता है, तो श्रेणी चढ़ते जीव की अपेक्षा भी दुगुना स्थितिबन्ध काल होता है। फिर भी उसका काल होता है—अन्तमुहूर्त ही। इस प्रकार वेदनीयकर्म के साम्परायिकबन्ध की प्ररूपणा करते समय क्षपक का जघन्य स्थितिबन्ध १२ मुहूर्त का और उपशमक का २४ भुहूर्त का कहा है। नाम और गोत्रकर्म का क्षपक जीव आठ मुहूर्त का स्थितिबन्ध करता है, जबकि उपशमक १६ मुहूर्त करता है। किन्तु उपशमक एवं क्षपक जीव का जघन्यबन्ध शेष सब बन्धों की अपेक्षा सर्वजघन्यबन्ध समझना चाहिए। इसीलिए कहा जाता है—उपशमक एवं क्षपक जीव, जो सूक्ष्मसम्पराय अवस्था में हो वही ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जघन्य स्थितिबन्धक है।<sup>१</sup>

**मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक—बादरसम्पराय से युक्त उपशमक या क्षपक जीव मोहनीयकर्म की स्थिति का बन्धक होता है।<sup>२</sup>**

**आयुकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक कौन और क्यों?**—जो जीव असंक्षेप्य-अद्वाप्रविष्ट होता है, उसकी आयु सर्वनिरुद्ध होती है। उसका आयुष्य आठ आकर्ष प्रमाण सबसे बड़ा काल होता है, आयु के बन्ध होते ही वह आयुष्य समाप्त हो जाता है। अतः असंक्षेप्याद्वाप्रविष्ट जीव आयुष्यबन्ध काल के चरम समय में अथवा—एक आकर्षप्रमाण अष्टम भाग में सर्वजघन्य स्थिति को बोधता है। वह स्थिति शरीर-पर्याप्ति और इन्द्रिय-पर्याप्ति को सम्पन्न करने में समर्थ और उच्छ्रवास-पर्याप्ति को निष्पन्न करने में असमर्थ होती है। यही असंक्षेप्याद्वा, सर्वनिरुद्ध और चरमकाल आदि कुछ पारिभाषिक शब्द हैं, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—असंक्षेप्याद्वा—जिसका त्रिभाग आदि प्रकार से संक्षेप न हो सके ऐसा अद्वा-काल असंक्षेप्याद्वा कहलाता है। ऐसे जीव का आयुष्य सर्वनिरुद्ध होता है। अथवा उपक्रम के कारणों द्वारा आयुष्य अतिसंक्षिप्त किया हुआ होता है। ऐसा आयुष्य आयुष्यबन्ध के समय तक ही सीमित होता है, आगे नहीं। चरमकाल समय—इस शब्द से सूक्ष्म अंश का ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु पूर्वोक्तकाल ही समझना चाहिए, क्योंकि उससे कम काल में आयु का बन्ध होना सम्भव नहीं।<sup>३</sup>

**कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के बन्धकों की प्ररूपणा**

**१७४५.** उक्कोसकालठितीयं णं भते ! ज्ञानावरणिज्जं कर्मं किं णेरइओ बंधइ तिरिक्ख-जोणिओ बंधइ तिरिक्खजोणिणी बंधइ मणुस्सो बंधइ मणुस्सो बंधइ देवी बंधइ देवी बंधइ ?

**गोप्यमा ! णेरइओ वि बंधति जाव देवी वि बंधति ।**

१. प्रज्ञापना (प्रसेवदोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ४३७

२. वही, भा. ५, पृ. ४४०

३. वही, भा. ५, पृ. ४४०-४४१

[१७४५-प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले ज्ञानावरणीयकर्म को क्या नारक बांधता है, तिर्यङ्गच बांधता है, तिर्यङ्गचनी बांधती है, मनुष्य बांधता है, मनुष्य स्त्री बांधती है अथवा देव बांधता है या देवी बांधती है ?

[१७४५ उ.] गौतम ! उसे नारक भी बांधता है यावत् देवी भी बांधती है ।

१७४६. केरिसए णं भंते ! ऐरहए उक्कोसकालठितीयं ज्ञानावरणिज्जं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! सणी पंचेदिए सब्बाहि पञ्जत्तीहि पञ्जस्ते सागारे जागरे मुतोवउसे मिच्छादिट्टी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्टपरिणामे ईसिमजिभमपरिणामे वा, एरिसए णं गोयमा ! ऐरहए उक्कोस-कालठितीयं ज्ञानावरणिज्जं कम्मं बंधइ ।

[१७४६ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का नारक उत्कृष्ट स्थिति वाला ज्ञानावरणीयकर्म बांधता है ?

[१७४६ उ.] गौतम ! जो संज्ञीपंचेन्द्रिय, समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्ति, साकारोपयोग वाला, जाग्रत्, श्रुत में उपयोगवान्, मिथ्यादृष्टि, कृष्णलेश्यावान्, उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला अथवा किञ्चित् मध्यम परिणाम वाला हो, ऐसा नारक, हे गौतम ! उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है ।

१७४७. [१] केरिसए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालठितीयं ज्ञानावरणिज्जं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! कम्मभूमणे वा कम्मभूमणपलिभागी वा सणी पंचेदिए सब्बाहि पञ्जत्तीहि पञ्जस्तए, सेसं तं चेष जहा ऐरहयस्स ।

[१७४७-१ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का तिर्यङ्गच उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता है ?

[१७४७-१ उ.] गौतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिज के सदृश हो, संज्ञी-पंचेन्द्रिय, सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्ति, साकारोपयोग वाला, जाग्रत्, श्रुत में उपयोगवान्, मिथ्यादृष्टि, कृष्णलेश्यावान् एवं उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला हो तथा किञ्चित् मध्यम परिणाम वाला हो, हे गौतम ! इसी प्रकार का तिर्यङ्गच उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है ।

[२] एवं तिरिक्खजोणिणी वि, मणूसे वि मणूसी वि । देव-देवी जहा ऐरहए (सु. १७४६) ।

[१७४७-२] इसी प्रकार की (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) तिर्यङ्गचनी भी मनुष्य और मनुष्यस्त्री भी उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधती है । (पूर्वोक्त विशेषण युक्त) (सु. १७४६ में उक्त) नारक के सदृश देव और देवी (उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयकर्म बांधते हैं ।)

१७४८. एवं आउञ्चवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं ।

[१७४८] आथुष्य को छोड़कर शेष (उत्कृष्ट स्थिति वाले) सात कर्मों के बन्ध के विषय में पूर्ववत् जानना चाहिए ।

१७४९. उक्कोसकालठितीयं ण भंते ! आउअं कम्मं कि णेरहशो बंधइ जाव देवी बंधइ ?

गोयमा ! णो णेरहशो बंधइ, तिरिखजोणिए बंधइ, पो तिरिखजोणिणी बंधइ, मणुस्सो वि बंधइ, मणुस्सो वि बंधइ, णो देवो बंधइ, पो देवी बंधइ ।

[ १७४९ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को क्या नैरयिक बांधता है, यावत् देवी बांधती है ?

[ १७४९ उ.] गौतम ! उसे नारक नहीं बांधता, तिर्यञ्च बांधता है, किन्तु तिर्यञ्चनी, देव या देवी नहीं बांधती, मनुष्य बांधता है तथा मनुष्य स्त्री भी बांधती है ।

१७५०. केरिसए ण भंते ! तिरिखजोणिए उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! कम्मभूमणे वा कम्मभूमगपलिभागो वा सण्णी पंचेदिए सव्वाहिं पञ्जत्तर्गेहि पञ्जत्तर्ग सागारे जागारे सुतोबउत्ते मिच्छद्विद्वी परमकिणहलेस्से उक्कोससंकिलिट्टपरिणामे, एरिसए ण गोयमा ! तिरिखजोणिए उक्कोसकालठितीयं आउअं कम्मं बंधइ ।

[ १७५० प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का तिर्यञ्च उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ?

[ १७५० उ.] गौतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिज के समान हो, संज्ञो-पंचेन्द्रिय, सर्वं पर्याप्तियों से पर्याप्त, साकारोपयोग वाला हो, जाग्रत हो, श्रुत में उपयोगवान्, मिथ्यादृष्टि, परमकृष्णलेश्यावान् एवं उत्कृष्ट संविलष्ट परिणाम वाला हो, ऐसा तिर्यञ्च उत्कृष्ट स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ।

१७५१. केरिसए ण भंते ! मणूसे उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! कम्मभूमणे वा कम्मभूमगपलिभागो वा जाव सुतोबउत्ते सम्मद्विद्वी वा मिच्छद्विद्वी वा कण्हलेसे वा सुक्कलेसे वा णाणी वा अण्णाणी वा उक्कोससंकिलिट्टपरिणामे वा तप्पाउग्गविसुजभुमाणपरिणामे वा, एरिसए ण गोयमा ! मणूसे उक्कोसकालठिईयं आउअं कम्मं बंधइ ।

[ १७५१ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का मनुष्य उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ?

[ १७५१ उ.] गौतम ! जो कर्मभूमिज हो अथवा कर्मभूमिज के सदृश हो यावत् श्रुत में उपयोग वाला हो, सम्यग्दृष्टि हो अथवा मिथ्यादृष्टि हो, कृष्णलेश्यी हो या शुक्ललेश्यी हो, ज्ञानी हो या ग्रज्ञानी हो, उत्कृष्ट संविलष्ट परिणाम वाला हो, अथवा तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हुए परिणाम वाला हो, हे गौतम ! इस प्रकार का मनुष्य उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ।

१७५२. केरिसिया ण भंते ! मणुस्सी उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! कम्मभूमिगा वा कम्मभूमगपलिभागो वा जाव सुतोबउत्ता सम्मद्विद्वी सुक्कलेस्सा तप्पाउग्गविसुजभुमाणपरिणामा एरिसिया ण गोयमा ! मणुस्सी उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधइ ।

[१७५२ प.] भगवन् ! किस प्रकार की मनुष्य-स्त्री उत्कृष्ट काल की स्थितिवाले आयुष्यकर्म को बांधती है ?

[१७५२ उ.] गीतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिजा के समान हो यावत् श्रुत में उत्तरदेश वाली हो, सम्यग्यूहिणि हो, शुक्ललेश्यावाली हो, तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हुए परिणाम वाली हो, हे गीतम ! इस प्रकार की मनुष्य-स्त्री उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधती है ।

१७५३. अंतराहयं जहा णाणावरणिज्ञं (१७४५-४७) ।

[१७५३] उत्कृष्ट स्थिति वाले अन्तरायकर्म के बंध के विषय में (सू. १७४५-४७ में उक्त) ज्ञानावरणीयकर्म के समान जानना चाहिए ।

[बीच्छो उद्देश्यो समतो]

॥ पण्डिताद् भगवतोर्ते तेवीसङ्करं कम्भे त्ति पदं समतं ॥

विवेचन—निष्कर्ष—आयुकर्म को छोड़कर शेष सातों उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों को पूर्वोक्त विशेषता वाले नारक, तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी, मनुष्य, मानुषी, देव या देवी बांधती है । उत्कृष्ट स्थिति वाले आयुष्यकर्म को तिर्यञ्च, मनुष्य और मानुषी बांधती है, किन्तु नारक, तिर्यञ्चिनी, देव और देवी नहीं बांधती, क्योंकि इन चारों के उत्कृष्ट आयुकर्म का बन्ध नहीं होता ।<sup>१</sup>

कठिन शब्दार्थ—कम्भभूमिगपलिभागी—जो कर्मभूमि में जन्मे हुए के समान हो । अथत् कर्मभूमिजा गर्भिणी तिर्यञ्चिनी का अपहरण करके किसी ने योग्यताके लिये रख दिया हो और उससे जो जन्मा हो ऐसा तिर्यञ्च । सागारे—साकारोपयोग वाला । सुतोषउसे—श्रुत (शास्त्र) में उपयोग वाला । सुक्ललेस्से—शुक्ललेश्यी । तथा उभाविसुक्लमाण-परिणामे—उसके योग्य विशुद्ध परिणाम वाला हो ।

॥ दूसरा उद्देश्यक समाप्त ॥

॥ प्रज्ञापना भगवतो का तेर्ष्ठसर्वा कर्मप्रकृतियव सम्पूर्ण ॥



१. (क) पण्डिताद् भगवतोर्ते तेवीसङ्करं कम्भे त्ति पदं समतं १ (मूलपाठ-टिप्पणी) पृ. ३८३-३८४

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनीटीका) भा. ५, पृ. ४५१ से ४५६ तक

## चतुर्वीसाङ्कजं लग्नद्वादृष्टिवद्यं

### चौत्रीसवाँ कर्मबन्धपद

ज्ञानावरणीयकर्म के बंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्रलृपणा

१७५४. [१] कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णताओ ?

गोयमा ! अटु कम्मपगडीओ पण्णताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराहयं ।

[१७५४-१ प्र.] भगवन् ! कर्म-प्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७५४-१ उ.] गोतम ! कर्म-प्रकृतियाँ आठ कही गई हैं, यथा—ज्ञानावरणीय यावत् मन्त्रराय ।

[२] एवं जेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७५४-२] इसी प्रकार नैरयिकों (से लेकर) वैमानिकों तक (के आठ कर्मप्रकृतियाँ हैं ।)

१७५५. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्तविहृवंधए वा अटुविहृवंधए वा छविहृवंधए वा ।

[१७५५-प्र.] भगवन् ! (एक) जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता हुआ कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधता है ?

[१७५५-उ.] गोतम ! वह सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों का बन्धक होता है ।

१७५६. [१] जेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्तविहृवंधए वा अटुविहृवंधए वा ।

[१७५६-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[१७५६-१ उ.] गोतम ! वह सात या आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । यवरं भण्णसे जहा जीवे (सु. १७५५) ।

[१७५६-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कथन करना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्य-सम्बन्धी कथन (सु. १७५५ उल्लिखित) समुच्चय-जीव के समान जानना चाहिए ।

१७५७. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सबे वि ताव होजा सत्तविहृवंधगा य अटुविहृवंधगा य १ अहवा सत्तविहृवंधगा य अटुविहृवंधगा य छविहृवंधगे य २ अहवा सत्तविहृवंधगा य अटुविहृवंधगा य ३ ।

[१७५७-प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधते हैं ?

[१७५७-उ.] गौतम ! १. सभी जीव सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं; २. अथवा बहुत से जीव सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक और कोई एक जीव छह का बन्धक होता है; ३. अथवा बहुत से जीव सात, आठ या छह कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं।

१७५८. [१] गोरहया णं भंते ! ज्ञानावरणिज्जं कर्मं बंधमाणा कति कम्पपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सब्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधगा य, ३ तिष्ण भंगा ।

[१७५८-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत से) नैरयिक ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियों बांधते हैं ?

[१७५८-१ उ.] गौतम ! १. सभी नैरयिक सात कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं २. अथवा बहुत से नैरयिक सात कर्म-प्रकृतियों के बन्धक और एक नैरयिक आठ कर्म-प्रकृतियों का बन्धक होता है, ३. अथवा बहुत से नैरयिक सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं। ये तीन भंग होते हैं।

[२] एवं जाव अणियकुमारा ।

[१७५९-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

१७५९. [१] पुढविककाइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अद्विहबंधगा वि ।

[१७५९-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) पृथ्वीकायिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधते हैं ?

[१७५९-१ उ.] गौतम ! वे सात कर्मप्रकृतियों के भी बन्धक होते हैं, आठ कर्मप्रकृतियों के भी ।

[२] एवं जाव वणस्साइकाइया ।

[१७५९-२] इसी प्रकार यावत् (बहुत) वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

१७६०. वियत्तराणं पञ्चेदिव्यतिरिक्षजोणियाण य तियभंगो— सब्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधगा य ३ ।

[१७६०] विकलेन्द्रियों और तियंज्ज-पञ्चेन्द्रियजीवों के तीन भंग होते हैं—१. सभी सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत-से सात कर्मप्रकृतियों के और कोई एक आठ कर्मप्रकृतियों का बन्धक होता है, ३. अथवा बहुत-से सात के तथा बहुत-से आठ कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं।

१७६१. भणूसा णं भंते ! ज्ञानावरणिरजस्स पुच्छा ।

गोयमा ! सब्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अद्विहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य छविहबंधए य ४ अहवा सत्त-

विहबंधगा य लघिवहबंधगा य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य अदुविहबंधए य छविवहबंधए ६ अहवा सत्तविहबंधगा य अदुविहबंधगे य छविवहबंधगा य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अदुविहबंधगा य छविवह-  
बंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य अदुविहबंधगा य छविवहबंधगा य ९, एवं ऐते णव भंगा । सेसा वाणमन्तराइया जाव वैमाणिया जहा परहथा सत्तविहांदबंधगा भणिया (सू. १७४८ [ १ ]) तहा भाणियव्वा ।

[ १७६१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) मनुष्य ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधते हैं ?

[ १७६१ उ.] गीतम ! १. सभी मनुष्य सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत-से मनुष्य सात के बन्धक और कोई एक मनुष्य आठ का बन्धक होता है, ३. अथवा बहुत-से सात के तथा आठ के बन्धक होते हैं, ४. अथवा बहुत-से मनुष्य सात के और कोई एक मनुष्य छह का बन्धक होता है, ५. बहुत-से मनुष्य सात के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं, ६. अथवा बहुत-से सात के बन्धक होते हैं तथा एक आठ का एवं कोई एक छह का बन्धक होता है, ७. अथवा बहुत-से सात के बन्धक कोई एक आठ का बन्धक और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं, ८. अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और एक छह का बन्धक होता है, ९. अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं । इस प्रकार ये कुल ती भंग होते हैं ।

शेष वाणव्यन्तरादि (से लेकर) यावत् वैमानिक-पर्यन्त जैसे (सू. १७४८-१ में) तेरथिक सात आदि कर्म-प्रकृतियों के बन्धक कहे हैं, उसी प्रकार कहने चाहिए ।

### वर्णनावरणीयकर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६२. एवं जहा णाणावरणं बंधमाणा जाहि भणिया दंसणावरणं पि बंधमाणा ताहि जीवा-  
दीया एगत-पोहत्तेहि भाणियव्वा ।

[ १७६२ ] जिस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का कथन किया, उसी प्रकार दर्णनावरणीयकर्म को बांधते हुए जीव आदि के विषय में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का कथन करना चाहिए ।

विवेचन—ज्ञान-दर्णनावरणीय कर्म-बन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण (१) समुद्दर्शजीव—सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों के बन्धक कैसे ?—जीव जब ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है, तब यदि आयुष्यकर्म का बन्ध न करे तो सात प्रकृतियाँ, यदि आयुष्य-बन्ध करे तो आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधता है और जब मोहनीय और आयु दोनों का बन्ध नहीं करता, तब छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है । ऐसे जीव सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानवर्ती हैं, जो मोहनीय और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं । केवल एक सातावेदनीय कर्मप्रकृति बांधने वाला ग्यारहवें (उपशान्त-मोहनीय), बारहवें (क्षीण-मोहनीय) और तेरहवें (सयोगी-केवली) गुणस्थानवर्ती जीव होता है । उस समय वे दो समय की स्थितिवाला सातावेदनीयकर्म बांधते हैं । उनके साम्परायिक बन्ध नहीं होता, क्योंकि उपशान्तकषाय आदि जीवों के ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का विच्छेद सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के चरम समय में ही हो जाता है । (२) नारकादि जीव—

नारक जीव ज्ञानादरणीय का बन्ध करता हुआ जब आयुकर्म का बन्ध नहीं करता तब सात का बंध करता है और जब आयुष्यकर्म का बंध करता है, तब आठ कर्मप्रकृतियों का बंधक होता है। नारक जीव में छह कर्मप्रकृतियों के बंध का विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्रकार के जीवों (दण्डकों) में पूर्वोक्त दो विकल्प (सात या आठ के बंध के) ही समझने चाहिए, क्योंकि उन्हें सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान प्राप्त न होने से उनमें तीसरा (छह प्रकृतियों के बंध का) विकल्प सम्भव नहीं है। मनुष्य का कथन सामान्य जीव को समान है। अर्थात् मनुष्य में तीनों भंग पाये जाते हैं। (३) बहुत्व की अपेक्षा से समुच्चय जीव के ज्ञानादरणीय वर्णनादरणीय कर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मबन्धन सभी जीव आयुकर्म बंध के अभाव में सात के और उसके बंध के सद्भाव में आठ कर्मप्रकृतियों के बंधक होते हैं। बहुत्व-विवक्षा में सात या आठ को बंधक तो सदैव बहुसंख्या में पाये जाते हैं, किन्तु छह के बंधक किसी काल-विशेष में ही पाये जाते हैं और किसी काल में नहीं पाये जाते, क्योंकि उसका अन्तरकाल छह महीने तक का कहा गया है। जब एक षड्विधबंधक नहीं पाया जाता, तब प्रथम भंग होता है, जब एक पाया जाता है तो द्वितीय और जब बहुत षट्विधबंधक जीव पाये जाते हैं, तब तृतीय विकल्प होता है।

### वेदनीय कर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६३. [१] वेयणिङ्गं बंधमाणे जीवे कति कर्मपरगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्त्विहबंधए वा अट्टविहबंधए वा छत्तिविहबंधए वा एगविहबंधए वा ।

[१७६३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म को वांशिता हुआ एक जीव कितनी कर्मप्रकृतियों बांधता है ?

[१७६३-१ उ.] गीतम् । सात का, आठ का, छह का अथवा एक प्रकृति का बन्धक होता है।

[२] एवं मणूसे वि ।

[१७६३-२] मनुष्य के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना चाहिए।

[३] सेसा णारगाढीया सत्त्विहबंधगा य अट्टविहबंधगा य जाव वेमाणिए ।

[१७६३-३] शेष नारक आदि सत्त्विध और अष्टविध बन्धक होते हैं, वैमानिक तक इसी प्रकार कहना चाहिए।

१७६४. जीवा णं भंते ! वेयणिङ्गं कर्म्मं० पुच्छा ।

गोयमा ! सब्बे वि ताव होउआ सत्त्विहबंधगा य अट्टविहबंधगा य एगविहबंधगा य छत्तिविहबंधगे य १ अहवा सत्त्विहबंधगा य अट्टविहबंधगा य एगविहबंधगा य छत्तिविहबंधगा य २ ।

[१७६४ प्र.] भगवन् ! बहुत जीव वेदनीयकर्म को वांशिते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों बांधते हैं ?

[१७६४ उ.] गीतम् ! सभी जीव सप्तविधबन्धक, अष्टविधबन्धक, एकप्रकृतिबन्धक और एक जीव छहप्रकृतिबन्धक होता है १, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, अष्टविधबन्धक, एकविधबन्धक या छहविधबन्धक होते हैं २।

१७६५. [१] अवसेसा जारणावोया जाव वेमाणिया जाओ णाणावरणं बंधमाणा बंधति  
ताहु माणियवद्वा ।

[१७६५-१] शेष नारकादि से वेमानिक पर्यन्त ज्ञानावरणीय को बांधते हुए कितनी प्रकृतियों  
को बांधते हैं, उतनी का बन्ध यहाँ भी कहता चाहिए ।

[२] णवरं मणूसा णं भंते । वेदणिङ्गं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडोओ बंधति ?

गोयमा ! सध्ये वि ताव होऽजा सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधगा य १ अहवा सत्तविहृबंधगा  
य एगविहृबंधगा य अटुविहृबंधए २ अहवा सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधगा य अटुविहृबंधगा य ३  
अहवा सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधगा य छविहृबंधगे य ४ अहवा सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधगा य  
छविहृबंधगा य ५ अहवा सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधए य छविहृबंधए य ६ अहवा  
सत्तविहृबंधगा य एगविहृबंधगा य अटुविहृबंधए य छविहृबंधगा य ७ अहवा सत्तविहृबंधगा य एग-  
विहृबंधगा य अटुविहृबंधगा य छविहृबंधए य ८ अहवा सत्तविहृबंधगा य एगविहृ-  
बंधगा य छविहृबंधगा य ९, एवं प्रत्य भंगा ।

[१७६५-२] विशेष यह है कि भगवन् ! मनुष्य वेदनीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-  
प्रकृतियों को बांधते हैं ?

गीतम ! सभी मनुष्य सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं १, अथवा बहुत सप्तविध-  
बन्धक, बहुत एकविधबन्धक और एक अष्टविधबन्धक होता है २, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत  
एकविधबन्धक और बहुत अष्टविधबन्धक होते हैं ३, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एक विधबन्धक  
और एक षड्विधबन्धक होता है ४, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एकविधबन्धक, बहुत षड्-  
विधबन्धक होते हैं ५, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एकविधबन्धक, एक अष्टविधबन्धक और  
एक षड्विधबन्धक, होता है ६, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एकविधबन्धक, एक अष्टविध-  
बन्धक और बहुत षड्विधबन्धक होते हैं ७, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एकविधबन्धक, बहुत  
अष्टविधबन्धक और एक षड्विधबन्धक होता है ८, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, बहुत एकविधबन्धक,  
बहुत अष्टविधबन्धक और बहुत षड्विधबन्धक होते हैं ९ । इस प्रकार नी भंग होते हैं ।

मोहनीय आदि कर्मों के बन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६६. मोहणिङ्गं बंधमाणे जीवे कति कम्मपगडोओ बंधइ ?

गोयमा ! जीवेगिवियवज्जो तियभंगो । जीवेगिविया सत्तविहृबंधगा वि अटुविहृबंधगर वि ।

[१७६६ प्र.] भगवन् ! मोहनीय कर्म बांधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधता है ?

[१७६६ उ.] गीतम ! सामान्य जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहना चाहिए ।  
जीव और एकेन्द्रिय सप्तविधबन्धक भी और अष्टविधबन्धक भी होते हैं ।

१७६७. [ १ ] जीवे एं भंते । आउआं कम्म बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?  
गोयमा ! नियमा अहु । एवं ऐरहए जाव चेमाणिए ।

[ १७६७-१ प्र.] भगवन् ! आयुकर्म को बांधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधता है ?

[ १७६७-१ उ.] गौतम ! नियम से आठ प्रकृतियाँ बांधता है । नेरयिकों से लेकर वैमानिक पर्यन्त सभी दण्डकों में इसी प्रकार कहना चाहिए ।

[ २ ] एवं पुहत्तेण वि ।

[ २ ] इसी प्रकार बहुतों के विषय में भी कहना चाहिए ।

१७६८. [ १ ] जाम-गोय-अंतरायं बंधमाणे जीवे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?  
गोयमा ! आओ जानावरणिजं बंधमाणे बंधइ ताहि भाणियष्वो ।

[ १७६८-१ प्र.] भगवन् ! नाम, गोव और अन्तराय कर्म को बांधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[ १७६८-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय को बांधने वाला जिन कर्मप्रकृतियों को बांधता है, वे ही यहाँ कहनी चाहिए ।

[ २ ] एवं ऐरहए वि जाव चेमाणिए ।

[ १७६८-२ ] इसी प्रकार नारक से लेकर वैमानिक तक कहना चाहिए ।

[ ३ ] एवं पुहत्तेण वि भाणियष्वं ।

[ १७६८-३ ] इसी प्रकार बहुतचतुर्में भी समझ लेना चाहिए ।

॥ पण्डिताएः भगवतीए उत्तीर्णम् कम्मबंधयष्वं समर्त ॥

**विवेचन—**वेदनीय कर्मबन्ध के समय आन्य प्रकृतियों का अध्य—वेदनीय बन्ध के साथ कोई जीव सात का कोई आठ का और कोई छह का बंधक होता है, उपशान्तमोह आदि वाला कोई एक ही प्रकृति का बंधक होता है । मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही कथन समझना चाहिए । नारकादि कोई सात और कोई आठ के बन्धक होते हैं ।

**बहुत जीव (समुच्चय) परं भेदं—**सभी सात के या बहुत आठ के, बहुत-से एक के, कोई एक छह का बंधक होता है । अथवा बहुत सात के, बहुत आठ के, बहुत एक के और बहुत छह के बन्धक होते हैं । शेष नारकों से वैमानिकों तक में ज्ञानावरणीयकर्मबंध के कथन के समान है । मनुष्यों के सम्बन्ध में ९ भंग मूल पाठ में उल्लिखित है ।

**मोहनीय का बन्धक समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय मोहनीय कर्मबन्ध के समय उया द के बंधक होते हैं ।** मोहनीयकर्म का बन्धक छह प्रकृतियों का बंधक नहीं हो सकता, क्योंकि द प्रकृतियों का बंध सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है, मोहनीय का बंधक नौवें गुणस्थान तक ही होता है ।

आयुकर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मों का बन्ध—आयुकर्मबन्धक जीव नियम से द प्रकृतियों का बंध करता है। २४ दण्डकवर्ती जीवों का भी इसी प्रकार कथन जाता।

नाम, गोत्र व अन्तराय कर्म के साथ अन्य कर्मों का बन्ध—ज्ञानावरणीयकर्म के साथ जिन प्रकृतियों का बंध बताया है, उन्हीं प्रकृतियों का बंध इन तीनों कर्मों के बंध के साथ होता है।<sup>१</sup>

॥ प्रज्ञापना भगवती का चौदोसरी कर्मबन्धपद समाप्त ॥



- 
१. (क) पण्डितासुत (मू. पा. टि.) भाग १, पृ. ३८५ से ३८७ तक
  - (ख) प्रज्ञापनासुत (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ४६७ से ४८४ तक
  - (ग) मलयगिरिकृति, पद २४ पर

## पंचवीसाइमं तःत्त्वालंघते यापयं

### पच्चीसवां कर्मबन्धवेदपद

जीवादि द्वारा ज्ञानावरणोयादि कर्मबन्ध के समय कर्म-प्रकृतिवेद का निरूपण

१७६९. [१] कति जं भंते ! कस्मयगडीओ पण्णसाओ ?

गोयमा ! अटु कस्मयगडीओ पण्णत्ताओ । तं अहा—ज्ञानावरणिङ्गं जाव अंतराइयं ।

[१७६९-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७६९-१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई हैं, यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अंतराय ।

[२] एवं जेरइयार्ण जाव वेमाणियाणं ।

[१७७०-१] इसी प्रकार नैरयिकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (के ये ही आठ कर्मप्रकृतियाँ कही गई हैं) ।

१७७०. [१] जीवे जं भंते ! ज्ञानावरणिङ्गं कस्मं बंधमार्ण कति कस्मयगडीओ वेदे ?

गोयमा ! यियमा अटु कस्मयगडीओ वेदे ।

[१७७०-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध करता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७७०-१ उ.] गौतम ! वह नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ।

[२] एवं जेरइए जाव वेमाणिए ।

[१७७०-२] इसी प्रकार (एक) नैरयिक से लेकर एक वैमानिक पर्यन्त (जीवों में इन्हीं आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन जानना चाहिए) ।

१७७१. एवं पुहस्तेण वि ।

[१७७१] इसी प्रकार बहुत (नारकों से लेकर बहुत वैमानिकों तक) के विषय में (कहना चाहिए) ।

१७७२. एवं वेयणिङ्गजवञ्जं जाव अंतराइयं ।

[१७७२] वेदनीयकर्म को छोड़कर शेष सभी (छह) कर्मों के सम्बन्ध में इसी प्रकार (ज्ञानावरणीयकर्म के समान जानना चाहिए) ।

१७७३. [१] जीवे जं भंते ! वेयणिङ्गं कस्मं बंधमाणे कइ कस्मयगडीओ वेए ?

गोयमा ! सलविहवेयए वा अटुविहवेयए वा चउविहवेयए वा ।

[ १७७३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म को बांधता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[ १७७३-१ उ.] गौतम ! वह सात (कर्मप्रकृतियों) का, आठ का अथवा चार (कर्मप्रकृतियों) वेदन करता है ।

[ २ ] एवं मणूसे वि । सेसा गोद्याहृ एगलेण वि पृहत्तेण वि नियमा अदु कर्मपगडीयो वेदेति, जाव वेमाणिया ।

[ १७७३-२ ] इसी प्रकार मनुष्य के (द्वारा कर्मप्रकृतियों के वेदन के) सम्बन्ध में (कहना चाहिए)। शेष नेरयिकों से लेकर वैभानिक पर्यन्त एकत्र की विवक्षा से भी और बहुत्व की विवक्षा से भी जीव नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

१७७४. [ १ ] जीवा णं भंते ! वेदणिक्ञं कर्म्म बन्धमाणा कति कर्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा । सब्वे वि ताव होव्या अदुविहवेदगाय चउविवहवेदगाय १ अहवा अदुविहवेदगा य चउविवहवेदगाय सत्तविहवेदगाय २ अहवा अदुविहवेदगाय चउविवहवेदगाय सत्तविहवेदगाय ३ ।

[ १७७४-१ प्र.] भगवन् ! बहुत जीव वेदनीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ?

[ १७७४-१ उ.] गौतम ! १. सभी जीव वेदनीयकर्म को बांधते हुए आठ या चार कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, २. अथवा बहुत जीव आठ या चार कर्मप्रकृतियों के और कोई एक जीव सात कर्मप्रकृतियों का वेदक होता है, ३. अथवा बहुत जीव आठ, चार या सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं ।

[ २ ] एवं मणूसा वि भाणियच्चा ।

[ १७७४-२ ] इसी प्रकार बहुत-से मनुष्यों द्वारा वेदनीयकर्मबन्ध के समय वेदन सम्बन्धी कथन करना चाहिए ।

॥ पण्णवण्णाए भगवतीए पंचवीसइमं कर्मबन्धवेदपयं समतं ॥

**विवेचन—कर्मबन्ध** के समय कर्मवेदन को चर्चा के पाँच निष्कर्ष—१. समुच्चय जीव के सम्बन्ध में उत्तिलिखित वक्तव्यतानुसार नैरयिक, असुरकुमारादि भवनपति, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यक्चर्चर्चेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैभानिक भी एकत्र और बहुत्व की विवक्षा से ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध करते हुए नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

२. इसी प्रकार वेदनीय को छोड़कर शेष सभी कर्मों (दर्शनावरणीय, नाम, गोत्र, आयुष्य, मोहनीय और अन्तराय) के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए ।

३. समुच्चय जीव एकत्र और बहुत्व की श्रेष्ठता से वेदनीयकर्म का बन्ध करते हुए सात, आठ प्रयवा चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं । इसका कारण यह है कि उपशान्तमोह और क्षीणमोह जीव सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं, क्योंकि उनके मोहनीयकर्म का वेदन नहीं होता । मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसम्पराय (दसवें गुणस्थान) पर्यन्त जीव आठों कर्मप्रकृतियों का वेदन

करते हैं और सधोगी केवली चार अवाति कर्मप्रकृतियों का ही वेदन करते हैं, क्योंकि उनके चार घातिकमों का उदय नहीं होता ।

४. समुच्चय जीव के समान एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से मनुष्य के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए । अर्थात् एक या बहुत मनुष्य वेदनीयकर्म का बन्ध करते हुए सात, आठ या चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

५. मनुष्य के सिवाय शेष सभी नारक आदि जीव एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से वेदनीयकर्म का बन्ध करते हुए नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।<sup>१</sup>

॥ प्रज्ञापना भगवती का पञ्चोत्तर्ण कर्मबन्धवेदपद सम्पूर्ण ॥



१. (क) पण्णवणासुतं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ३८८  
 (ख) प्रज्ञापनासूत्र भाग ५ (प्रभेयबोधिनी टीका) पृ. ४८९-४९०

# छट्टीसाइमं कर्मवेयबंधपयं

## छट्टीसवाँ कर्मतेदबंधपद

ज्ञानावरणीयादि कर्मों के वेदन के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७७५. [१] कति णं भंते ! कस्मपगडोओ पण्ठत्ताओ ?

गोयमा ! अद्व कस्मपगडोओ पण्ठत्ताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७७५-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनाँ कही हैं ?

[१७७५-१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही हैं यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

[२] एवं णेरइयाणं जात्व वैमाणियाणं ।

[१७७५-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों तक आठ कर्मप्रकृतियाँ होती

हैं ।

१७७६. जोवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कस्मं वेदेमाणे कति कस्मपगडोओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्त्विहबंधए वा अद्विहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा ।

[१७७६ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

[१७७६ उ.] गौतम ! वह सात, आठ, छह या एक कर्मप्रकृति का बंध करता है ।

१७७७. [१] णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कस्मं वेदेमाणे कति कस्मपगडोओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्त्विहबंधए वा अद्विहबंधए वा ।

[१७७७-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को वेदता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

[१७७७-१ उ.] गौतम ! वह सात या आठ कर्मप्रकृतियों का बंध करता है ।

[२] एवं जाव वैमाणिए । णवरं मणूसे जहा जोवे (सु. १७७६) ।

[१७७७-२] इसी प्रकार (असुरकुमारादि भवनदासी से लेकर) वैमानिक पर्यन्त ज्ञानना चाहिए । परन्तु मनुष्य का कथन (सु. १७७६ में उल्लिखित) सामान्य जीव के कथन के समान है ।

१७७८. जोवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कस्मं वेदेमाणा कति कस्मपगडोओ बंधति ?

गोयमा ! सब्वे वि ताव होज्जा सत्त्विहबंधगा य अद्विहबंधगा य १ अहवा सत्त्विहबंधगा य अद्विहबंधगा य छविहबंधए य २ अहवा सत्त्विहबंधगा य अद्विहबंधगा य छविहबंधगा य ३ अहवा सत्त्विहबंधगा य अद्विहबंधगा य एगविहबंधगे य ४ अहवा सत्त्विहबंधगा य अद्विहबंधगा य

एगविहबंधगा य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य छविहबंधए य एगविहबंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य छविहबंधए य एगविहबंधगा य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य छविहबंधगा य एगविहबंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य छविहबंधगा य एगविहबंधगा य ९, एवं एते नव भंगा ।

[१७७८ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१७७८ उ.] गौतम ! १. सभी जीव सात या आठ कर्मप्रकृतियों के बंधक होते हैं, २. अथवा बहुत जीव सात या आठ के बंधक होते हैं और एक छह का बंधक होता है, ३. अथवा बहुत जीव सात, आठ और छह के बंधक होते हैं, ४ अथवा बहुत जीव सात के और आठ के तथा कोई एक प्रकृति का बंधक होता है, ५. अथवा बहुत जीव सात, आठ और एक के बंधक होते हैं, ६. या बहुत जीव सात के तथा आठ के, एक जीव छह का और एक जीव एक का बंधक होता है, ७. अथवा बहुत जीव सात के या आठ के, एक जीव छह का और बहुत जीव एक के बंधक होते हैं, ८. अथवा बहुत जीव सात के, आठ के, छह के तथा एक के बंधक होते हैं । ९. अथवा बहुत जीव आठ के, सात के, छह के और एक के बंधक होते हैं । इस प्रकार ये कुल नौ भंग हुए ।

१७७९. अवसेसाणं एगिदिय-मणूसवरजाणं तियभंगो जाव वैमाणियाणं ।

[१७७९] एकेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों को छोड़कर शेष जीवों प्रावत् वैमानिकों के तीन भंग कहने चाहिए ।

१७८०. एगिदिया जं सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य ।

[१७८०] (बहुत-से) एकेन्द्रिय जीव सात के और आठ के बन्धक होते हैं ।

१७८१. मणूसाणं पुरुषा ।

गोपमा ! सच्चे विताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य छविहबंधए य, एवं छविहबंधएण वि समं दो भंगा ५ एगविहबंधएण वि समं दो भंगा ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधए य छविहबंधए य चउभंगो ११ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधए य एगविहबंधए य चउभंगो १५ अहवा सत्तविहबंधगा य छविहबंधगे य एगविहबंधए य चउभंगो १९ अहवा सत्तविहबंधगा य अटुविहबंधए य छविहबंधए य एगविहबंधए य भंगा अहु २७ एवं एते सत्तावीसं भंगा ।

[१७८१ प्र.] पूर्ववत् मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रश्न है ।

[१७८१ उ.] गौतम ! (१) सभी मनुष्य सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं, (२) अथवा बहुत-से सात और एक आठ कर्मप्रकृति बांधता है, (३) अथवा बहुत-से मनुष्य सात के और एक छह का बन्धक है, (४-५) इसी प्रकार छह के बन्धक के साथ भी दो भंग होते हैं, (६-७) तथा एक के बन्धक के साथ भी दो भंग होते हैं, (८-११) अथवा बहुत-से सात के बन्धक, एक आठ का और एक छह का बन्धक, यों चार भंग हुए, (१२-१५) अथवा बहुत-से सात के बन्धक, एक आठ का और एक मनुष्य एक प्रकृति का बन्धक, यों चार भंग हुए, (१६-१९) अथवा बहुत-से सात के बन्धक तथा

एक छह का और एक, एक का बन्धक, इसके भी चार भंग हैं, (२०-२७) अथवा बहुत-से सात के बन्धक, एक आठ का, एक छह का और एक, एक कर्मप्रकृति का बन्धक होता है, यों इसके आठ भंग होते हैं । कुल मिलाकर ये सत्ताईस भंग होते हैं ।

१७८२. एवं जहा ज्ञानावरणिङ्गं तदा दरिसणावरणिङ्गं वि अंतराइयं पि ।

[ १७८३ ] जिस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धक का कथन किया, उसी प्रकार दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म के बन्धक का कथन करना चाहिए ।

**विवेचन** - प्रस्तुत पद में कर्मसिद्धांत के इस पहलू पर विचार किया गया है कि कौन जीव किस-किस कर्म का वेदन करता हुआ किस-किस कर्म का बन्ध करता है ? अथत् किस कर्म का उदय होने पर किस कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार कर्मोदय और कर्मबन्ध के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है ।

**ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन और बन्ध**-- (१) कोई जीव आयु को छोड़कर ७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, (२) कोई आठों का बन्ध करता है, (३) कोई आयु और मोह को छोड़कर छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, (४) उपशान्तमोह और क्षीणमोह केवल एक वेदनीयकर्म का बन्ध करता है, (५) सयोगीकेवलो ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन ही नहीं करते ।

तेरयिक से लेकर द्व्यमानिक तक पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञानावरण का वेदन करते हुए ७ या ८ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करते हैं ।

**मनुष्य सम्बन्धी कथन**--मनुष्य सामान्य जीववत् ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ सात, आठ, छह या एक प्रकृति का बन्ध करता है ।

**बहुत्व की विवक्षा से --बहुत समुच्चय जीवों के विषय में नौ भंग**

(१) सभी ज्ञानावरणीयकर्मवेदक जीव ७ या ८ कर्मों के बन्धक होते हैं ।

(२) अथवा बहुत-से सात के बन्धक, बहुत-से आठ के बन्धक और कोई एक जीव छह का बन्धक होता है । (सूक्ष्मसम्पराय की अपेक्षा से) ।

(३) बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं ।

(४) अथवा बहुत-से सात के और बहुत-से आठ के बन्धक होते हैं और कोई एक जीव (उपशान्तमोह या क्षीणमोह) एक का बन्धक होता है ।

(५) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत से एक के बन्धक होते हैं ।

(६) अथवा बहुत-से सात के और बहुत-से आठ के बन्धक होते हैं तथा एक जीव छह का और एक जीव एक का बन्धक होता है ।

(७) अथवा बहुत-से जीव सात के और बहुत-से जीव आठ के बन्धक होते हैं तथा एक छह का बन्धक होता है एवं बहुत-से (उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान वाले) एक के बन्धक होते हैं ।

(८) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के एवं बहुत-से छह के बन्धक होते हैं और कोई एक जीव एक का बन्धक होता है ।

(९) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के, बहुत-से छह के और बहुत-से एक के बन्धक होते हैं।

इस प्रकार समुच्चय जीवों के विषय में ये (उपर्युक्त) ९ भंग होते हैं। छह और एक प्रकृति के बन्ध का तथा इन दोनों के अभाव में सात अथवा आठ प्रकृतियों के बन्ध का कारण पूर्वोक्त युक्ति से समझ लेना चाहिए।

एकेन्द्रियों और मनुष्यों के सिद्धाय शेष नैरायिक आदि दण्डकों के तीन अंग होते हैं। एकेन्द्रियों में कोई विकल्प (भंग) नहीं होता, अर्थात्—वे सदैव बहुत संख्या में होते हैं, इसलिए बहुत सात के और बहुत आठ के बन्धक ही होते हैं। मनुष्यों में २७ भंगों का चार्ट इस प्रकार है— (ब. से बहुत और ए. से एक समझना चाहिए।)

अम.	१	२	३	४	५	६	७	= असंयोगी = १ भंग
१	सभी	ब. एक	ब. ब.	ब. एक	ब. ब.	ब. एक	ब. ब.	= द्विसंयोगी = ५ भंग
	७	७	८	८	७	८	७	कुल ७ भंग
	८	९	१०	११				
२	ब. एक एक	ब. ब. ब.	ब. ब. एक	ब. एक ब.				= आठ और छह बन्धक के त्रिकांशयोगी भंग ४
	७	८	६	७	८	६	७	८
	१२	१३	१४	१५				
३	ब. एक एक	ब. ब. ब.	ब. ब. एक	ब. एक ब.				= आठ प्रौर एक के बन्धक के त्रिकांशयोगी भंग ४
	७	८	१	७	८	१	७	८
	१६	१७	१८	१९				
४	ब. एक एक	ब. ब. ब.	ब. ब. एक	ब. एक ब.				= सात और एक के बन्धक के त्रिकांशयोगी भंग ४
	७	६	१	७	६	१	७	६
	२०	२१	२२	२३				
५	ब. ए. ए. ए.	ब. ब. ब. ब.	ब. ब. ए. ए.	ब. ब. ब. ए.				
	७	८	६	७	८	६	७	८
	२४	२५	२६	२७				= ८, ६, १ बन्धक त्रिकांशयोगी भंग ८
	ब. ब. ए. ब.	ब. ए. ब. ब.	ब. ए. ए. ब.	ब. ए. ब. ए.				
	७	८	६	७	८	६	७	८

वेदनीयकर्म के वेदन के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्रस्तुत्या।

१७८३- [१] जीवे ण भंते ! वेयणिज्ञं कर्म वेदेमाणे कति कर्मपगडोऽमो बन्धइ ?

गोवसा ! सत्त्विहबन्धए वा अहुविहबन्धए वा अस्त्विहबन्धए वा एगविहबन्धए वा अबन्धए वा ।

[१७८३-१ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव वेदनीयकर्म का वेदन करता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

१. (क) पणवणासुत भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३८९

(ख) प्रज्ञापना, मलय, वृक्षि, (अभिधान राजेन्द्रकोष भा. ३) पद २६, पृ. २९४-२९५

(ग) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५०१ से ५११ तक

[ १७८३-१ उ.] गौतम ! वह सात, आठ, छह या एक का बन्धक होता है, अथवा अबंधक होता है ।

[ २ ] एवं मण्डे वि । अवसेसा जारगादीया सत्तविहृबंधगा य अदुविहृबंधगा य । एवं जाव वेमाणिए ।

[ १७८३-२ ] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी समझ लेना चाहिए । शेष नारक आदि वैमानिक पर्यन्त सात के बन्धक हैं या आठ के बन्धक हैं ।

१७८४. [ १ ] जीवा णं भंते ! वेदणिज्ञं कस्मं वेदेमाणा क्ति कस्मपगडीभ्रो खंधंसि ?

गोयमा ! सब्दे वि ताव होज्जा सत्तविहृबंधगा य अदुविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य १ अहवा सत्तविहृबंधगा य अदुविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य छविहृबंधगे य २ अहमा सत्तविहृबंधगा य अदुविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य छविहृबंधगा य ३ अबंधगेण वि समं दो भंगा भाणियव्वा ५ अहवा सत्तविहृबंधगा य अदुविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य छविहृबंधए य अबंधए य अवभंगे ९, एवं ऐते यद्य भंगा ।

[ १७८४-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियाँ बाधिते हैं ?

[ १७८४-१ उ.] गौतम ! १. सभी जीव सात के, आठ के और एक के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत जीव सात, आठ या एक के बन्धक होते हैं और एक छह का बन्धक होता है । ३. अथवा बहुत जीव सात, आठ, एक तथा छह के बन्धक होते हैं, ४-५. अबंधक के साथ भी दो भंग कहने चाहिए, ६-९. अथवा बहुत जीव सात के, आठ के, एक के बन्धक होते हैं तथा कोई एक छह का बन्धक होता है तथा कोई एक अबंधक भी होता है, यों चार भंग होते हैं । कुल मिलाकर ये नी भंग हुए ।

[ २ ] एवंविहृयाणं अभंगयं ।

[ १७८४-२ ] एकेन्द्रिय जीवों को इस विषय में अभंगक जानना चाहिए ।

[ ३ ] जारगादीयों तियभंगो जाव वेमाणियाणं । णवरं मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सब्दे वि ताव होज्जा सत्तविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य १ अहमा सत्तविहृबंधगा य एवंविहृबंधगा य छविहृबंधए य अदुविहृबंधए य अबंधए य, एवं ऐते सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा जहा किरियासु पाणाइवायविरतस्स (सु. १६४३) ।

[ १७८४-३ ] नारक आदि वैमानिकों तक के तीन-तीन भंग कहने चाहिए ।

[ प्र.] मनुष्यों के विषय में वेदनीयकर्म के वेदन के साथ कर्मप्रकृतियों के बन्ध की पृच्छा है ।

[ ३.] गौतम ! १—बहुत-से सात के अथवा एक के बन्धक होते हैं । २. अथवा बहुत-से मनुष्य सात के और एक के बन्धक तथा कोई एक छह का, एक आठ का बन्धक है या फिर अबंधक होता है । इस प्रकार ये कुल मिलाकर सत्ताइस भंग (सु. १६४३ में उल्लिखित हैं) जैसे—प्राणातिपात-विरत की क्रियाओं के विषय में कहे हैं, उसी प्रकार कहने चाहिए ।

**विवेचन**—वेदनीयकर्म के वेदन के अणों में अन्य कर्मों का बन्ध—(१) एक जीव और मनुष्य—सात, आठ, छह या एक प्रकृति का बन्धक होता है अथवा अबन्धक होता है। तात्पर्य यह है कि सयोगीकेवली, उपशान्तमोह और क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए केवल एक वेदनीय प्रकृति का बन्ध करते हैं, किंतु किसी सयोगीकेवली में भी वेदनीयकर्म का उदय और बंध पाया जाता है। अयोगीकेवली अबन्धक होते हैं। उनमें वेदनीयकर्म का वेदन होता है, किन्तु योगों का भी अभाव हो जाने से उसका या अन्य किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता।

(२) मनुष्य के सिवाय नारक से वैमानिक तक वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए ७ या ८ रुमप्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

(३) बहुत से जीव—तीन भंग	१	२	३	।
	सभी	ब. ब. ब. ए.	ब. ब. ब. ब.	तीन भंग
	७ द १	७ द १ ६	७ द १ ६	

अबन्धक के साथ एकत्व—बहुत्व को अपेक्षा = दो भंग (एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा)

अथवा ब. ब. ब. ए. ए.

७ द १ ६ शब्द. = ४ भंग = कुल ९ भंग समुच्चय जीवों के एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा।

(४) एकेन्द्रिय तेज़... कोई विज्ञान नहीं जहु जैव बहु तेजिण्ड होते हैं।

७ द

(५) मनुष्य को छोड़कर नारक से वैमानिक तक = पूर्ववत् तीन भंग।

(६) मनुष्य... (एकत्व या बहुत्व की अपेक्षा) = २७ भंग (ज्ञानावरणोयकम-बन्धवत्)\* आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के सम्बन्ध में वेदनीय कर्मवत्।

### आयुष्यादि कर्मवेदन के समय कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्रकृपणा

१७८५. एवं जहा वेदणिङ्गं तहा आउये णामं गोयं च भाणियश्चं।

[१७८५] जिस प्रकार वेदनीयकर्म के वेदन के साथ कर्मप्रकृतियों के बन्ध का कथन किया गया है, उसी प्रकार आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के विषय में भी कहना चाहिए।

१७८६. मोहणिङ्गं वेदेमाणे जहा वंधे णामावरणिङ्गं तहा भाणियश्चं (सु. १७८५-६१)।

[१७८६] जिस प्रकार (सु. १७८५-६१ में) ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति के बन्ध का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ मोहनीयकर्म के वेदन के साथ बन्ध का कथन करना चाहिए।

१. (क) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. पृ. ५, ५१३ से ५१७ तक

(ख) प्रज्ञापना, मलय. वृत्ति. (अभिधानराजेन्द्रकोष भा. ३) पद २६, पृ. २९६

(ग) पण्णवणासुत्त भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. ३९०

॥ पणवणाए भगवद्वै छब्बीसइमं कर्मवेयवंधपयं समतं ॥

विवेचन — मोहनीयकर्मवेदन के साथ कर्मवन्ध—ज्ञानावरणीय के समान अर्थात्—मोहनीय-कर्म का वेदन करता हुआ जीव ७,८ या ६ का बन्धक होता है, क्योंकि सूक्ष्मसम्पराय अवस्था में भी मोहनीयकर्म का वेदन होता है, मगर वन्ध नहीं होता। इस प्रकार का कथन मनुष्य पद में भी करना चाहिए। नारक आदि पदों में सूक्ष्मसम्परायस्था प्राप्ति न होने से वे ७ या ६ के ही बन्धक होते हैं।

बहुत्व की अपेक्षा से—जीव पद में पूर्ववद् तीन भंग—	१      २      ३
ब. व.   ब. ए. व. व.	
७ ८ ६   ७ ६	७ ६

नारकों और भयनदातो वेदों में—| ब. व. ए. | = तीन भंग  
७ ८ ६

पृथ्वीकायावि स्थावरों में—प्रथम भंग—| व. व.  
७ ८

विकलेन्द्रिय से वैमानिक तक में—नारकों के समान तीन भंग।

मनुष्यों में—नी भंग ज्ञानावरणीयकर्म के साथ बन्धक के समान।<sup>१</sup>

॥ प्रज्ञापना भगवती का छब्बीसवाँ पद समाप्त ॥



१. (क) पणवणासुतं भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३३०

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेशबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५१७ से ५१९ तक

(ग) प्रज्ञापना, (मलय. टीका) पद २६ (अभि. राज. कोष भा. ३, पृ. २९६)

# सत्तावीसाङ्गमं कर्मवेयवेयाग्रयं

## सत्ताईसवाँ कर्मवेदवेदकपद

ज्ञानावरणीयादिकर्मों के वेदन के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के वेदन का निरूपण

१७८७. [१] कति णं भंते ! कस्मपगडीओ पणत्ताओ ?

गोयमा ! श्रद्धु ! तं जहा— णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७८७-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७८७-१ उ.] गोतम ! वे आठ कही गई हैं यथा ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

[२] एवं णोरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७८७-२] इसी प्रकार नारकों (से लेकर) गातत् वैमानिकों तक (के शास्त्र कर्मप्रकृतियाँ हैं ।

१७८८. [१] जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कस्मं वेदेमाणे कति कस्मपगडीओ वेदेह ?

गोयमा ! सत्तविहवेदए वा श्रद्धविहवेदए वा ।

[१७८८-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७८८-१ उ.] गोतम ! वह सात या आठ (कर्मप्रकृतियों) का वेदक होता है ।

[२] एवं मणूसे वि । अवसेसा एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नियमा श्रद्धविहकस्मपगडीओ वेदेति जाव वेमाणिया ।

[१७८८-२] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी जानना चाहिए । (मनुष्य के अतिरिक्त) शेष सभी जीव (नारक से लेकर) वैमानिक पर्यन्त एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से नियमतः आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

१७८९. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कस्मं वेदेमाणा कति कस्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! सठवे वि ताव होजआ श्रद्धविहवेदगा १ अहवा श्रद्धविहवेदगा य सत्तविहवेदगे य २ अहवा श्रद्धविहवेदगा य सत्तविहवेदगा य ३ । एवं मणूसा वि ।

[१७८९ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ?

[१७८९ उ.] गोतम ! १. सभी जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं २. अथवा कई जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं और कोई एक जीव सात कर्मप्रकृतियों का वेदक होता है,

३. अथवा कई जीव आठ और कई सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यपद में भी ये तीन भंग होते हैं।

१७९०. वरिसणावरणिञ्जं अंतराह्यं च एवं वेद भाणियत्वं ।

[१७९०] दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के वेदन के विषय में भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

१७९१. वेदणिञ्ज-आठश-णाम-गोयाङ्ग वेदमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेह ?

गोयमा ! जहा अधगवेयगस्स वेदणिञ्जं (सु. १७७३-७४) तहा भाणियत्वं ।

[१७९१ प्र.] भगवन् ! वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७९१ उ.] गौतम ! जैसे (सु. १७७३-७४ में) वधक-वेदक के वेदनीय का कथन किया गया है, उसी प्रकार वेद-वेदक के वेदनीय का कथन करना चाहिए।

१७९२. [१] जीवे यं भस्ते ! मोहणिञ्जं कम्म इऽभाये फति कम्मपगडीओ वेदेह ?

गोयमा ! णियमा अहु कम्मपगडीओ वेदेह ।

[१७९२-१ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७९२-१ उ.] गौतम ! वह नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ।

[२] एवं जेरइए जाव वेमाणिए ।

[१७९२-२] इसी प्रकार नारक से लेकर वैमानिक पर्यन्त (अधिविध कर्मप्रकृतियों का) वेदन होता है।

[३] एवं पुहत्तेण वि ।

[१७९२-३] इसी प्रकार बहुत्व की विवक्षा से भी सभी जीवों और नारक से वैमानिक पर्यन्त समझना चाहिए।

॥ पण्णवणाए मगवतीए सत्तावीसतिमं कम्मवेदवेदयपयं समत्तं ॥

**चित्रेचन—वेद-वेदक चर्चा का निष्कर्ष—** इस पद का प्रतिपाद्य यह है कि जीव ज्ञानावरणीय आदि किसी एक कर्म का वेदन करता हुआ, अन्य कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

(१) ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ कोई जीव या कोई मनुष्य यानी उपशान्तमोह या क्षीणमोह मनुष्य मोहनीयकर्म का वेदक न होने से सात कर्मप्रकृतियों का वेदक होता है, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मसम्पराय तक सभी जीव या मनुष्य आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।

(२) बहुत जीवों की अपेक्षा से तीन भंग होते हैं—(१) सभी जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, (२) अथवा कई आठ के वेदक होते हैं और कोई एक सात का वेदक होता है, (३) अथवा कई आठ के और कई सात के वेदक होते हैं।

(३) दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म-सम्बन्धी वक्तव्यता भी ज्ञानावरणीय के समान कहनी चाहिए।

(४) वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन कर्मों का वेदन करता हुआ जीव बन्ध-वेदकवत् आठ, सात या चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

(५) मोहनीयकर्म का वेदन करता हुआ समुच्चय जीव व नैरायिक से वेमानिक तक के जीव एकत्र या बहुत्व की अपेक्षा से नियमतः आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।<sup>१</sup>

॥ प्रश्नापना भगवती का सत्ताइसवाँ कर्मवेदवेदकषद सम्पूर्ण ॥



१. (क) यज्ञवणासुतं (मूलपाठ-ठिप्पण) भा. १, पृ. ३९१
- (ख) प्रश्नापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५२३ से ५२७ तक
- (ग) प्रश्नापना मलय. चृति, पद २७, प्रभिधान राजेन्द्र कोष भा. ३, पृ. २९४-२९५

# अट्ठावीसङ्गमं आहारपदं

## अष्टाईस्थकौं आहारपदं

### प्राथमिक

- ❖ प्रज्ञापनासूत्र के आहारपद में सांसारिक जीवों और सिद्धों के आहार-ग्रनाहार की दो उद्देशकों के बारह और तेरह द्वारों के माध्यम से विस्तृत चर्चा की गई है।
- ❖ आत्मा मूल स्वभावतः निराहारी है, क्योंकि शुद्ध-आत्मा (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा) के शरीर, कर्म सोह आदि नहीं होते। निरंजन-निराकार होने से उसे आहार की कदापि इच्छा नहीं होती। जैसा सिद्धों का स्वरूप है, वैसा ही निश्चयनय दृष्टि से आत्मा का स्वरूप है। अतः विविध दार्शनिकों, साधकों और विचारकों के मन में प्रश्न का उद्भव हुआ कि जब आत्मा ग्रनाहारी है तो भूख क्यों लगती है? मनुष्य, पशु-पक्षी आदि क्षुधानिवृत्ति के लिए आहार क्यों करते हैं? यदि शरीर और क्षुधावेदनीय आदि कर्मों के कारण प्राणियों को आहार करना पड़ता है, तब ये प्रश्न उठते हैं कि सिद्ध तो ग्रनाहारक होते हैं, किन्तु नारक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डक-वर्ती जीवसचित्त, अचित्त या मिथ, किस प्रकार का आहार करते हैं? उन्हें आहार की इच्छा होती है या नहीं? इच्छा होती है तो कितने काल के पश्चात् होती है? कौनसा जीव किस वस्तु का आहार करता है? क्या वे सर्व आत्मप्रदेशों से आहार लेते हैं या एकदेश से? क्या वे जीवन में बार-बार आहार करते हैं या एक बार? वे कितने भाग का आहार करते हैं, कितने भाग का आस्वादन करते हैं? क्या वे ग्रहण किये हुए सभी पुद्गलों का आहार करते हैं? गृहीत आहार-पुद्गलों को वे किस रूप में परिणत करते हैं? क्या वे एकेन्द्रियादि के शरीर का आहार करते हैं? तथा उनमें से कौन लोमाहारी है, कौन प्रक्षेपाहारी (कवलाहारी) है तथा कौन शोज-आहारी है, कौन मनोभक्षी है? ये और इनसे सम्बन्धित आहार- सम्बन्धी चर्चाएँ इस पद के दो उद्देशकों में से प्रथम उद्देशक में की गई हैं।
- ❖ इसके प्रतिरिक्त आहार-सम्बन्धों कई प्रश्न अवगिष्ठ रह जाते हैं कि एक या अनेक जीव या चौबीस दण्डकवर्ती सभी जीव आहारक ही होते हैं या कोई जीव ग्रनाहारक भी होता है/ होते हैं? यदि कोई जीव किसी अवस्था में ग्रनाहारक होता है तो किस कारण से होता है? इन दो प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में भव्यता, संज्ञा, लेख्या, दृष्टि, संयम, कषाय, जाम-ज्वान, योग, उपयोग, वेद, शरीर, पर्याप्ति, इन १३ द्वारों के मध्यम से आहारक-ग्रनाहारक की सांगोपांग चर्चा द्वितीय उद्देशक में की गई है।
- ❖ प्रथम उद्देशक के उत्तरों को देखते हुए बहुत-से रहस्यमय एवं गृह तथ्य साधक के समक्ष नमाश्वान के रूप में मुखरित होते हैं। जैसे कि वैक्रियशरीरधारी का आहार अचित्त ही

होता है और श्रीदारिकशरीरधारी का आहार सचित, अचित और मिथ तीनों प्रकार का होता है। जो आहार ग्रहण किया जाता है, वह दो प्रकार का है—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित। अपनी इच्छा हो और आहार लिया जाए, वह आभोगनिर्वर्तित तथा बिना भोगनिर्वर्तित। अपनी इच्छा हो और आहार लिया जाए, वह अनाभोगनिर्वर्तित आहार है। इच्छापूर्वक आहार लेने में ही इच्छा के आहार हो जाए, वह अनाभोगनिर्वर्तित आहार है। परन्तु इच्छा के बिना लिया जाने वाला विभिन्न जीवों की पृथक्-पृथक् काल-मर्यादाएँ हैं। परन्तु इच्छा के बिना लिया जाने वाला विभिन्न जीवों की स्पष्टि किया गया है कि कौन जीव किस आहार तो निरन्तर लिया जाता है। फिर यह भी स्पष्ट किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार का आहार लेता है? वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श मुण्डों से युक्त आहार लिया जाता है उसमें प्रकार का आहार लेता है? नारकों द्वारा लिया जाने वाला आहार शुभवर्णादि वाला है और देवों भी बहुत विविधता है। नारकों द्वारा लिया जाने वाला आहार शुभवर्णादि वाला है। कोई ६ दिशा से तथा कोई तीन, चार द्वारा लिया जाने वाला आहार शुभवर्णादि वाला है। आहाररूप में ग्रहण किए गये पुद्गल पांच इन्द्रियों के रूप पांच दिशाओं से आहार लेता है। आहाररूप में ग्रहण किए गये पुद्गल पांच इन्द्रियों के रूप में तथा अंगोंपांगों के रूप में परिणत होते हैं। शरीर भी आहारानुरूप होता है। आहार के लिए में तथा अंगोंपांगों के रूप में परिणत होते हैं। शरीर भी आहारानुरूप होता है। तथा उनके लिये जाने वाले पुद्गलों का असंख्यात्मक भाग आहाररूप में परिणत होता है तथा उनके अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है।

❖ अन्तिम प्रकरण में यह भी बताया गया है कि तीव्रीस दण्डकवर्ती जीवों में से कौन लोमाहार अन्तिम प्रकरण में यह भी बताया गया है कि कौन लोमाहार और कौन प्रक्षेपाहार (कवलाहार) करता है? तथा किसके ओज-आहार होता है, किसके मनोभक्षण आहार होता है?

❖ कौन जीव किस जीव के शरीर का आहार करता है? इस तथ्य को यहाँ स्थल रूप से प्रस्तुत किया गया है। सूक्ष्मकृतांगसूत्र श्रुत. २, घ. ३. आहारपरिज्ञा-अध्ययन में तथा भगवतीसूत्र में इस तथ्य की विशेष विश्लेषणपूर्वक चर्चा की गई है कि पृथ्वीकायिकादि विभिन्न जीव वनस्पतिकाय आदि के अचित शरीर को विष्वस्त करके आहार करते हैं, गर्भस्थ मनुष्य आदि जीव अपने माता की रज और पिता के शुक्र आदि का आहार करते हैं।

❖ स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में तिर्यङ्गों, मनुष्यों और देवों का चार-चार प्रकार का आहार बताया है जैसे—तिर्यङ्गों का चार प्रकार का आहार—(१) कंकोपम, (२) विलोपम, (३) पाण (मातंग) मांसोपम और (४) पुत्रमांसोपम। मनुष्यों का चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खादिम और स्वादिम। देवों का चार प्रकार का आहार है—वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान्, और स्पर्शवान्।<sup>१</sup>

❖ आहार की अभिलाषा में देवों की आहाराभिलाषा, जिसमें वैमानिक देवों की आहाराभिलाषा बहुत लम्बे काल की, उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष तक की बताई गई है। इसलिए ज्ञात होता है कि चिरकाल के बाद होने वाली आहारेच्छा किसी न किसी पूर्वजन्म कृत संयम-साधना या पुण्यकार्य का सुफल है।<sup>२</sup>

१. पण्डितानुत्तं (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ३९३ से ४०५

२. स्थानांगसूत्र, स्था. ४

३. पण्डितानुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३९७-९८

- ❖ मनुष्य चाहे तो तपश्चर्या के द्वारा दीर्घकाल तक निराहार रह सकता है और अनाहारकता ही रत्नवयसाधना का अन्तिम लक्ष्य है। इसी के लिए संयतासंयत तथा संयत होकर अन्त में नो-संयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत बनता है। यह इसके संयतद्वार में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।<sup>१</sup>
- ❖ कुल मिलाकर आहार-सम्बन्धी चर्चा साधकों और श्रावकों के लिए ज्ञानबङ्क, रसप्रद, आहार-विज्ञान-सम्मत एवं आत्मसाधनाप्रेरक है।



# अट्ठावीसाङ्गमं आहारपयं

## अङ्गाईसवौ आहारपद

पढ़सो उद्देशयो : प्रथम उद्देशक

### प्रथम उद्देशक में उल्लिखित ग्यारह द्वार

१७९३. सचित्ता १ अऽहारद्वौ २ केवति ३ कि वा वि ४ सब्बओ चेव ५ ।

कश्मिरां ६ सब्बे खलु ७ परिणामे चेव ८ खोद्दुच्चे ॥ २१७ ॥

एग्निदिसरीरादी ९ लोमाहारे १० तहेव मणभक्षी ११ ।

एतेसि तु पयाणं विचारणा होइ कायच्चा ॥ २१८ ॥

[१७९३ गाथार्थ-] [प्रथम उद्देशक में] इन (निम्नोक्त) ग्यारह पदों पर विस्तृत रूप से विचारणा करनी है—(१) सचित्ताहार, (२) आहारार्थी, (३) कितने काल से (आहारार्थ) ?, (४) क्या आहार (करते हैं ?), (५) सब प्रदेशों से (सर्वतः), (६) कितना भाग ?, (७) (क्या) सभी आहार (करते हैं ?) और (८) (सर्वतः) परिणत (करते हैं ?) (९) एकेन्द्रियशरीरादि, (१०) लोमाहार एवं (११) मनोभक्षी (ये ग्यारह द्वार जानने चाहिए) ॥ ॥ २१७-२१८ ॥

**विवेचन—** प्रथम उद्देशक में आहार-सम्बन्धी ग्यारह द्वार—प्रस्तुत दो संग्रहणी-गाथाओं द्वारा प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य ग्यारह द्वारों (पदों) का उल्लेख किया गया है। प्रथमद्वार—इसमें नीरयिक से लेकर वैमानिक तक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं कि वे सचित्ताहारी होते हैं, अचित्ताहारी होते हैं या मिश्राहारी ?, द्वितीयद्वार से अष्टदशद्वार तक—क्रमशः (२) नारकादि जीव आहारार्थी हैं या नहीं ?, (३) कितने काल में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ?, (४) किस वस्तु का आहार करते हैं ?, (५) क्या वे सर्वतः (सब प्रदेशों से) आहार करते हैं ?, सर्वतः उच्छ्वास-तिःश्वास लेते हैं, क्या वे बार-बार आहार करते हैं ? बार-बार उसे परिणत करते हैं ? इत्यादि, (६) कितने भाग का आहार या आस्वादन करते हैं ?, (७) क्या सभी गृहीत पुद्गलों का आहार करते हैं ?, (८) गृहीत आहार्य पुद्गलों को किस-किस रूप में बार-बार परिणत करते हैं ? (९) क्या वे एकेन्द्रियादि के शरीरों का आहार करते हैं ?, (१०) नारकादि जीव लोमाहारी हैं या प्रक्षेपाहारी (कबलाहारी) ? तथा (११) वे आजाहारी होते हैं या मनोभक्षी ? प्रथम उद्देशक में इन ग्यारह द्वारों का प्रतिपादन किया गया है।<sup>१</sup>

१. (क) प्रजापना. (मस्य. वृत्ति) अभि. रा. को. भा. २, पृ. ५००

(ख) प्रजापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ५४१, ५६३, ६१३

## चौथीस दण्डकों में प्रथम सचित्ताहारद्वार

१७९४. [ १ ] णेरइया णं भंते ! कि सचित्ताहारा अचित्ताहारा भीसाहारा ?

गोयमा ! जो सचित्ताहारा, अचित्ताहारा, जो भीसाहारा ।

[ १७९४-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सचित्ताहारो होते हैं, अचित्ताहारो होते हैं या मिश्राहारी होते हैं ?

[ १७९४-१ उ.] गीतम् । नैरयिक सचित्ताहारी नहीं होते और न मिश्राहारी (सचित्त-अचित्ताहारी) होते हैं, किन्तु अचित्ताहारे होते हैं ।

[ २ ] एवं असुरकुमारा जाव वेमाणिया ।

[ १७९४-२ ] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त (जानना चाहिए ।)

[ ३ ] ओरालियसरोरो जाव मणूसा सचित्ताहारा वि अचित्ताहारा वि भीसाहारा वि ।

[ १७९४-३ ] ओदारिकशरीरो यावत् मनुष्य सचित्ताहारी भी हैं, अचित्ताहारी भी हैं और मिश्राहारी भी हैं ।

**विवेचन—सचित्ताहारो, अचित्ताहारो या मिश्राहारी ?** - समस्त सांसारिक जीव भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त हैं—(१) वैक्रियशरीरी और (२) ओदारिकशरीरी । वैक्रिय-शरीरधारी जो नारक, देव आदि जीव हैं, वे वैक्रियशरीर-परिपोषण-योग्य पुद्गलों का आहार करते हैं और वे पुद्गल अचित्त ही होते हैं, सचित्त (जीवपरिगृहीत) और मिश्र नहीं । इसलिए प्रस्तुत में नैरयिक, असुरकुमारादि भवनवासीदेव, वाणव्यन्तरदेव, ज्योतिषिक और वैमानिक देवों (जो कि वैक्रियशरीरी हैं) को एकान्ततः अचित्ताहारी बताया है तथा इनके अतिरिक्त एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यक्च और मनुष्य जो ओदारिकशरीरधारी हैं, वे ओदारिकशरीर के परिपोषणयोग्य पुद्गलों का आहार करते हैं, जो तीनों ही प्रकार के होते हैं । इसलिए इन्हें सचित्ताहारी, अचित्ताहारी और मिश्राहारी बताया गया है ।<sup>१</sup>

## नैरयिकों में आहारार्थी आदि द्वितीय से अष्टमद्वार पर्यन्त

१७९५. णेरइया णं भंते ! आहारद्वी ?

हंता गोयमा ! आहारद्वी ।

[ १७९५ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक आहारार्थी (आहारभिलाषी) होते हैं ?

[ १७९५ उ.] हाँ, गीतम् । वे आहारार्थी होते हैं ।

१७९६. णेरइयाणं भंते ! केवतिकालस्त प्राहारट्ठे समुपज्जति ?

गोयमा ! णेरइयाणं आहारे दुविहे पण्णते, तं जहा · आभोगणिव्यतिए य अणाभोगणि-व्यतिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्यतिए से णं अणुसमयमविरहिए आहारट्ठे समुपज्जति । तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्यतिए से णं असंखेजसमहए अंतोमृहुतिए आहारट्ठे समुपज्जति ।

१. प्रजापना, मलयवृत्ति, पत्र ८ अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५००

[१७९६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों को कितने काल के पश्चात् आहार की इच्छा (आहारार्थ) समुत्पन्न होती है ?

[१७९६ उ.] गीतम ! नैरयिकों का आहार दो प्रकार का कहा गया है। यथा—  
(१) आभोगनिर्विति, (उपयोगपूर्वक किया गया) और (२) अनाभोगनिर्विति। उनमें जो अनाभोगनिर्विति (बिना उपयोग के किया हुआ) है, उस आहार की अभिलाषा प्रति समय निरन्तर उत्पन्न होती रहती है, किन्तु जो आभोगनिर्विति (उपयोगपूर्वक किया हुआ) आहार है, उस आहार की अभिलाषा असंख्यात्-समय के अन्तमुहूर्त में उत्पन्न होती है।

१७९७. ऐरहया णं भंते ! किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! दृढ़वशो अणंतपदेसियाइं, खेतश्चो असंख्यजपदेसोगाइं, कालतो अण्णतरठितियाइं, भावशो वर्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं ।

[१७९७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कौन-सा आहार ग्रहण करते हैं ?

[१७९७ उ.] गीतम ! वे द्रव्यतः—अनन्तप्रदेशी (पुद्गलों का) आहार ग्रहण करते हैं, खेततः—असंख्यात् प्रदेशों में अवगाढ़ (रहे हुए), कालतः—किसी भी (अन्यतर) कालस्थिति वाले और भावतः—वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् और स्पर्शवान् पुद्गलों का आहार करते हैं।

१७९८. [१] जाइं भावशो वर्णमंताइं आहारेति ताइं कि एगवर्णाइं आहारेति जाव कि पंचवर्णाइं आहारेति ?

गोयमा ! ठाणमगाणं पद्मुच्च एगवर्णाइं पि आहारेति जाव पंचवर्णाइं पि आहारेति, विहृणमगगाणं पद्मुच्च कालवर्णाइं पि आहारेति जाव सुकिलाइं पि आहारेति ।

[१७९८-१ प्र.] भगवन् ! भाव से (नैरयिक) वर्ण वाले जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एक वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं यावत् क्या वे पंच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१७९८-१ उ.] गीतम ! वे स्थानमार्गणा (सामान्य) की अपेक्षा से एक वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् पांच वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं तथा विधान (भेद) मार्गणा की अपेक्षा से काले वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् शुक्ल (श्वेत) वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं ।

[२] जाइं वस्त्रशो कालवर्णाइं आहारेति ताइं कि एगगुणकालाइं आहारेति जाव दसगुण-कालाइं आहारेति संखेऽजगुणकालाइं असंख्यजगुणकालाइं अणंतगुणकालाइं आहारेति ?

गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आहारेति जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारेति । एवं जाव सुकिलाइं पि ।

[१७९८-२ प्र.] भगवन् ! वे वर्ण से जिन काले वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एक गुण काले पुद्गलों का आहार करते हैं यावत् दस गुण काले, संख्यात्गुण काले, असंख्यात्-गुण काले या अनन्तगुण काले वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१७९८-२ उ.] गीतम् ! वे एक गुण काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् अनन्तगुण काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं। इसी प्रकार (रक्तवर्ण से लेकर) यावत् शुक्लवर्ण के विषय में पूर्वोक्त प्रश्न और समाधान जानना चाहिए।

१७९९. एवं गंधश्चो वि रसप्रो वि ।

[१७९९] इसी प्रकार गन्ध और रस की अपेक्षा से भी पूर्ववत् आलापक कहने चाहिए।

१८००. [१] जाइं भावश्चो फासमंताइं ताइं णो एगफासाइं आहारेति, णो बुफासाइं आहारेति, णो तिफासाइं आहारेति, चउफासाइं आहारेति जाव अदुफासाइं पि आहारेति, विहुणभग्नं पङ्कुचञ्च कक्खडाइं पि आहारेति जाव लुक्खाइं पि ।

[१८००-१] जो जीव भाव से स्पर्शवाले पुद्गलों का आहार करते हैं, वे न तो एक स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, न दो और तीन स्पर्शवाले पुद्गलों का आहार करते हैं, अपितु चतुर्ःस्पर्शी यावत् अष्टस्पर्शी पुद्गलों का आहार करते हैं। विधान (भेद) मार्गणा की अपेक्षा वे कर्कश यावत् रूक्ष पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

[२] जाइं फासश्चो कक्खडाइं आहारेति ताइं कि एगगुणकक्खडाइं आहारेति जाव अणंतगुण-कक्खडाइं आहारेति ।

गोयमा ! एगगुणकक्खडाइं पि आहारेति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारेति ? एवं अदुवि फासा भाणियव्या जाव अणंतगुणलुक्खाइं पि आहारेति ।

[१८००-२ प्र.] भगवन् ! वे जिन कर्कशस्पर्शवाले पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एकगुण कर्कशपुद्गलों का आहार करते हैं, यावत् अनन्तगुण कर्कशपुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१८००-२ उ.] गीतम् ! वे एकगुण कर्कशपुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् अनन्तगुण कर्कशपुद्गलों का भी आहार करते हैं। इसी प्रकार ऋमयः आठों ही स्पर्शों के विषय में 'अनन्तगुण रूक्षपुद्गलों का भी आहार करते हैं', तक (कहना चाहिए) ।

[३] जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं आहारेति ताइं कि पुट्टाइं आहारेति अपुट्टाइं आहारेति ?

गोयमा ! पुट्टाइं आहारेति, णो अपुट्टाइं आहारेति, जहा मासुदेसए (सु. द७७ [१५—२३]) जाव णियमा छद्विसि आहारेति ।

[१८००-३ प्र.] भगवन् ! वे जिन अनन्तगुण रूक्षपुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे स्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं या अस्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१८००-३ उ.] गीतम् ! वे स्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं, अस्पृष्ट पुद्गलों का नहीं। (सु. द७७-१५-२३ में उक्त) भाषा-उद्देशक में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार वे यावत् नियम से छहों दिशाओं में से आहार करते हैं।

१८०१. ओसण्णकारणं पढुच्च वण्णश्चो काल-नोत्ताइं गंधश्चो दुक्षिणांधाइं रसतो तित्तरस-कञ्जुवाइं फासश्चो कक्खड-गरुय-सीय-लुक्खाइं तेसि पोराणे वण्णगुणे फासगुणे विषपरिणामइत्ता परिपोलइत्ता परिविद्वांसइत्ता अण्णे अपुब्वे वण्णगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरखेतोगाढे पोगले सक्षण्णयाए आहारमाहारेति ।

[१८०१] बहुल कारण की अपेक्षा से जो वर्ण से काले-नीले, गन्ध से दुर्गन्ध वाले, रस से तिक्त (तीखे) और कटुक (कड़ए) रस वाले और स्पर्श से कर्कश, गुरु (भारी), शीत (ठंडे) और रुक्ष स्पर्श हैं, उनके पुराने (पहले के) वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण और स्पर्शगुण का विपरिणमन (परिवर्तन) कर, परिपीड़न परिशाटन और परिविष्वस्त करके अन्य (दूसरे) अपूर्व (नये) वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण और स्पर्शगुण को उत्पन्न करके अपने जीवरसेन में इजाहृत किये हुए पुद्गलों का पूर्णरूपेण (सर्वतिमना) आहार करते हैं।

१८०२. जेरहया णं भंते ! सब्बधो आहारेति, सब्बधो परिणामेति, सब्बधो ऊससंति, सब्बधो णीससंति, अभिकष्णणं आहारेति, अभिकष्णणं परिणामेति, अभिकष्णणं ऊससंति अभिकष्णणं णीससंति, आहच्च आहारेति, आहच्च परिणामेति आहच्च ऊससंति आहच्च णीससंति ?

हुता गोयमा ! जेरहया सब्बधो आहारेति एवं तं चेव जाव आहच्च णीससंति ।

[१८०२ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सर्वतः (समग्रता से) आहार करते हैं ? पूर्णरूप से परिणत करते हैं ? सर्वतः उच्छ्वास तथा सर्वतः निःश्वास लेते हैं ? बार-बार आहार करते हैं ? बार-बार परिणत करते हैं ? बार-बार उच्छ्वास एवं निःश्वास लेते हैं ? अथवा कभी-कभी आहार करते हैं ? कभी-कभी परिणत करते हैं ? और कभी-कभी उच्छ्वास एवं निःश्वास लेते हैं ?

[१८०२ उ.] हाँ, गीतम ! नैरयिक सर्वतः आहार करते हैं, इसी प्रकार वही पूर्वोक्तवत् यावत् कभी-कभी निःश्वास लेते हैं।

१८०३. जेरहया णं भंते ! जे पोगले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसि पोगलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारेति कतिभागं आसाएंति ?

गोयमा ! प्रसंलेजजाइभागं आहारेति प्रणतभागं अस्साएंति ।

[१८०३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों का आगामी काल में कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८०३ उ.] गीतम ! वे असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं और अनन्तवें भाग का आस्वादन करते हैं।

१८०४. जेरहया णं भंते ! जे पोगले आहारत्ताए गेण्हंति ते कि सब्बे आहारेति जो सब्बे आहारेति ?

गोयमा ! ते सब्बे अपरिसेसिए आहारेति ।

[१८०४ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या उन सबका आहार कर लेते हैं अथवा सबका आहार नहीं करते हैं ?

[१८०४ उ.] गीतम ! शेष बचाये बिना उन सबका आहार कर लेते हैं।

१८०५. जेरहया णं भंते ! जे पोगले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसि पोगला कीसत्ताए अुज्जो २ परिणमंति ?

गोयमा ! सोइंदियत्ताए जाव फासिदियत्ताए अणिटुत्ताए अकंतस्ताए अप्पियत्ताए असुभत्ताए अमच्छृणत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिजिभयत्ताए अहत्ताए गो उटुत्ताए बुद्धत्ताए गो उहत्ताए एर्स (ते तेसि) भुज्जो भुज्जो पारिषभंति ।

[१८०५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे उन पुद्गलों को बार-बार किस रूप में परिणत करते हैं ?

[१८०५ उ.] गौतम ! वे उन पुद्गलों को श्रावणिद्य के रूप में यावत् स्पर्शनिद्य के रूप में, अनिष्टरूप से, अकान्तरूप से, अप्रियरूप से, अशुभरूप से, अमनोजरूप से, अमनामरूप से, अनिश्चितता से (अथवा अनिश्चित रूप से,) अनभिलषितरूप से, भारीरूप से, हृत्केरूप से नहीं, दुःखरूप से सुखरूप से नहीं, उन सबका वारदार परिणामन करते हैं।

**विवेचन—आभोगनिर्वत्ति और अनाभोगनिर्वत्ति** का स्वरूप—नारकों का आहार दो प्रकार का है—आभोगनिर्वत्ति और अनाभोगनिर्वत्ति। आभोगनिर्वत्ति का शर्य है—इच्छापूर्वक उपयोगपूर्वक होने वाला आहार तथा अनाभोगनिर्वत्ति का शर्य है—बिना इच्छा के—बिना उपयोग के होने वाला आहार। अनाभोगनिर्वत्ति आहार, भव पर्यन्त प्रतिसमय निरन्तर होता रहता है। यह आहार ओजआहार आदि के रूप में होता है। आभोगनिर्वत्ति आहार की इच्छा असंख्यात समय प्रमाण अन्तमुङ्हूर्त में उत्पन्न होती है। मैं आहार करूँ, इस प्रकार की अभिलाषा एक अन्तसमय प्रमाण अन्तमुङ्हूर्त में अंदर पैदा हो जाती है। यही कारण है कि नारकों की आहारेच्छा अन्तमुङ्हूर्त की कही गई है। यह तीसरा द्वार है।<sup>1</sup>

**नैरायिक किस वस्तु का आहार करते हैं ?**—द्रव्य से वे अनन्तप्रदेशी पुद्गलों का आहार करते हैं, क्योंकि संख्यातप्रदेशी या असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध जीव के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते, उनका ग्रहण होना सम्भव नहीं है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे असंख्यातप्रदेशावगाढ़ स्कन्धों का आहार करते हैं। काल की अपेक्षा से वे जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट किसी भी स्थिति वाले स्कन्धों को ग्रहण करते हैं। भाव से वे वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श वाले द्रव्यों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्योंकि गन्ध, रस, स्पर्श से अनेक वर्णादियुक्त आहार ग्रहण करने के विकल्प बताये गए हैं। तदनन्तर यह भी बताया गया है कि वे (नारक) आत्मप्रदेशों से सृष्ट द्रव्यों (सम्बद्ध पुद्गलों) का तथा नियमतः छह दिशाओं से आहार करते हैं।<sup>2</sup>

**विविध पहलुओं से नारकों के आहार के विषय में प्रलृपण—**नारक वर्ण की अपेक्षा प्रायः काले-नीले वर्णवर्ण, रस की अपेक्षा तिक्त और कटुक रसवाले, गन्ध की अपेक्षा दुर्गन्धवाले तथा स्पर्श-से कर्कश, गुरु, शीत और रुक्ष स्पर्शवाले अशुभ द्रव्यों का आहार करते हैं। यहाँ बहुलतासूचक शब्द—‘श्रीसम्भ’ का प्रयोग किया गया है। जिसका आशय यह है कि अशुभ अनुभाव वाले मिथ्यादृष्टि नारक हो प्रायः उक्त कृष्णवर्ण आदि वाले द्रव्यों का आहार करते हैं। किन्तु जो नारक आगामी भव में तोर्चकर आदि होने वाले हैं, वे ऐसे द्रव्यों का आहार नहीं करते हैं।

नारक आहार किस प्रकार से करते हैं ?—आहार किये जाने वाले पुद्गलों के पुराने वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगुण का परिणमन, परिपीडन, परिशाटन एवं विद्वंस करके, अर्थात्—उन्हें पूरी तरह से बदल कर, उनमें नये वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगुण को उत्पन्न करके, अपने शरीर-क्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गलों का समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं ।<sup>१</sup>

**सर्वतः आहारादि का अर्थ—सर्वतः आहार अर्थात्—समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं, सर्वे-आत्मप्रदेशों से आहार परिणमाते हैं, सर्वतः उच्छ्रवास-निःश्वास लेते हैं, सदा आहार करते हैं, सदा परिणत करते हैं, सदा उच्छ्रवास-निःश्वास लेते हैं । कदाचित् आहार और परिणमन करते हैं तथा उच्छ्रवास-निःश्वास लेते हैं ।**

आहार और आस्वादन कितने-कितने भाग का ?—नारक आहार के रूप में जितने पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, उनके असंख्यातरे भाग का आहार करते हैं, शेष पुद्गलों का आहार नहीं हो पाता । वे जितने पुद्गलों का आहार करते हैं, उनके अनन्तरे भाग का आस्वादन करते हैं । शेष का आस्वादन न होने पर भी शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं ।<sup>२</sup> (छठा द्वार)

सभी आहाररूप में गृहीत पुद्गलों का या उनके एक भाग का आहारी—जिन त्यक्त-शेष एवं शरीर-परिणाम के योग्य पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन सभी पुद्गलों का आहार करते हैं, सबके एक भाग का नहीं, क्योंकि वे आहारयं पुद्गल त्यक्तशेष और आहारपरिणाम के योग्य ही ग्रहण किये हुए होते हैं ।<sup>३</sup>

आहाररूप में गृहीत पुद्गल किस रूप में पुनः परिणत ?—आहार के रूप में नारकों द्वारा ग्रहण किये हुए वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय आदि पांचों इन्द्रियों के रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं । किन्तु इन्द्रियरूप में परिणत होने वाले वे पुद्गल शुभ नहीं, अशुभरूप ही होते हैं, अर्थात् वे पुद्गल अनिष्टरूप में परिणत होते हैं । जैसे मक्खियों को कपूर, चन्दन आदि शुभ होने पर भी अनिष्ट प्रतीत होते हैं, वैसे ही शुभ होने पर भी किन्हीं जीवों को वे पुद्गल अनिष्ट प्रतीत होते हैं । बल्कि अकान्त (अकमनीय—देखते समय सुन्दर न लगें), अप्रिय (देखते समय भी अन्तःकरण को प्रिय न लगें), अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श वाले, अमनोज—विपाक के समय क्लेशजनक होने के कारण) मन में आहाराद उत्पन्न करने वाले नहीं होते हैं ।<sup>४</sup>

अमनाम—जो भोज्यरूप में प्राणियों को आहा न हों, अनोप्तित—जो आस्वादन करने योग्य नहीं होते, अभिध्यत—जिनके विषय में अभिलाषा भी उत्पन्न न हो, इस रूप में परिणत होते हैं तथा वे पुद्गल भारीरूप में परिणत होते हैं, लघुरूप में नहीं । (अष्टमद्वार)

### भवनपतियों के सम्बन्ध में आहारार्थी आदि सात द्वार (२-८)

१८०६. [१] असुरकुमाराण भते ! आहारद्वी ?

हेता ! आहारद्वी । एवं जहा जेरहयाणं तहा असुरकुमाराण वि भाणियब्बं जाव ते तेसि भुज्जो भुज्जो परिणमति । तत्थ णं जे से आभोगणिष्वद्वित्ति ए से णं जहुण्णेणं चउत्थसत्सस उक्कोसेण

<sup>१</sup> से <sup>३</sup>. प्रज्ञापना (हरिभद्रीय टीका.) भा. ५, पृ. ५४९ से ५५२

<sup>२</sup>. प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ५५५ से ५५९ तक

सातिरेगस्स वाससहस्रस्स आहारद्धे समुप्पज्जाइ । शोसणकारणं पदुच्च वस्त्रांगो हात्तिह-सुकिलाइ गंधांगो सुविभगंधाइ रसांगो अंबिल-महुराइ फासांगो मउय-लहुष-णिदुण्हाइ तेसि पोराणे वस्त्रांगे जाव फासिवियत्ताए जाव मणामत्ताए इच्छयत्ताए प्रभिज्जयत्ताए उद्बुत्ताए णो अहत्ताए सुहत्ताए जो बुहत्ताए ते तेसि भुज्जो २ परिणमति । सेसं जहा णेरइयाणं ।

[ १८०६-१ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार आहारार्थी होते हैं ?

[ १८०६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं ।

जैसे नारकों की वक्तव्यता कही, वैसे ही असुरकुमारों के विषय में यावत् . . . . 'उनके पुद्गलों का बार-बार परिणमन होता है' यहाँ तक कहना चाहिए । उनमें जो आभोगनिर्वत्तित आहार है उस आहार की अभिलाषा जधन्य चतुर्थ-भक्त पश्चात् एवं उत्कृष्ट कुछ अधिक सहस्रवर्ष में उत्पन्न होती है ।

बाहुल्यरूप कारण की अपेक्षा से वे वर्ण से—पीत और श्वेत, गन्ध से—सुरभिगन्ध वाले, रस से—श्रम्ल और मधुर तथा स्पर्श से—मृदु, लघु, स्नग्ध और उष्ण पुद्गलों का आहार करते हैं । (आहार किये जाने वाले) उन (पुद्गलों) के पुराने वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुण को विनष्ट करके, अथोत् पूर्णतया परिवर्तित करके, अपूर्वी यावत्—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुण को उत्पन्न करके (अपने शरीर-क्षेत्र में श्रवणाड़ पुद्गलों का सर्व-आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं । आहाररूप में गृहीत वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों के रूप में तथा इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ.) मनोज, मनाम इच्छित अभिलाषित रूप में परिणत होते हैं । भारीरूप में नहीं हल्के रूप में, सुखरूप में परिणत होते हैं, दुःखरूप में नहीं । (इस प्रकार असुरकुमारों द्वारा गृहीत) वे आहार्थ पुद्गल उनके लिए पुनः पुनः परिणत होते हैं । शेष कथन नारकों के कथन के समान जानना चाहिए ।

[ २ ] एवं जाव अणियकुमाराणं । जवरं आभोगणिव्वत्तिए उवकोसेण विवसपुहत्तस्स आहारद्धे समुप्पज्जति ।

[ १८०६-२ ] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक का कथन असुरकुमारों के समान जानना चाहिए । विशेष यह है कि इनका आभोगनिर्वत्तित आहार उत्कृष्ट दिवस-पृथक्त्व से होता है ।

विवेचन—असुरकुमारों आदि की आहाराभिलाषा—असुरकुमारों को बीच-बीच में एक-एक दिन छोड़ कर आहार की अभिलाषा होती है, यह कथन दस हजार वर्ष की आयु वाले असुरकुमारों की अपेक्षा से समझना चाहिए । उत्कृष्ट अभिलाषा कुछ अधिक सातिरेक सागरोपम की स्थिति वाले बलीन्द्र की अपेक्षा से है । शेष भवनपतियों का आभोगनिर्वत्तित आहार उत्कृष्ट दिवस-पृथक्त्व से होता है । यह कथन पल्योपम के असंख्यात्में भाग की आयु तथा उससे अधिक आयु वालों की अपेक्षा से है । यह कथन पल्योपम के असंख्यात्में भाग की आयु तथा उससे अधिक आयु वालों की अपेक्षा से समझना चाहिए । असुरकुमार ब्रह्मांडी में ही होते हैं । अतएव वे छहों दिशाओं से पुद्गलों का आहार कर सकते हैं । आहार-सम्बन्धी शेष कथन मूलपाठ में स्पष्ट है ।<sup>१</sup>

१. प्रजापता इमेयबोधिनी दीका, भा. ५, पृ. ४५५ मे ४५९ तक

## एकेन्द्रियों में आहारार्थी जीव सात द्वार (२-द)

१८०७. पुढ़विकाइया णं भंते । आहारटु ?

हैता ! आहारटु !

[१८०७ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव आहारार्थी होते हैं ?

[१८०७ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं ।

१८०८. पुढ़विकाइयाणं भंते । केवतिकालस्त आहारट्ठे समुप्पज्जह ?

गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जह ।

[१८०८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८०८ उ.] गौतम ! उन्हें प्रतिसमय बिना विरह के आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८०९. पुढ़विकाइया णं भंते । किमाहारमाहारेति ?

एवं जहा णेरइयाणं (सु. १७९७-१८००) जाव ताईं भंते ! कति दिसि आहारेति ?

गोयमा ! णिव्वाघायाणं छहिसि, वाघायं परुन्ध सिय तिदिसि सिय चउदिसि सिय पंचदिसि, णवरं ओसण्णकारणं ण भवति, वण्णतो काल-णील-लोहिय-हालिह-सुकिलाईं, गंधग्रो सुडिगंध दुलिगंधाईं, रसओ लिल-कडुय-कसाय-अंबिल-महुराईं, फासतो फक्खड-मडय-गह्या-लहुय-सीय-उसिण-णिद्व-लुक्खाईं, तेसि पोराणे वण्णगुणे सेसं जहा णेरइयाणं (सु. १८०१-२) जाव आहुच्छ णीससंति ।

[१८०९ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव किस वस्तु का आहार करते हैं ?

[१८०९ उ.] गौतम ! इस विषय का कथन (से. १७९७-१८०० में उक्त) नेरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए; यावत्—[प्र.] पृथ्वीकायिक जीव कितनी दिशाओं से आहार करते हैं ? [उ.] गौतम ! यदि व्याघात (रुकावट) न हो तो वे (नियम से) छहों दिशाओं (में स्थित और छहों दिशाओं) से (आगत द्रव्यों का) आहार करते हैं । यदि व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार दिशाओं से और कदाचित् पांच दिशाओं से आगत द्रव्यों का आहार करते हैं । विशेष यह है कि (पृथ्वीकायिकों के सम्बन्ध में) बाहुल्य कारण नहीं कहा जाता । (पृथ्वीकायिक जीव) वर्ण से—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत, गन्ध से—सुगन्ध और दुर्गन्ध वाले, रस से—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर रस वाले और स्पर्श से—कर्कश, मृदु, गुरु (भारी), लघु (हल्का), शीत, उष्ण, स्तिंग्ध और रुक्ष स्पर्श वाले (द्रव्यों का आहार करते हैं) तथा उन (आहार किये जाने वाले पुद्गलद्रव्यों) के पुराने वर्ण आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि शेष सब कथन (सु. १८०१-२ में उक्त) नारकों के कथन के समान यावत् कदाचित् उच्छ्वास और निःश्वास लेते हैं; (यहाँ तक जानना चाहिए ।)

१८१०. पुढ़विकाइया णं भंते । जे पोगले आहारसाए गेहूंति तेसि णं भंते । पोगलाखं सेयालंसि कतिभागं आहारेति कतिभागं आसाएति ।

गोयमा ! असंख्याङ्गभागं आहारेति अणंतभागं आसाएति ।

[१८१० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों में से भविष्यकाल में कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८१० उ.] गौतम ! (आहार के रूप में गृहीत पुद्गलों के) ग्रसंख्यातवे भाग का आहार करते हैं और अनन्तवे भाग का आस्वादन करते हैं ।

१८११. पुद्विकाइया णं भंते । जे पुग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते कि सब्बे आहारेति णो सब्बे आहारेति ? जहेव णेरहपा (सू. १८०४) तहेव ।

[१८११ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या उन सभी का आहार करते हैं अथवा उन सबका आहार नहीं करते हैं ? (अर्थात् सबके एक भाग का आहार करते हैं ?)

[१८११ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (सू. १८०४ में) नैरयिकों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में कहना चाहिए ।

१८१२. पुद्विकाइया णं भंते । जे वोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसि वोग्गला कोसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

गोयमा ! फासेंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

[१८१२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल (पृथ्वीकायिकों में) किस रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं ?

[१८१२ उ.] गौतम ! (वे पुद्गल) स्पर्शेन्द्रिय की विषम मात्रा के रूप में (अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट रूप में) बार-बार परिणत होते हैं ।

१८१३. एवं जाव वणस्पदकाइयाणं ।

[१८१३] इसी प्रकार (पृथ्वीकायिकों) की वक्तव्यता के समान (अष्कायिकों से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिकों की (वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए ।)

विवेचन—पृथ्वीकायिक आवि एकेन्द्रियों की आहार-सम्बन्धी विशेषता—पृथ्वीकायिक प्रति-समय अविरतरूप से आहार करते हैं । वे निव्याधात की अपेक्षा छहों दिशाओं से और व्याधात की अपेक्षा कदाचित् तीन, चार या पाँच दिशाओं से आहार लेते हैं । इनमें एकान्त शुभानुभाव या अशुभानुभावरूप दाहुल्य नहीं पाया जाता । पृथ्वीकायिकों के द्वारा आहार के रूप में गृहीत पुद्गल उनमें स्पर्शेन्द्रिय की विषममात्रा के रूप में परिणत होते हैं । इसका याशय यह है कि नारकों के समान एकान्त अशुभरूप में तथा देवों के समान एकान्त शुभरूप में उनका परिणमन नहीं होता, किन्तु बार-बार कभी इष्ट और कभी अनिष्ट रूप में उनका परिणमन होता है । यही नारकों से पृथ्वीकायिकों की विशेषता है ।

शेष सब कथन नारकों के समान समझ लेना चाहिए। पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक आहार-सम्बन्धी वक्तव्यता एक-सी है।<sup>१</sup>

### विकलेन्द्रियों में आहारार्थी आदि सात द्वार (२-८)

१८ १४. बेहृदिया णं भंते ! आहारटु ?

हंता गोयमा ! आहारटु !

[१८ १४ प्र.] भगवन् ! क्या द्वीन्द्रिय जीव आहारार्थी होते हैं ?

[१८ १४ उ.] हाँ, गोतम ! वे आहारार्थी होते हैं।

१८ १५. बेहृदियाणं भंते ! केवतिकाखस्स आहरट्ठे समुष्पज्जति ? जहा णेरइयाणं (सु. १७९६)। णवरं तत्य णं जे से आभोगणिडवत्तिए से णं असंखेजनसमइए अंतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुष्पज्जइ। लेखं जहा पुढविककाइयाणं (सु. १८०९) जाव आहच्च णीससंति, घवर यियमा छहिसि।

[१८ १५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८ १५ उ.] गोतम ! इनका कथन (सु. १७९६ में उक्त) नारकों के समान समझना चाहिए। विशेष यह है कि उनमें जो आभोगनिवैतित आहार है, उस आहार की अभिलाषा असंख्यात-समय के अन्तमुहूर्त में विमात्रा से उत्पन्न होती है। शेष सब कथन पृथ्वीकायिकों के समान “कदाचित् निःश्वास लेते हैं” यहाँ तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि वे नियम से छह दिशाओं से (आहार लेते हैं।)

१८ १६. बेहृदिया णं भंते ! जे पोगले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसि पोगलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारेति कतिभागं अस्साएति ? एवं जहा णेरइयाणं (सु. १८०३)।

[१८ १६ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे भविष्य में उन पुद्गलों के कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८ १६ उ.] गोतम ! इस विषय में (सु. १८०३ में उक्त) तैरयिकों के समान कहना चाहिए।

१८ १७. बेहृदिया णं भंते ! जे पोगले आहारत्ताए गेण्हंति ते कि सब्बे आहारेति, णो सब्बे आहारेति ?

गोयमा ! बेहृदियाणं दुविहे आहारे पण्णते, तं जहा—लोमाहारे य पक्षेवाहारे य। जे पोगले लोमाहारत्ताए गेण्हंति ते सब्बे अपरिसेसे आहारेति, जे पोगले पक्षेवाहारत्ताए गेण्हंति तेसि असंखे-

१. (क) पण्णवणासुत्तं, भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३९४-३९५

(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५६३-५६६

अव्याप्तिभागमाहारेति । योगाद्यं च । एवं सामान्यस्ताद्यु अकासाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं विद्वांसमागच्छंति ।

[१८१७ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उन सबका आहार करते हैं अथवा उन सबका आहार नहीं करते ? (अर्थात् उन सबके एक भाग का आहार करते हैं ?)

[१८१७ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों का आहार दो प्रकार का कहा है । यथा—लोमाहार और प्रक्षेपाहार । वे जिन पुद्गलों को लोमाहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन सबका सभग्रहण से आहार करते हैं और जिन पुद्गलों को प्रक्षेपाहाररूप में ग्रहण करते हैं, उनमें से असंख्यातवें भाग का ही आहार करते हैं उनके बहुत-से (अनेक) सहस्र भाग यों ही विष्वंस को प्राप्त हो जाते हैं, न ही उनका बाहर-भीतर स्पर्श हो पाता है और न ही आस्वादन हो पाता है ।

१८१८. एतेसि एं भंते ! पोगलाणं अणासाइज्जमाणाणं अकासाइज्जमाणाणं य कतरे कतरे-हितो ४ ? १

गोदमा ! सध्वस्थोवा पोगला अणासाइज्जमाणाण, अकासाइज्जमाणा । सर्वांतगुणा ।

[१८१८ प्र.] भगवन् ! इन पूर्वोक्त प्रक्षेपाहारपुद्गलों में से आस्वादन न किये जाने वाले तथा स्पृष्ट न होने वाले पुद्गलों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१८१९ उ.] गौतम ! सबसे कम आस्वादन न किये जाने वाले पुद्गल हैं, उनमें अनन्तगुणे (पुद्गल) स्पृष्ट न होने वाले हैं ।

१८१९. ब्रह्मविद्या एं भंते ! जे पोगले आहारसाए० पुच्छा ।

गोदमा ! जिद्विद्यि-फासिद्विद्यवेमायत्ताए ते तेसि भुज्जो २ परिणमंति ।

[१८१९ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल किस-किस रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१८१९ उ.] गौतम ! वे पुद्गल जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा के रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं ।

१८२०. एवं जाव चतुरिन्द्रिया । यद्यपि योगाद्यं च एं सामान्यस्ताद्यु अणासाइज्जमाणाद्यु अकासाइज्जमाणाद्यु विद्वांसमागच्छंति ।

[१८२०] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय तक के विषय में कहना चाहिए । विशेषता यह है कि इनके (श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) द्वारा प्रक्षेपाहाररूप में गृहीत पुद्गलों के अनेक सहस्र भाग अनांशकमरण (नहीं सुन्ने हुए), अस्युग्रमान (बिना लग्ने हुए) तथा अनास्वाद्यमान (स्वाद लिये बिना) ही विष्वंस को प्राप्त हो जाते हैं ।

१८२१. एतेसि एं भंते ! पोगलाणं अणासाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं अकासाइज्जमाणाणं य कतरे कतरेहितो अप्या वा ४ ?

१ ४ सूचक चिह्न—‘अप्या वा बहुप्या वा तुल्या वा विसेसाहिया वा ?’ इस पाठ का सूचक है : -- सं.

गोयमा ! सब्बत्योवा पोगला अनाघाइज्जमाणः, अप्स्त्वाइज्जमाणा अण्तंगुणा, अकासाइ-  
ज्जमाणा अण्तंगुणा ।

[१८२१ प्र.] भगवन् ! इन अनाघायमाण, अस्पृश्यमान और अनास्वाद्यमान पुद्गलों में से  
कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[१८२१ उ.] गौतम ! अनाघायमाण पुद्गल सबसे कम हैं, उससे अनन्तगुणे पुद्गल अना-  
स्वाद्यमान हैं और अस्पृश्यमान पुद्गल उससे अनन्तगुणे हैं ।

१८२२. तेऽदिव्या णं भंते ! जे पोगला० पुञ्जा० ।

गोयमा ! धार्णिदिय-जिङ्गिदिय-फासिदियवेमायत्ताए ते तेसि भुञ्जो॒ २ परिणमति॑ ।

[१८२२ प्र.] भगवन् ! श्रीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे  
पुद्गल उनमें किस रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं ?

[१८२२ उ.] गौतम ! वे पुद्गल द्वार्णेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा से  
(अर्थात्—इष्ट—अनिष्टरूप से) पुनः पुनः परिणत होते हैं ।

१८२३. चतुर्दियाणं चर्विष्ठविय-धार्णिदिय-जिङ्गिदिय-फासिदियवेमायत्ताए ते तेसि भुञ्जो॒  
भुञ्जो॒ परिणमति॑, सेसं जहा तेऽदिव्याणं ।

[१८२३] (चतुर्दिय द्वारा आहार के रूप में गृहीत पुद्गल) चतुर्दिय, द्वार्णेन्द्रिय  
जिह्वेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा से पुनः पुनः परिणत होते हैं । चतुर्दियों का शेष कथन  
श्रीन्द्रियों के कथन के समान समझना आहिए ।

विवेचन—विकलेन्द्रियों के आहार के विषय में स्पष्टीकरण—लोमाहार—लोमों या रोमों  
(रोओं) द्वारा किया जाने वाला आहार लोमाहार कहलाता है । प्रक्षेपाहार अर्थात् कबलाहार, मुख में  
डाल (प्रक्षिप्त) कर या कौर (ग्रास) के रूप में मुख द्वारा किया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है । वर्षा  
आदि के भौसम में शोषरूप से पुद्गलों का बरीर में प्रवेश हो जाता है, जिसका अनुमान मूत्र आदि  
से किया जाता है, वह लोमाहार है । द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीव लोमाहार के रूप में जिन पुद्गलों  
को ग्रहण करते हैं, उन सबका पूर्णरूप से आहार करते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव ही वैसा होता है ।  
तथा जिन पुद्गलों को वे प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उनके असंघातमें भाग का ही आहार  
कर पाते हैं । उनमें से बहुत-से सहस्रभाग उनके द्वारा बिना स्पर्श किये बिना आस्वादन किये यों  
ही विष्वेस को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से कोई पुद्गल अतिस्थूल होने के कारण और कोई  
अतिसूक्ष्म होने के कारण आहुत नहीं हो पाते ।<sup>१</sup>

आहारं पुद्गलों का अल्प-बहुतब—प्रक्षेपाहार रूप से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों में सबसे  
कम पुद्गल अनास्वाद्यमान होते हैं, आशय यह है कि एक-एक स्पर्शयोग्य भाग में अनन्तवर्णी भाग  
आस्वाद के योग्य होता है और उसका भी अनन्तवर्णी भाग आब्राण—(सूधने के) योग्य होता है । अतः

१. प्रजापत्ना, (प्रभेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५८४

सबसे कम अनाद्यायमाण पुद्गल होते हैं। उनसे अनन्तगुणे पुद्गल अनास्वाद्यमान होते हैं और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल अस्पृश्यमान होते हैं।<sup>१</sup>

**पंचेन्द्रिय तिर्यङ्करों, मनुष्यों, ज्योतिष्करों एवं वाणव्यन्तरों में आहारार्थी आदि सात छार**

**१८२४. पंचेन्द्रियतिरिक्षजोणिया जहा तेइंदिया । णवरं तत्य यं जे से आभोगणिव्यतिए से जहणेण अंतोमुहृत्तस्स, उक्कोसेण छटुभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पञ्जिति ।**

[१८२४] पंचेन्द्रिय तिर्यङ्करों का कथन श्रीन्द्रिय जीवों के समान जानना चाहिए। विशेष यह है कि उनमें जो आभोगनिर्वत्तित आहार है, उस आहार की अभिलाषा उन्हें जघन्य अन्तमुहृत्ते से और उत्कृष्ट षष्ठभक्त से (अर्थात् दो दिन छोड़ कर) उत्पन्न होती है।

**१८२५. पंचेन्द्रियतिरिक्षजोणिया यं भर्ते । जे पोग्गले आहारत्ताए० पुच्छा ।**

**गोषमा ! सोइंदिय-चविखंदिय-घाणिदिय-जिंभदिय-फासेंदियवेमायत्ताए॒भुञ्जो २ परिणमति ।**

[१८२५ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यङ्करयोनिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल उनमें किस रूप में पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं ?

[१८२५ उ.] गीतम ! आहाररूप में गृहीत वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घाणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा के रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं।

**१८२६. मणूसा एवं चेव । णवरं आभोगणिव्यतिए जहणेण अंतोमुहृत्तस्स, उक्कोसेण अटुम-मत्तस्स आहारट्ठे समुप्पञ्जिति ।**

[१८२६] मनुष्यों की आहार-सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार है। विशेष यह है कि उनकी आभोगनिर्वत्तित आहार की अभिलाषा जघन्य अन्तमुहृत्ते में होती है और उत्कृष्ट षष्ठभक्त (तीन दिन काल व्यतीत) होने पर उत्पन्न होती है।

**१८२७. वाणमंतरा आहा नागकुमारा (सु. १८०६ [२]) ।**

[१८२७] वाणव्यन्तर देवों का आहार-सम्बन्धी कथन नागकुमारों के समान जानना चाहिए।

**१८२८. एवं जोइसिया वि । णवरं आभोगणिव्यतिए जहणेण दिवस-पुहृत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहृत्तस्स आहारट्ठे समुप्पञ्जिति ।**

[१८२८] इसी प्रकार ज्योतिष्कदेवों का भी कथन है। किन्तु उन्हें आभोगनिर्वत्तित आहार की अभिलाषा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट भी दिवस-पृथक्त्व में उत्पन्न होती है।

**विवेचन—तिर्यङ्कर पंचेन्द्रिय आदि की आहारसम्बन्धी विशेषता । उनको आभोगनिर्वत्तित आहार की इच्छा जघन्य अन्तमुहृत्ते में और उत्कृष्ट षष्ठभक्त में (दो दिन के बाद) होती है। यह कथन देवकुरु—उत्तरकुरु क्षेत्रों के तिर्यङ्कर पंचेन्द्रियों की अपेक्षा से समझना चाहिए। मनुष्यों को**

१. प्रजापना (प्रमेयदोधिनी टीका), चा. ५, पृ. ५८४

आभोगनिर्वत्ति आहार की अभिलाषा जघन्य अन्तमुहूर्त से और उत्कृष्ट अष्टमभक्त से (तीन दिन के बाद) होती है। यह कथन भी देवकुर—उत्तरकुर क्षेत्रों के मनुष्यों की अपेक्षा से समझना चाहिए। इन दोनों द्वारा गृहीत आहार्य पुद्गल भी पंचेन्द्रियों की विमात्रा के रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं। वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों का अन्य सब कथन तो नागकुमार के समान है, लेकिन आभोग-निर्वत्ति आहाराभिलाषा जघन्य और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व (दो दिन से लेकर नौ दिनों) से होती है। इन दोनों प्रकार के देवों की आयु पल्योपम के आठवें भाग की होने से स्वभाव से ही दिवस-पृथक्त्व व्यतीत होने पर इन्हें आहार की अभिलाषा होती है।<sup>१</sup>

### वैमानिक देवों में आहारादि सात द्वारों की प्रकृष्टणा (२-द)

१८२९. एवं वैमाणिया वि । शबरं आभोगणिव्यत्तिए जहृण्णेण दिवस-पुहृत्सस्स, उक्कोसेण तेसीसाए वाससहस्राणं आहारद्धे समुप्पज्जह । सेसं जहा असुरकुमाराणं (सु. १८०६ [१]) जाव से तेसि भृजो र परिणमति ।

[१८२९] इसी प्रकार वैमानिक देवों की भी आहारसम्बन्धी वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि इनको आभोगनिर्वत्ति आहार की अभिलाषा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्षों में उत्पन्न होती है। शेष वक्तव्यता (सु. १८०६-१ में उक्त) असुरकुमारों के समान ‘उनके उन पुद्गलों का बार-बार परिणमन होता है’, यहाँ तक कहनी चाहिए।

१८३०. सोहृष्मे आभोगणिव्यत्तिए जहृण्णेण दिवसपुहृत्सस्स, उक्कोसेण दोण्हं वाससहस्राणं आहारद्धे समुप्पज्जह ।

[१८३०] सौधर्मकल्प में आभोगनिर्वत्ति आहार की इच्छा जघन्य दिवस-पृथक्त्व से और उत्कृष्ट दो हजार वर्ष से समुत्पन्न होती है।

१८३१. ईसाणाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृण्णेण दिवसपुहृत्सस्स सातिरेगस्स, उक्कोसेण सातिरेगाणं दोण्हं वाससहस्राणं ।

[१८३१ प्र.] ईशानकल्प-सम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१८३१ उ.] गौतम ! जघन्य कुछ अधिक दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो हजार वर्ष में (उनको आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।)

१८३२. सणंकुमाराणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहृण्णेण दोण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण सत्तण्हं वाससहस्राणं ।

[१८३२ प्र.] सनत्कुमार-सम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१८३२ उ.] गौतम ! जघन्य दो हजार वर्ष में और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१. प्रश्नापना. प्रमेयदोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ५८९ से ५९१ तक

**१८३३. माहिंदे पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण बोध्यं वाससहस्राणं सातिरेगाणं, उक्कोसेण सत्तण्हं वाससहस्राणं सातिरेगाणं ।

[१८३३ प्र.] माहेन्द्रकल्प के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१८३३ उ.] गौतम ! जघन्य कुछ जटिक दो हजार वर्ष में और उत्कृष्ट कुछ जटिक सात हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

**१८३४. बंभलोए एं पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण सत्तण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण दसण्हं वाससहस्राणं ।

[१८३४ प्र.] गौतम ! बंभलोक-सम्बन्धी प्रश्न है ।

[१८३४ उ.] गौतम ! (वहाँ) जघन्य सात हजार वर्ष में और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

**१८३५. लंतए एं पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण बसण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण चोद्दसण्हं वाससहस्राणं आहारट्ठे समुप्तजड़ा ।

[१८३५ प्र.] लान्तककल्प-सम्बन्धी पूर्ववत् पृच्छा है ।

[१८३५ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट चोदह हजार वर्ष में उन्हें आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

**१८३६. महाशुक्रके एं पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण चोद्दसण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण सत्तरसण्हं वाससहस्राणं ।

[१८३६ प्र.] महाशुक्रकल्प के सम्बन्ध में प्रश्न है ।

[१८३६ उ.] गौतम ! वहाँ जघन्य चोदह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट सत्तरह हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

**१८३७. सहस्रारे एं पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण सत्तरसण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण श्रद्वारसण्हं वाससहस्राणं ।

[१८३७ प्र.] सहस्रारकल्प के विषय में पृच्छा है ।

[१८३७ उ.] गौतम ! जघन्य सत्तरह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट अठारह हजार वर्ष में उनको आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

**१८३८. आणए एं पुच्छा ।**

गोयमा ! जहृणेण श्रद्वारसण्हं वाससहस्राणं, उक्कोसेण एगूणवीसाए वाससहस्राणं ।

[१८३८ प्र.] आनतकल्प के विषय में आहारसम्बन्धी प्रश्न है ।

[१८३८ उ.] गौतम ! जघन्य अठारह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट उन्होंस हजार वर्ष में आहारेच्छा पैदा होती है ।

१८३९. पाणए णं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण एश्वरीसाए वाससहस्राणं, उक्कोसेण बीसाए वाससहस्राणं ।

[१८३९ प्र.] प्राणतकल्प के देवों की आहारविषयक पृच्छा है ।

[१८३९ उ.] गौतम ! वहाँ जघन्य उशीस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट बीस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८४०. आरणे णं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण बीसाए वाससहस्राणं, उक्कोसेण एश्वरीसाए वाससहस्राणं ।

[१८४० प्र.] आरणकल्प में आहारेच्छा सम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१८४० उ.] गौतम ! जघन्य बीस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट इकीस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८४१. अच्छुए णं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण एश्वरीसाए वाससहस्राणं, उक्कोसेण बाबीसाए वाससहस्राणं ।

[१८४१ प्र.] भगवन् ! अच्युतकल्प के देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८४१ उ.] गौतम ! जघन्य २१ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष में उनको आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८४२. हेद्विमहेद्विमेवेच्चगाणं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण बाबीसाए वाससहस्राणं, उक्कोसेण तेबीसाए वाससहस्राणं । एवं स्वरूप सहस्राणि भाणियक्षाणि जाव सवधट्ठं ।

[१८४२ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-अधस्तन (सबसे निचले) ग्रैवेयक देवों की आहारसम्बन्धी पृच्छा है ।

[१८४२ उ.] गौतम ! जघन्य २२ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २३ हजार वर्ष में देवों को आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है । इस प्रकार सवर्थिसिद्ध विमान तक (एक-एक) हजार वर्ष अधिक कहना चाहिए ।

१८४३. हेद्विममिक्षमाणं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण तेबीसाए, उक्कोसेण चउबीसाए ।

[१८४३ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-मध्यम ग्रैवेयकों के विषय में पृच्छा है ।

[१८४३ उ.] गौतम ! जघन्य २३ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २४ हजार वर्ष में उन्हें आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८४४. हेद्विमउपरिमाणं पुच्छा ।

गोपमा ! जहणेण चउबीसाए, उक्कोसेण पणुबीसाए ।

[१८४४ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-उपरिम ग्रैवेयकों के विषय में आहाराभिलाषा की पृच्छा है ।

[ १८४४ उ.] गौतम ! जघन्य चौकीस हजार वर्ष और उत्कृष्ट २५ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८४५. मजिभमहेद्विमाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण पणुवोसाए, उक्कोसेण छब्बीसाए ।

[ १८४५ प्र.] भगवन् ! मध्यम-अधस्तन ग्रेवेयकों के विषय में प्रश्न है ।

[ १८४५ उ.] गौतम ! जघन्य २५ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २६ हजार वर्ष में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८४६. मजिभममजिभमाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण छब्बीसाए, उक्कोसेण सत्तावीसाए ।

[ १८४६ प्र.] भगवन् ! मध्यम-मध्यम ग्रेवेयकों को आहाराभिलाषा कितने काल में उत्पन्न होती है ?

[ १८४६ उ.] गौतम ! जघन्य २६ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २७ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८४७. मजिभमउवरिमाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण सत्तावीसाए उक्कोसेण अद्वावीसाए ।

[ १८४७ प्र.] भगवन् ! मध्यम-उपरिम ग्रेवेयकों की आहारेच्छा सम्बन्धी पृच्छा है ।

[ १८४७ उ.] गौतम ! जघन्य २७ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २८ हजार वर्ष में उन्हें आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८४८. उवरिमहेद्विमाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण अद्वावीसाए, उक्कोसेण एकूणतीसाए ।

[ १८४८ प्र.] भगवन् ! उपरिम-अधस्तन ग्रेवेयकों की आहारेच्छा-सम्बन्धी पृच्छा है ।

[ १८४८ उ.] गौतम ! जघन्य २८ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २९ हजार वर्ष में उन्हें आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।

१८४९. उवरिममजिभमाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण एकूणतीसाए, उक्कोसेण तीसाए ।

[ १८४९ प्र.] भगवन् ! उपरिम-मध्यम ग्रेवेयकों को आहारेच्छा कितने काल में उत्पन्न होती है ?

[ १८४९ उ.] गौतम ! जघन्य २९ हजार वर्षों में और उत्कृष्ट ३० हजार वर्षों में उन्हें आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८५०. उवरिमउवरिमग्रेवेजगाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण तीसाए, उक्कोसेण एकतीसाए ।

[१८५० प्र.] भगवन् ! उपरिम-उपरिम व्रीवेयकों को कितने काल में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ?

[१८५० उ.] गौतम ! जघन्य ३० हजार वर्ष में और उत्कृष्ट ३१ हजार वर्ष में उन्हें आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।

१८५१. विजय-वैजयन्त-अयन्त-अपराजियाणं पुरुषाण ।

गोथमा ! जहण्णेण एवकसीसाए, उक्कोसेण तेत्तीसाए ।

[१८५१ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८५१ उ.] गौतम ! उन्हें जघन्य ३१ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८५२. हृष्टद्वानेत्रार्थं पुरुषाण ।

गोथमा ! अजहण्णमणुक्कोसेण तेत्तीसाए वाससहस्राणं आहारट्ठे समुपजज्ञति ।

[१८५२ प्र.] भगवन् ! सवर्धिक (सर्वार्थसिद्ध) देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८५२ उ.] गौतम ! उन्हें अजघन्य-अनुत्कृष्ट (जघन्य उत्कृष्ट के भेद से रहित) तेतीस हजार वर्ष में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ।

**विवेचन—वैमानिक** देवों की आहार सम्बन्धी वक्तव्यता—वैमानिक देवों की वक्तव्यता ज्योतिष्क देवों के समान समझनी चाहिए, किन्तु इसमें विशेषता यह है कि वैमानिक देवों को आभोग-निर्वातित आहार की इच्छा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में होती है, और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्षों में । ३३ हजार वर्षों में आहार की इच्छा का जो विधान किया गया है, वह अनुत्तरोपपातिक देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए । शेष कथन जैसा असुरकुमारों के विषय में किया गया है, वैसा ही वैमानिकों के विषय में जान लेना चाहिए ।

शुभानुभावरूप ब्राह्मल्य कारण की अपेक्षा से वर्ण से—पीत और श्वेत, गन्ध से सुरभिगन्ध वाले, रस से—आम्ल और भधुर, स्पर्श से—मृदु, लघु स्निग्ध और रुक्ष पुद्गलों के पुरातन वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुणों को रूपान्तरित करके अपने शरीरक्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गलों का समस्त आत्मप्रदेशों से वैमानिक आहार करते हैं, उन आहार किये हुए पुद्गलों को वे श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों के रूप में, इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ, मनोज्ञ, मनाम, इष्ट और विशेष अभीष्ट रूप में, हृलके रूप में, भारी रूप में नहीं, सुखदरूप में, दुःखदरूप में नहीं, परिणत करते हैं ।<sup>१</sup>

**विशेष स्पष्टीकरण—**जिन वैमानिक देवों की जितने सागरोपम की स्थिति है, उन्हें उतने ही हजार वर्ष में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है । इस नियम के अनुसार सौधर्म, ईशान आदि देवलोकों में आहारेच्छा की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का परिमाण समझ लेना चाहिए । इसे स्पष्ट-

१. (क) प्रश्नापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ५१२-५१३

(ख) प्रश्नापना भलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५०६

रूप से समझने के लिए नीचे एक तालिका दी जा रही है, जिससे आसानी से वैमानिक देवों की आहारेच्छा के काल को समझा जा सके।

क्रम	वैमानिकदेव का नाम	जग्धन्य आहारेच्छाकाल	उत्कृष्ट आहारेच्छाकाल
१	सौधर्मकल्प के देव	दिवस-पृथक्त्व	दो हजार वर्ष
२	ईशानकल्प के देव	कुछ अधिक दिवस-पृथक्त्व	कुछ अधिक दो हजार वर्ष
३	सन्तकुमारकल्प के देव	दो हजार वर्ष	सात हजार वर्ष
४	माहेन्द्रकल्प के देव	कुछ अधिक दो हजार वर्ष	कुछ अधिक ७ हजार वर्ष
५	ब्रह्मलोक के देव	सात हजार वर्ष	दस हजार वर्ष
६	लान्तककल्प के देव	दस हजार वर्ष	चौदह हजार वर्ष
७	महाशुक्रकल्प के देव	चौदह हजार वर्ष	मत्तरह हजार वर्ष
८	सहस्रारकल्प के देव	सत्तरह हजार वर्ष	अठारह हजार वर्ष
९	आनंदकल्प के देव	अठारह हजार वर्ष	उन्नीस हजार वर्ष
१०	प्राणतकल्प के देव	उन्नीस हजार वर्ष	बीस हजार वर्ष
११	आरणकल्प के देव	बीस हजार वर्ष	इक्कीस हजार वर्ष
१२	अच्युतकल्प के देव	इक्कीस हजार वर्ष	बाईस हजार वर्ष
१३	अधस्तन-अधस्तन ग्रेवेयक देव	बाईस हजार वर्ष	तीर्झीस हजार वर्ष
१४	अधस्तन-भृथ्यम ग्रेवेयक देव	तीर्झीस हजार वर्ष	चौबीस हजार वर्ष
१५	अधस्तन-उपरितन ग्रेवेयक देव	चौबीस हजार वर्ष	पच्चीस हजार वर्ष
१६	मध्यम-अधस्तन ग्रेवेयक देव	पच्चीस हजार वर्ष	छब्बीस हजार वर्ष
१७	मध्यम-मध्यम ग्रेवेयक देव	छब्बीस हजार वर्ष	सत्ताईस हजार वर्ष
१८	मध्यम-उपरिम ग्रेवेयक देव	सत्ताईस हजार वर्ष	अट्टाईस हजार वर्ष
१९	उपरिम-अधस्तन ग्रेवेयक देव	अट्टाईस हजार वर्ष	उनतीस हजार वर्ष
२०	उपरिम-मध्यम ग्रेवेयक देव	उनतीस हजार वर्ष	तीस हजार वर्ष
२१	उपरिम-उपरिम ग्रेवेयक देव	तीस हजार वर्ष	इकतीस हजार वर्ष
२२	विजय-वैजयन्ति-जयन्ति अपराजित देव	इकतीस हजार वर्ष	तीतीस हजार वर्ष
२३	सर्वार्थसिद्ध देव	अजघन्य-अनुत्कृष्ट	तीतीस हजार वर्ष <sup>१</sup>

१. (क) प्रशापना, मलयवृत्ति, घ. रा. कोष ५०६  
(ख) प्रशापना, प्रमेयबोधिती ठीका भा. ५, पृ. ५९२-६०२

## नौवाँ : एकेन्द्रियशरीरादिहार

१८५३. णेरहया णं भते ! कि एगिदियसरीराइं आहारेति जाव पंचेन्द्रियसरीराइं आहारेति ?

गोयमा ! पुष्टभावपणवणं पदुच्च एगिदियसरीराइं पि आहारेति जाव पंचेन्द्रियसरीराइं पि, पदुपणभावपणवणं पदुच्च णियमा पंचेन्द्रियसरीराइं आहारेति ।

[१८५३ प्र.] भगवन् ! क्या नेरयिक एकेन्द्रियशरीरों का यावत् पंचेन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ?

[१८५३ उ.] गौतम ! पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से वे एकेन्द्रियशरीरों का भी आहार करते हैं, यावत् पंचेन्द्रियशरीरों का भी तथा वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नियम से वे पंचेन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ।

१८५४. एवं जाव थणियकुमारा ।

[१८५४] (असुरकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक इसी प्रकार (समझना चाहिए ।)

१८५५. पुढविक्षाहयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पुष्टभावपणवणं पदुच्च एवं चेव, पदुपणभावपणवणं पदुच्च णियमा एगिदिय-सरीराइं आहारेति ।

[१८५५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१८५५ उ.] गौतम ! पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नारकों के समान वे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं । वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नियम से वे एकेन्द्रिय-शरीरों का आहार करते हैं ।

१८५६. वेदविद्या पुष्टभावपणवणं पदुच्च एवं चेव, पदुपणभावपणवणं पदुच्च णियमा वेदविद्यसरीराइं आहारेति ।

[१८५६] द्वीन्द्रियजीवों के सम्बन्ध में पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से इसी प्रकार (पूर्ववत् कहना चाहिए ।) वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से वे नियम से द्वीन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ।

१८५७. एवं जाव चतुर्दिया ताव पुष्टभावपणवणं पदुच्च एवं, पदुपणभावपणवणं पदुच्च णियमा जस्त इवियाइं तइदियसरीराइं से आहारेति ।

[१८५७] इसी प्रकार यावत् चतुर्दियपर्यन्त पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से पूर्ववत् (कथन जानना चाहिए ।) वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से जिसके जितनी इन्द्रियां हैं, उतनी ही इन्द्रियों वाले शरीर का आहार करते हैं ।

१८५८. सेसा जहा णेरहया जाव वेमाणिया ।

[१८५८] वैमानिकों तक शेष जीवों का कथन नेरयिकों के समान जानना चाहिए ।

कौन-सा जीव किनके शरीरों का आहार करता है?—प्रस्तुत प्रकरण में नैरयिक आदि चौबीस दण्डकवर्ती जीव जिन-जिन जीवों के शरीर का आहार करते हैं, उसकी प्ररूपणा की गई है, दो अपेक्षाओं से—पूर्वभावप्रज्ञापना (अर्थात् अतीतकालीन पर्यायों की प्ररूपणा) की अपेक्षा से और प्रत्युत्पन्न-वर्तमानकालिक भाव की प्ररूपणा की अपेक्षा से।<sup>१</sup>

प्रश्न के समाधान का आशय—प्रश्न तो मूलपाठ से स्पष्ट है, किन्तु उसके समाधान में जो कहा गया कि नारकादि जीव पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से—एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के शरीरों का आहार करते हैं और वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा नैरयिकादि पञ्चेन्द्रिय नियम से पञ्चेन्द्रियशरीरों का, चतुरिन्द्रिय चतुरिन्द्रियशरीरों का, श्रीन्द्रिय श्रीन्द्रियशरीरों का, द्वीन्द्रिय द्वीन्द्रियशरीरों का और पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय एकेन्द्रियशरीरों का ही आहार करते हैं। अर्थात्—जो प्राणी जितनी इन्द्रियों वाला है, वह उतनी ही इन्द्रियों वाले शरीरों का आहार करते हैं। इस समाधान का आशय वृत्तिकार लिखते हैं कि आहार्यमाण पुद्गलों के अतीतभाव (पर्याय) की दृष्टि से विचार किया जाए तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उनमें से कभी कोई एकेन्द्रियशरीर के रूप में परिणत नहीं, कोई द्वीन्द्रियशरीर के रूप में परिणत नहीं, कोई श्रीन्द्रियशरीर या चतुरिन्द्रियशरीर के रूप में और कोई पञ्चेन्द्रियशरीर के रूप में परिणत नहीं। उस पूर्वभाव का यदि वर्तमान में आदोप करके विवक्षा को जाए तो नारकजीव एकेन्द्रियशरीरों का तथा द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय शरीरों का भी आहार करते हैं। किन्तु जब ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से वर्तमान-भव की विवक्षा की जाती है, तब ऋजुसूत्रनय क्रियमाण को कृत, आहार्यमाण को आहृत और परिणम्यमान पुद्गलों को परिणत स्वाकार करता है; जो स्वशरीर के रूप में परिणत हो रहे हैं। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय के मत से स्वशरीर का ही आहार किया जाता है। नारकों, देवों, मनुष्यों और पञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्गों का स्वशरीर पञ्चेन्द्रिय है। शेष जीवों (एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय) के विषय में भी इसी प्रकार स्थिति के अनुसार कहना चाहिए।<sup>२</sup>

### वस्त्राँ : लोमाहारहार

१८५९. जेरद्वयाणं भंते ! कि लोमाहारा पक्षेवाहारा ?

गोदमा ! लोमाहारा, जो पक्षेवाहारा ।

[१८५९ प्र.] भगवन् ! नारक जीव लोमाहारी हैं या प्रक्षेपाहारी हैं ?

[१८५९ उ.] गोतम ! वे लोमाहारी हैं, प्रक्षेपाहारी नहीं हैं।

१८६०. एवं एगिविया सम्बे देवा या माणियस्वा जाव वैमाणिया ।

[१८६०] इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों, वैमानिकों तक सभी देवों के विषय में कहना चाहिए।

१. (क) पण्डितानुत भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण्युक्त) पृ. ३९९

(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ६०५-६०६

२. वही भा. ५ पृ. ६०६ से ६०९ तक।

१८६१. वेदांशिया जाव मणूसा लोमाहारा वि पवलेवाहारा वि ।

[१८६१] द्वीन्द्रियों से लेकर मनुष्यों तक लोमाहारी भी हैं, प्रक्षेपाहारी भी हैं ।

विवेचन—चौबीस दण्डकों में लोमाहारी-प्रक्षेपाहारी-प्रकृपणा—लोमाहारी का अर्थ है—रोमों (रोओं) द्वारा आहार श्वरण करने वाले तथा प्रक्षेपाहारी का अर्थ है—कवलाहारी—ग्रास (फौर) हाथ में लेकर मुख में ढालने वाले जीव ; चौबीस दण्डकों में नारक, अवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक और एकेन्द्रिय जीव लोमाहारी हैं, प्रक्षेपाहारी नहीं; क्योंकि नारक और चारों प्रकार के देव वैक्षियशरीरधारी होते हैं, इसलिए तथाविधि स्वभाव से ही वे लोमाहारी होते हैं । उनमें कवलाहार का अभाव है । पृथ्वीकायिकादि पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के मुख नहीं होता, अतएव उनमें प्रक्षेपाहार का अभाव है । किन्तु द्वीन्द्रिय, ओन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यङ्गच एवं मनुष्य लोमाहारी भी होते हैं और कवलाहारी (प्रक्षेपाहारी) भी । नारकों का लोमाहार भी पर्याप्त नारकों का ही जानना चाहिए, अपर्याप्तकों का नहीं ।<sup>१</sup>

### ग्यारहवाँ : मनोभक्षीद्वार

१८६२. गोरहया एं भंते ! कि ओयाहारा मणभक्षी ?

गोथमा ! ओयाहारा, एो मणभक्षी ।

[१८६२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव ओज-आहारी होते हैं, अथवा मनोभक्षी ?

[१८६२ उ.] गौतम ! वे ओज-आहारी होते हैं, मनोभक्षी नहीं ।

१८६३. एवं सब्दे ओरालियसरीरा वि ।

[१८६३] इसी प्रकार सभी ओदारिकशरीरधारी जीव भी ओज-आहार वाले होते हैं ।

१८६४. देवा सब्दे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्षी वि । तत्थ एं जे ते मणभक्षी देवा तेसि एं इच्छामणे समुप्पञ्जइ 'इच्छामो एं मणभक्षं करित्सए' तए एं तेहि देवेहि एवं मणसीकते समाप्ते खिप्पामेव जे पोगला इट्टा कंता जाव मणामा से तेसि मणभक्षस्ताएं परिणमेति, से जहाणामए सीता पोगला सीयं पप्प सीयं देव अइवास्ताणं चिट्ठंति उसिणा वा पोगला उसिणं पप्प उसिणं देव अतिवास्ताणं चिट्ठंसि । एवामेव तेहि देवेहि मणभक्षणे कुते समाणे गोयमा ! से इच्छामणे खिप्पामेव अवेति ।

[१८६४] असुरकुमारों से वैमानिकों तक सभी (प्रकार के) देव ओज-आहारी भी होते हैं और मनोभक्षी भी । देवों में जो मनोभक्षी देव होते हैं, उनको इच्छामन (अर्थात्—मन में आहार करने की इच्छा) उत्पन्न होती है । जैसे कि—वे चाहते हैं कि हम मनो—(मन में चिन्तित वस्तु का) भक्षण करें ! तत्पश्चात् उन देवों के द्वारा मन में इस प्रकार की इच्छा किये जाने पर शीघ्र ही जो पुद्गल इष्ट, कान्त (कमनीय), यावत् मनोज, मनाम होते हैं, वे उनके मनोभक्ष्यरूप में परिणत हो जाते हैं । (यथा—मन से अमुक वस्तु के भक्षण की इच्छा के) तदनन्तर जिस किसी नाम

वाले शीत (ठंडे) पुद्गल, शीतस्वभाव को प्राप्त होकर रहते हैं भयवा उष्ण पुद्गल, उष्णस्वभाव को पाकर रहते हैं।

हे गोतम ! इसी प्रकार उन देवों द्वारा मनोभक्षण किये जाने पर, उनका इच्छाप्रधान मन शीघ्र ही सन्तुष्ट—तृप्त हो जाता है।

॥ पश्चवणाए भगवतीए आहारपदे पदमो उद्देसयो समतो ॥

**विवेचन**—ओज-आहारो का अर्थ—उत्पत्तिप्रदेश में आहार के योग्य पुद्गलों का जो समूह होता है, वह 'ओज' कहलाता है। मन में उत्पन्न इच्छा से आहार करने वाले मनोभक्षों कहलाते हैं।<sup>१</sup>

**निष्कर्ष**—जितने भी ओदारिकशरीरी जीव हैं, वे सब तथा नारक ओज-आहारी होते हैं तथा वैक्रियशरीरी जीवों में चारों जाति के देव मनोभक्षी भी होते तथा ओज-आहारी भी होते हैं। मनोभक्षी देवों का स्वरूप इस प्रकार का है कि वे विशेष प्रकार की शक्ति से, मन में शरीर को पुष्टिकर, सुखद, अनुकूल एवं रुचिकर जिन आहार्य-पुद्गलों के आहार की इच्छा करते हैं, तदनुरूप आहार प्राप्त हो जाता है और उसकी प्राप्ति के पश्चात् वे परम-संतोष एवं तुष्टि का अनुभव करते हैं। नारकों को ऐसा आहार प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रतिकूल अशुभकर्मों का उदय होने से उनमें दैसी शक्ति नहीं होती।<sup>२</sup>

**सूत्रहृतांगनिर्युक्ति गायाश्रों का अर्थ**—ओजाहार शरीर के द्वारा होता है, रोमाहार त्वचा (बमड़ी) द्वारा होता है तौर प्रक्षेपाहार कवल (कौर) करके किया जाने वाला होता है ॥ १ ॥ सभी अपर्याप्त जीव ओज-आहार करते हैं, पर्याप्त जीवों के तो रोमाहार और प्रक्षेपाहार (कवलाहार) की भजना होती है ॥ २ ॥ एकेन्द्रिय जीवों, नारकों और देवों के प्रक्षेपाहार (कवलाहार) नहीं होता, शेष सब संसारी जीवों के कवलाहार होता है ॥ ३ ॥ एकेन्द्रिय और नारकजीव तथा असुरकुमार आदि का गण रोमाहारी होता है, शेष जीवों का आहार रोमाहार एवं प्रक्षेपाहार होता है ॥ ४ ॥ सभी प्रकार के देव ओज-आहारी और मनोभक्षी होते हैं। शेष जीव रोमाहारी और प्रक्षेपाहारी होते हैं ॥ ५ ॥<sup>३</sup>

॥ अद्वैतसर्वां आहारपद : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥



१. प्रज्ञापना. (प्रभेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ६१२

२. वही, भा. ५, पृ. ६१३

३. सरीरेणोयाहारो तथाय फासेण लोम-आहारो ।

पक्खेवाहारो कावलिओ होइ नायब्बो ॥ १७१ ॥

ओयाहारा जीवा सब्बे अपज्जत्तगा मुणेयब्बा ।

पञ्जत्तगा य लोमे पक्खेब्बे होंति भद्रयब्बा ॥ १७२ ॥

एग्निदियदेवाणं नेरदयाणं च नत्यि पक्खेब्बो ।

सेसाणं जीवाणं संसारत्वाणं पक्खेब्बो ॥ १७३ ॥

लोमाहारा एग्निदिया उ नेरदय सुरगणा चेव ।

सेसाणं आहारो लोमे पक्खेब्बो चेव ॥ ४ ॥

ओयाहारा मणभक्षिक्षणो य सब्बे वि सुरगणा होंति ।

सेसा हवंति जीवा लोमे पक्खेब्बो चेव ॥ ५ ॥

- सूत्रहृतांग सु. २, भ. ३ नियुक्ति

## बीओ उद्देशओ

### द्वितीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के तेरह द्वारों की संग्रहणी गाथा

१८६५. आहार १ भविय २ सण्णी ३ लेस्ता ४ विद्वी य ५ संजय ६ कसाए ७ ।

णाणे ८ जोगुबद्धोगे ९-१० वेदेय ११ सरीर १२ पञ्जत्ती १३ ॥ २१९ ॥

[१८६५ संग्रहणी-गाथार्थ] द्वितीय उद्देशक में निम्नोक्त तेरह द्वार हैं—(१) आहारद्वार, (२) भव्यद्वार, (३) संशीद्वार (४) लेश्याद्वार (५) इन्द्रियाद्वार, (६) हंसत्तद्वार, (७) कषायद्वार, (८) ज्ञानद्वार, (९-१०) योगद्वार, उपयोगद्वार, (११) वेदद्वार, (१२) शरीरद्वार और (१४) पर्याप्तिद्वार।

**विवेचन**—द्वितीय उद्देशक में इन तेरह द्वारों के आधार पर आहार का प्रखण्डन किया जाएगा। यहाँ 'भव्य' आदि शब्दों के ग्रहण से उनके विरोधी 'अभव्य' आदि का भी ग्रहण हो जाता है।

**प्रथम : आहारद्वार**

१८६६. [१] जीवे ण भते ! कि आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८६६ प्र.] भगवन् ! जीव आहारक है या अनाहारक है ?

[१८६६ उ.] गौतम ! वह कथंचित् आहारक है, कथंचित् अनाहारक है ।

[२] एवं नेरइए जाव असुरकुमारे जाव वेमाणिए ।

[१८६६-२] नैरयिक (से लेकर) यावत् असुरकुमार और वैमानिक तक इसा प्रकार जानना चाहिए ।

१८६७. सिद्धे ण भते ! कि आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! णो आहारए, अणाहारए ।

[१८६७ प्र.] भगवन् ! एक सिद्ध (जीव) आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८६७ उ.] गौतम ! एक सिद्ध (जीव) आहारक नहीं होता, अनाहारक होता है ।

१८६८. जीवा ण भते ! कि आहारया अणाहारया ?

गोयमा ! आहारगा वि अणाहारगा वि ।

[१८६८ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव आहारक होते हैं, या अनाहारक होते हैं ?

[१८६८ उ.] गौतम ! वे आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी होते हैं ।

१८६९. [ १ ] णेरइयाणं पुञ्चा ।

गोयमा ! सब्दे वि ताव होञ्जा आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ३ ।

[ १८६९-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नैरयिक आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

[ १८६९-१ उ.] गौतम ! (१) वे सभी आहारक होते हैं, (२) अथवा बहुत आहारक और कोई एक अनाहारक होता है, (३) या बहुत आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणिया । णवरं एर्गिक्या जहा जोवा ।

[ १८७० ] इसी तरह वैमानिक-पर्यन्त जानना चाहिये । विशेष यह है कि एकेन्द्रिय जीवों का कथन बहुत जीवों के समान समझना चाहिए ।

१८७०. सिद्धाणं पुञ्चा ।

गोयमा ! जो आहारगा, अणाहारगा । द्वारं १ ।

[ १८७० प्र.] (बहुत) सिद्धों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[ १८७० उ.] गौतम ! सिद्ध आहारक नहीं होते, वे अनाहारक ही होते हैं । [प्रथम द्वार]

विवेचन—जीव स्यात् आहारक स्यात् अनाहारक : कैसे ?—विग्रहगति, केवलि-समुद्घात, शैलेशी अवस्था और सिद्धावस्था की अपेक्षा समुच्चय जीव को अनाहारक और इनके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा आहारक समझना चाहिए । कहा भी है—

‘विग्रहग्रामावस्था केवलिणो समोह्या अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥’

समुच्चय जीव की तरह नैरयिक भी कथंचित् आहारक और कथंचित् अनाहारक होता है । अमुरकुमार से लेकर वैमानिक देव तक सभी जीव कथंचित् आहारक और कथंचित् अनाहारक होते हैं ।<sup>१</sup>

बहुवचन की अपेक्षा —कोई जीव आहारक होते हैं, कोई अनाहारक भी होते हैं । सभी नारक आहारक होते हैं, अथवा बहुत नारक आहारक होते हैं, कोई एक अनाहारक होता है, अथवा बहुत-से आहारक और बहुत-से अनाहारक होते हैं । यही कथन वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए । एकेन्द्रिय जीवों का कथन समुच्चय जीवों के समान समझना । अर्थात् वे बहुत-से अनाहारक और बहुत-से आहारक होते हैं ।

सिद्ध एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा सदैव अनाहारक होते हैं ।<sup>२</sup>

विग्रहगति की अपेक्षा से जीव अनाहारक—विग्रहगति से भिन्न समय में सभी जीव आहारक होते हैं और विग्रहगति कहीं, कभी, किसी जीव को होती है । यद्यपि विग्रहगति सर्वकाल में पाई

१. (क) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. को. भा. २, पृ. ५१०

(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६२८ से ६३० तक

२. वही, भा. ५, पृ. ६२८

जाती है, किन्तु वह होती है प्रतिनियत जीवों की ही। इस कारण आहारकों को बहुत कहा है। सिद्ध सदेव अनाहारक होते हैं, वे सदेव विश्वमान रहते हैं तथा अभव्यजीवों से अनन्तगुण भी हैं तथा सदेव एक-एक निर्गोद का प्रतिसमय असंख्यातर्थ भाग विप्रहृतिप्राप्त रहता है। इस अपेक्षा से अनाहारकों की संख्या भी बहुत कही है।<sup>१</sup>

**बहुत-से नारकों के तीन भंग :** क्यों और क्से ?—(१) पहला भंग है—नारक कभी-कभी सभी आहारक होते हैं, एक भी नारक अनाहारक नहीं होता। पद्धपि नारकों के उपपात का विरह भी होता है, जो केवल बारह मुहूर्त का होता है; उस काल में पूर्वोत्पन्न एवं विग्रहगति को प्राप्त नारक आहारक हो जाते हैं तथा कोई नया नारक उत्पन्न नहीं होता। अतएव कोई भी नारक उस समय अनाहारक नहीं होता। (२) दूसरा भंग है—बहुत-से नारक आहारक और कोई एक नारक अनाहारक होता है। इसका कारण यह है कि नारक में कदाचित् एक जीव उत्पन्न होता है, कदाचित् दो, तीन, चार यावत् संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। अतएव जब एक जीव उत्पद्यमान होता है और वह विग्रहगति-प्राप्त होता है तथा दूसरे सभी पूर्वोत्पन्न नारक आहारक हो चुकते हैं, उस समय यह दूसरा भंग समझना चाहिए। (३) तीसरा भंग है—बहुत-से नारक आहारक और बहुत-से अनाहारक। यह भंग उस समय घटित होता है, जब बहुत नारक उत्पन्न हो रहे हों और वे विग्रहगति को प्राप्त हों। इन तीन के सिवाय कोई भी भंग नारकों में सम्भव नहीं है।<sup>२</sup>

**एकेन्द्रिय जीवों में केवल एक भंग :** क्यों और क्से ?—पृथ्वीकायिकों से लेकर वनस्पतिकायिकों तक में केवल एक ही भंग पाया जाता है। इसका कारण यह है कि पृथ्वीकायिक से लेकर वायुकायिक तक चार स्थावर जीवों में प्रतिसमय असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिए बहुत-से आहारक होते हैं तथा वनस्पतिकायिक में प्रतिसमय अनन्तजीव विग्रहगति से उत्पन्न होते हैं। उस कारण उनमें सदेव अनाहारक भी बहुत पाये जाते हैं। इसलिए समस्त एकेन्द्रियों में केवल एक ही भंग पाया जाता है—बहुत-से आहारक और बहुत-से अनाहारक।<sup>३</sup>

### द्वितीय : भव्यसूत्र

१८७१. [१] भवसिद्धिए णं भंते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गौतम ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८७१-१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८७१-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है, कदाचित् अनाहारक होता है :

[२] एवं जाव वेमाणिए ।

[१८७१-२] इसी प्रकार की वक्तव्यता वैमानिक तर्क जाननी चाहिए ।

१. प्रजापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ६२९

२. प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१०

३. अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५१०

१८७२. भवसिद्धिया णं भने ! जीवा कि आहारगा अणाहारगा ?

गोषमा ! जीवेगिवियदुजो तियभंगो ।

[ १८७२ प्र.] भगवन् ! (बहुत) भवसिद्धिक जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[ १८७२ उ.] गीतम ! समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर (इस विषय में) तीन भंग कहने चाहिए ।

१८७३. अभवसिद्धिए वि एवं चेव ।

[ १८७३ ] अभवसिद्धिक के विषय में भी इसी प्रकार (भवसिद्धिक के समान) कहना चाहिए ।

१८७४. [ १ ] णोभवसिद्धिए-णोअभवसिद्धिए णं भने ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गोषमा ! णो आहारए, अणाहारए ।

[ १८७४-१ प्र.] भगवन् ! नो-भवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[ १८७४-१ उ.] गीतम ! वह आहारक नहीं होता, अनाहारक होता है ।

[ २ ] एवं सिद्धे वि ।

[ १८७४-२ ] इसी प्रकार सिद्ध जीव के विषय में कहना चाहिए ।

१८७५. [ १ ] णोभवसिद्धिया-णोअभवसिद्धिया णं भने ! जीवा कि आहारगा अणाहारगा ?

गोषमा ! णो आहारगा, अणाहारगा ।

[ १८७५-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नो-भवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[ १८७५-१ उ.] गीतम ! वे आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक होते हैं ।

[ २ ] एवं सिद्धा वि । दारं २ ॥

[ १८७५-२ ] इसी प्रकार बहुत-से सिद्धों के विषय में समझ लेना चाहए । [ द्वितीय द्वार ]

विवेचन—भवसिद्धिक कव आहारक, कव अनाहारक ?—भवसिद्धिक अथत्—भव्यजीव विश्वहगति आदि अवस्था में अनाहारक होता है और शेष समय में आहारक । भवसिद्धिक समुच्चय जीव की तरह भवसिद्धिक भवनपति आदि चारों जाति के देव, मनुष्य, तिर्यङ्गचपंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि सभी जीव (सिद्ध को छोड़कर) पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होते हैं ।<sup>१</sup>

बहुत्वविशिष्ट भवसिद्धिक जीव के तीन भंग : क्यों और कैसे ?—आहारकद्वार के समान समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ शेष नारक आदि बहुत्वविशिष्ट सभी जीवों में उक्त के समान तीन भंग होते हैं ।

**अभवसिद्धिक और भवसिद्धिक :** संक्षण एवं आहारकता-अनाहारकता—अभवसिद्धिक वह हैं, जो मोक्षगमन के योग्य न हों। भवसिद्धिक वे जीव हैं, जो संस्थात्, असूख्यात् अथवा अनन्त भवों के पश्चात् कभी न कभी सिद्धि प्राप्त करेंगे। भवसिद्धिक की भाँति अभवसिद्धिक के विषय में भी आहारकत्व-अनाहारकत्व का प्रलयण किया गया है।<sup>१</sup>

**नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक और सिद्ध—नो-भवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक सिद्धजीव ही हो सकता है।** क्योंकि सिद्ध भूक्षिपद को प्राप्त कर चुके हैं, इसीलिए उन्हें भव्य नहीं कहा जा सकता तथा मोक्ष को प्राप्त हो जाने के कारण उन्हें मोक्षगमन के अयोग्य—अभवसिद्धिक (अभव्य) भी नहीं कहा जा सकता। एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से ये अनाहारक ही होते हैं।<sup>२</sup>

### तृतीय : संज्ञीद्वार

१८७६. [१] सप्णी णं भंते ! जीवे कि आहारणे अणाहारणे ?

गोयमा ! सिय आहारणे सिय अणाहारणे ।

[१८७६-१ प्र.] भगवन् ! संज्ञी जीव आहारक है या अनाहारक है ?

[१८७६-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । णवरं एगिविय-विगलिदिया ण पुच्छङ्गंति ।

[१८७६-२] इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए। किन्तु एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए।

१८७७. सप्णी णं भंते ! जीवा कि आहारया अणाहारणा ?

गोयमा ! जीवाईओ तियभंगो जाव वेमाणिया ।

[१८७७ प्र.] भगवन् ! बहुत-से संज्ञी जीव आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

[१८७७ उ.] गौतम ! जीवादि से लेकर वैमानिक तक (प्रत्येक में) तीन भंग होते हैं ।

१८७८. [१] असप्णी णं भंते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८७८-१ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८७८-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] एवं जोरइए जाव वाणमंतरे ।

[१८७८-२] इसी प्रकार नारक से लेकर वाणव्यन्तर पर्यन्त कहना चाहिए।

[३] जोइसिय-वेमाणिया ण पुच्छङ्गंति ।

[१८७८-३] ज्योतिष्क और वैमानिक के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए।

१. प्रश्नापना, मलयवृत्ति पृ. ५१०

२. कही, अ. रा. कोष भा. २, पृ. ५१०-५११

१८७९. प्रसंणी णं भंते ! जीवा कि आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! आहारगा वि अणाहाररत् दि, इत्तो भंदो ।

[ १८७९ प्र.] भगवन् ! (बहुत) प्रसंजी जीव आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

[ १८७९ उ.] गोतम ! वे आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी होते हैं । इनमें केवल एक ही भंग होता है ।

१८८०. [ १ ] प्रसंणी णं भंते ! जेरहया कि आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! आहारगा वा १ अणाहारगा वा २ अहवा आहारए य अणाहारए य ३ अहवा आहारए य अणाहारगा य ४ अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ६, एवं ऐते छब्बंगा ।

[ १८८०-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) प्रसंजी नैरयिक आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

[ १८८०-१ उ.] गोतम वे—(१) सभी आहारक होते हैं, (२) सभी अनाहारक होते हैं। (३) अथवा एक आहारक और एक अनाहारक, (४) अथवा एक आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं, (५) अथवा बहुत आहारक और एक अनाहारक होता है तथा (६) अथवा बहुत आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव थणियकुमारा ।

[ १८८०-२ ] इसी प्रकार स्तनितकुमार पर्यन्त जानना चाहिए ।

[ ३ ] एगिदिएसु अभंगयं ।

[ १८८०-३ ] एकेन्द्रिय जीवों में भंग नहीं होता ।

[ ४ ] बेहंदिय जाव पंचेदियतिरिवद्वजोणिएसु लियभंगो ।

[ १८८०-४ ] द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियतिर्यङ्ग तक के जीवों में पूर्वोक्त कथन के समान तीन भंग कहने चाहिए ।

[ ५ ] मणूस-वाणमंतरेसु छब्बंगा ।

[ १८८०-५ ] मनुष्यों और वाणव्यन्तर देवों में (पूर्ववत्) वह भंग कहने चाहिए ।

१८८१. [ १ ] णोसणी-णोश्वसणी णं भंते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[ १८८१-१ प्र.] भगवन् ! नोसंजी-नोश्वसंजी जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[ १८८१-१ उ.] गोतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[ २ ] एवं मणूसे दि ।

[ १८८१-२ ] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी कहना चाहिए ।

## [३] सिद्धे अणाहारए ।

[१८८१-३] सिद्ध जीव अनाहारक होता है ।

१८८२. [१] पुहत्तेणं नोसण्णी-णोग्रसण्णी जीवा आहारगा वि अणाहारगा वि ।

[१८८२-१] बहुत्व की अपेक्षा से नोसंज्ञी-नोग्रसंज्ञी जीव आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी होते हैं ।

## [२] मणूसेसु तिथभंगो ।

[१८८२-२] (बहुत्व की अपेक्षा से नोसंज्ञी-नोग्रसंज्ञी) मनुष्यों में तीन भंग (पाये जाते हैं ।)

## [३] सिद्धा अणाहारगा । दारं ३ ॥

[१८८२-३] (बहुत-से) सिद्ध अनाहारक होते हैं ।

[तृतीय द्वार]

विवेचन—संज्ञो-ग्रसंज्ञी : स्वरूप—जो मन से युक्त हों, वे संज्ञी कहलाते हैं । असंज्ञी अमनस्क होता है । प्रश्न होता है—संज्ञी जीव के भी विग्रहगति में मन नहीं होता, ऐसी स्थिति में अनाहारक क्यों? इसका समावान यह है कि विग्रहगति को प्राप्त होने पर भी जो जीव संज्ञी के आयुष्य का वेदन कर रहा है, वह उस समय मन के अभाव में भी संज्ञी ही कहलाता है, जैसे—नारक के आयुष्य का वेदन करने के पश्चात् विग्रहगतिप्राप्त नरकगामी जीव नारक ही कहलाता है ।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय मनोहीन होने के कारण संज्ञी नहीं होते, इसलिए यहाँ संज्ञीप्रकरण में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए ।

उद्योतिष्ठक और वैमानिकों में असंज्ञो की पृच्छा नहीं—ज्योतिष्ठक और वैमानिकों में असंज्ञीपन का व्यवहार नहीं होता, इसलिए इन दोनों में असंज्ञी का आलापक नहीं कहना चाहिए ।

नोसंज्ञी-नोग्रसंज्ञी जीव में आहारकता-अनाहारकता—ऐसा जीव एकत्व की विवक्षा से कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, क्योंकि केवलीसमुद्घातावस्था के अभाव में आहारक होता है, शेष अवस्था में अनाहारक होता है । बहुत्व की विवक्षा से इनमें दो भंग पाए जाते हैं । यथा—(१) आहारक भी नोसंज्ञी-नोग्रसंज्ञी जीव बहुत होते हैं, क्योंकि समुद्घात-अवस्था से रहित केवलो बहुत पाये जाते हैं । सिद्ध अनाहारक होते हैं, इसलिए अनाहारक भी बहुत पाये जाते हैं । नोसंज्ञी-नोग्रसंज्ञी मनुष्यों में तीन भंग पाये जाते हैं—(१) जब कोई भी केवलीसमुद्घातावस्था में नहीं होता, तब सभी आहारक होते हैं, यह प्रथम भंग, (२) जब बहुत-से मनुष्य समुद्घातावस्था में हों और एक केवलीसमुद्घातगत हो, तब दूसरा भंग, (३) जब बहुत-से केवलीसमुद्घातावस्था को प्राप्त हों, तब तीसरा भंग होता है ।<sup>१</sup>

## चतुर्थ : लेश्याद्वार

१८८३. [१] सलेसे णं भते । जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गोयमा । सिथ आहारए सिथ अणाहारए ।

१. (क) अभि. रा. कोष. भा. २, पृ. ५११

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी. भा. ५, पृ. ६४२

[१८८३-१ प्र.] भगवन् ! सलेश्य जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८८३-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए ।

[१८८३-२] इसी प्रकार वेमाणिक तक जानना चाहिए ।

१८८४. सलेसा ण भंते । जीवा कि आहारगा अणाहारगा ?

गोथमा ! जीवेगिदियदज्जो तियभंगो ।

[१८८४ प्र.] भगवन् ! (बहुत) सलेश्य जीव आहारक होते हैं या अनाहारक होते हैं ?

[१८८४ उ.] गौतम ! समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर इनके तीन भंग होते हैं ।

१८८५. [१] एवं कृष्णलेसाए वि जीललेसाए वि काउलेसाए वि जीवेगिदियदज्जो तियभंगो ।

[१८८५-१] इसी प्रकार कृष्णलेश्यो, नीललेश्यो और काषोतलेश्यो के विषय में भी समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर (पूर्वोक्त प्रकार से नारक आदि प्रत्येक में) तीन भंग कहने चाहिए ।

[२] तेउलेस्साए पुढिथ-प्राउ-वणस्सइकाइयाण छङभंगो ।

[१८८५-२] तेजोलेश्या की अपेक्षा से पृथक्कायिक, अप्कायिक और बनस्पतिकायिकों में छह भंग (कहने चाहिए ।)

[३] सेसाणं जीवादीश्वो तियभंगो जेसि अतिप तेउलेस्सा ।

[१८८५-३] शेष जीव आदि (अर्थात् जीव से लेकर वेमाणिक पर्यन्त) में, जिनमें तेजोलेश्या पाई जाती है, उसमें तीन भंग (कहने चाहिए ।)

[४] पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए वं जीवादीश्वो तियभंगो ।

[१८८५-४] पद्मलेश्या और शुक्कलेश्या वाले (जिनमें पाई जाती है, उन) जीव आदि में तीन भंग पाए जाते हैं ।

१८८६. अलेस्सा जीवा मण्सा सिद्धा य एगत्तेण वि पुहस्तेण वि णो आहारगा, अणाहारगा । दारं ४ ॥

[१८८६] अलेश्य (लेश्यारहित) समुच्चय जीव, मनुष्य, (अयोगी केवली और सिद्ध एकस्व और बहुत्व की विवक्षा से आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक ही होते हैं । [चतुर्थ ढार]

विवेचन—सलेश्य जीवों में आहारकता-अनाहारकता की प्रकृष्टणा—एकस्व की अपेक्षा—सलेश्य जीव तथा चौबीसदण्डकवर्ती जीव विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और शेषेशी अवस्था की अपेक्षा अनाहारक और अन्य अवस्थाओं में आहारक समझने चाहिए ।

बहुत्व की अपेक्षा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष नारक आदि प्रत्येक में पूर्वोक्त युक्ति से तीन भंग होते हैं । जीवों और एकेन्द्रियों में सिर्फ़ एक भंग—(बहुत आहारक और बहुत अनाहारक) पाया जाता है, क्योंकि दोनों सदैव बहुत संख्या में पाए जाते हैं । कृष्ण-नील-

कापोतलेश्यो नारक आदि में भी संमुच्चय सलेश्य जीवों के समान प्रत्येक में तीन भंग (समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर) कहने चाहिए।<sup>१</sup>

तेजोलेश्यी जीवों के आहारकता-अनाहारकता—एकत्व की अपेक्षा से तेजोलेश्यावान् पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों में प्रत्येक में एक ही भंग (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

बहुत्व की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और बनस्पतिकायिक तेजोलेश्यावान् में छह भंग पाये जाते हैं—(१) सब आहारक, (२) सब अनाहारक, (३) एक आहारक एक अनाहारक, (४) एक आहारक बहुत अनाहारक, (५) बहुत आहारक एक अनाहारक और (६) बहुत आहारक बहुत अनाहारक।

इसके अतिरिक्त समुच्चय जीवों से लेकर वैमानिक पर्यन्त जिन-जिन जीवों में तेजोलेश्या पाई जाती है, उन्हीं में प्रत्येक में पूर्ववत् तीन-तीन भंग कहने चाहिए, शेष में नहीं। अर्थात्—नारकों में, तेजस्कायिकों में, वायुकायिकों में, द्विन्द्रियों, श्रीन्द्रियों और चतुरन्द्रियों में तेजोलेश्या-सम्बन्धी वक्तव्यता नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि इनमें तेजोलेश्या नहीं होती।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और बनस्पतिकायिकों में तेजोलेश्या इस प्रकार है कि भवनपति, वाणश्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्मादि देवलोकों के वैमानिक देव तेजोलेश्या वाले होते हैं, वे च्यवन कर पृथ्वीकायिकादि तीनों में उत्पन्न हो सकते हैं, इस दृष्टि से पृथ्वीकायिकादित्रय में तेजोलेश्या सम्भव है।<sup>२</sup>

**पद्म-शुक्ललेश्यायुक्त जीवों की अपेक्षा आहारक-अनाहारक-विचारणा—पञ्चेन्द्रियतिर्यचों, मनुष्यों, वैमानिकदेवों और समुच्चय जीवों में ही पद्म-शुक्ललेश्याद्वय पाई जाती है, अतएव इनमें एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् एक ही भंग होता है तथा बहुत्व की अपेक्षा पूर्ववत् तीन भंग होते हैं।**

लेश्यारहित जीवों में अनाहारकता—समुच्चय जीव, मनुष्य, अयोगिकेवली और सिद्ध लेश्यारहित होते हैं, अतएव ये एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक ही होते हैं, आहारक नहीं।<sup>३</sup>

### पंचम : दृष्टिद्वार

१८८७. [१] सम्मद्विती णं भंते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गौतम ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८८७-१ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ।

[१८८७-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिन्द्रिया छठभंगा ।

[१८८७-२] द्विन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और चतुरन्द्रिय (सम्यग्दृष्टियों) में पूर्वोक्त अह भंग होते हैं ।

१. प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५१२

२. (क) प्रजापनाचूर्ण—‘जेणं तेसु मवणवद्वा वाणमंतर-सोहस्रीसाणया वैवा उववर्णाति तेणं तेजसेस्ता लङ्घन् ।’

(ख) प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१२

३. वही, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१२

[ १ ] सिद्धा अण्डहारन्यम्

[१८८७-३] सिद्ध अनाहारक होते हैं।

[४] अवसेसाणं तियर्खंगो ।

[१८८७-४] शेष सभी (सम्यद्विष्ट जीवों) में (एकत्र की अपेक्षा से) तीन भंग (पूर्ववत्) होते हैं।

੧੮੮੯. ਸਿਖਿਹਿਟੀਸੁ ਜੀਥੇਗਿਦਿਧਕਲਜੋ ਤਿਥਖੰਗੋ ।

[१८८८] मिथ्यादृष्टियों में समुक्षय जीव और एकेन्द्रियों को छोड़ कर (प्रत्येक में) तीन-तीन भंग पाये जाते हैं।

१८८९. [३] सम्मानित्यद्विटी पां भंते ! कि आहारए घणाहारए ?

गोयमा ! आहारए, णो अणाहारए ।

[१८८९-१ प्र.] भगवन् ! सम्यग् मिथ्यादृष्टि जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८८९-१ उ.] गौतम ! वह आहारक होता है, अनाहारक नहीं होता है।

[ २ ] एवं एगिदिय-किगलिदियबुज जाव वेसाणिए ।

[१८८९-२] एकेन्द्रिय और विरुद्धेन्द्रिय को छोड़ कर वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (का कथन करना चाहिए।)

[३] एवं पुहत्तेण विः । दारौँ ५ ॥

[१८८५-३] बहुत्व की व्यापेक्षा से भी इसी प्रकार की वक्तव्यता समझनी चाहिए।

[पंचमद्वार]

**दिवेश्वन**—दृष्टि की अपेक्षा से आहारक-आनाहारक-प्ररूपण—प्रस्तुत में सम्यग्दृष्टि पर फ़र्ज़—ओपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक और वेदक तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ सामान्यपद से सम्यग्दृष्टि शब्द प्रयुक्त किया गया है। ओपशमिक सम्यग्दृष्टि आदि प्रसिद्ध हैं। वेदक सम्यग्दृष्टि वह है, जो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के चरम समय में हो और जिसे अबगले ही समय में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने वाली हो।

सम्यगदृष्टि जीवादि पदों में—एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से कमशः एक-एक भंग कहना। चाहिए, यथा जीव आदि पदों में एकत्वापेक्षया—कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक, यह एक भंग और बहुत्व की अपेक्षा—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यह एक भंग होता है। इनमें पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों की वक्तव्यता नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि इनमें सम्यगदृष्टि और सम्यग-मिथ्यादृष्टि दोनों का अभाव होता है। विकलेन्द्रिय सम्यगदृष्टियों में पूर्वोक्तवत् छह भंग कहने चाहिए। हीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त शब्दस्था में सास्वादन-सम्यकत्व की अपेक्षा से सम्यगदृष्टित्व समझना चाहिए। सिद्ध क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं और सदैव अनाहारक होते हैं। ग्रेष अर्थात् नंरयिकों, भवनपतियों, पंचेन्द्रियतिर्यङ्कों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में जो सम्यगदृष्टि है, पूर्वोक्त युक्ति से उनमें तीन भंग पाये जाते हैं :

मिथ्यादृष्टियों में—एकत्व की विवक्षा से सर्वत्र कदाचित् एक आहारक एक अनाहारक, यही एक भंग पाया जाता है। बहुत्व की विवक्षा से समुच्चय जीव और पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियों में से प्रत्येक के बहुत आहारक बहुत अनाहारक, यह एक ही भंग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त सभी स्थानों में पूर्ववत् तीन-तीन भंग कहने चाहिए। यहाँ सिद्ध-सम्बन्धी आलापक नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध मिथ्यादृष्टि होते ही नहीं हैं।<sup>१</sup>

सम्यग्मिथ्यादृष्टि में आहारकता या अनाहारकता—सम्यग्मिथ्यादृष्टि सभी जीव एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर आहारक होते हैं, क्योंकि संसारी जीव विग्रहगति में अनाहारक होते हैं। मगर सम्यग्मिथ्यादृष्टि विग्रहगति में होते नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि की अवस्था में मृत्यु नहीं होती। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों का कथन यहाँ इसलिए नहीं करना चाहिए कि वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि<sup>२</sup> नहीं होते।

### छठा : संयतद्वार

१८९०. [१] संजए णं भते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?  
गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८९०-१ प्र.] भगवन् ! संयत जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८९०-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं मणूसे वि ।

[१८९०-२] इसी प्रकार मनुष्य संयत का भी कथन करना चाहिए।

[३] पुहत्तेण सियभंगो ।

[१८९०-३] बहुत्व की अपेक्षा से (समुच्चय जीवों और मनुष्यों में) तीन-तीन भंग (पाये जाते हैं)।

१८९१. [१] असंजए पुच्छा ।

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८९१-१ प्र.] भगवन् ! असंयत जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८९१-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है और कदाचित् अनाहारक भी होता है।

[२] पुहत्तेण जीकेगिदियवज्जो तियभंगो ।

[१८९१-२] बहुत्व की अपेक्षा जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर इनमें तीन भंग होते हैं।

१. (क) प्रज्ञापना. मल्यवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१३

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी भा. ५, पृ. ६५७-५८

२. वही, भा. ५, पृ. ६५७-५८

१८९२. संजयासंजरे जीवे पञ्चेदिव्यतिरिक्तज्ञोणिए मणूसे य एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा, जो अणाहारगा ।

[१८९२] संयतासंयतजीव, पञ्चेतिरिक्तज्ञ और मनुष्य, ये एकत्र और बहुत्र की अपेक्षा से आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं ।

१८९३. जोसंजरे-जोअसंजरे-जोसंजयासंजरे जीवे सिद्धे य एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि शो आहारगा, अणाहारगा । दारं ६ ॥

[१८९३] नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जीव और सिद्ध, ये एकत्र और बहुत्र की अपेक्षा से आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक होते हैं । [छठा ढार]

**विवेचन—**संयत-संयतासंयत, असंयत और नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत की परिभाषा—जो संयम (पञ्चमहात्रतादि) को अंगीकार करे अर्थात् विरत हो उसे संयत कहते हैं । जो अणुद्रती आवक्त्र अंगीकार करे अर्थात् देशविरत हो, उसे संयतासंयत कहते हैं । जो अविरत हो, न तो साधुत्व को अंगीकार करे और न ही आवक्त्र को, वह असंयत है और जो न तो संयत है न संयतासंयत है और न असंयत है, वह नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत कहलाता है । संयत समुच्चय जीव और मनुष्य ही हो सकता है, संयतासंयत समुच्चय जीव, मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग हो सकता है, नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत अयोगिकेवली तथा सिद्ध होते हैं ।

संयत जीव और मनुष्य एकत्रापेक्षया केवलिसमुद्घात और अयोगित्वावस्था की अपेक्षा अनाहारक और अन्य समय में आहारक होता है ।

बहुत्र की अपेक्षा से तीन भंग—(१) सभी संयत आहारक होते हैं; यह भंग तब घटित होता है जब कोई भी केवलीसमुद्घातावस्था में या अयोगी अवस्था में न हो । (२) बहुत संयत आहारक और कोई एक अनाहारक, यह भंग भी तब घटित होता है जब एक केवलीसमुद्घातावस्था में या शैलेशी अवस्था में होता है । (३) बहुत संयत आहारक और बहुत अनाहारक, यह भंग भी तब घटित होता है जब बहुत-से संयत केवलीसमुद्घातावस्था में हों या शैलेशी-अवस्था में हों ।

असंयत में एकत्रापेक्षा से—एक आहारक, एक अनाहारक यह एक ही विकल्प होता है । बहुत्र की अपेक्षा से—समुच्चय जीवों और असंयत पृथ्वीकायिकादि प्रत्येक में बहुत आहारक और बहुत अनाहारक यही एक भंग होता है । असंयत नारक से वैमानिक तक (समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर) प्रत्येक में पूर्ववत् तीन-तीन भंग होते हैं ।

**संयतासंयत—**देशविरतजीव, मनुष्य और पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग ये तीनों एकत्र और बहुत्र की विवक्षा से आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं; क्योंकि मनुष्य और तिर्यङ्गपञ्चेन्द्रिय के सिवाय किसी जीव में देशविरति-परिणाम उत्पन्न नहीं होता और संयतासंयत सदैव आहारक ही होते हैं, क्योंकि अन्तरालगति और केवलिसमुद्घात आदि अवस्थाओं में देशविरति-परिणाम होता नहीं है ।

**नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जीव व सिद्ध—**एकत्र-बहुत्र-अपेक्षा से अनाहारक ही होते हैं, आहारक नहीं, क्योंकि शैलेशी प्राप्त श्रियोगरहित और सिद्ध अशरीरी होने के कारण आहारक होते ही नहीं हैं ।<sup>१</sup>

## सप्तम : कषायद्वार

१८९४. [१] सक्षाईं न भंते ! जीवे कि आहारए अणाहारए ?

गोवमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८९४-१ प्र.] भगवन् ! सक्षाय जीव आहारक होता है या अनाहारक होता है ?

[१८९४-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए ।

[१८९४-२] इसी प्रकार (नारक से लेकर) वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

१८९५. [१] पुहत्तेण जीवेगिवियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-१] बहुत्व की अपेक्षा से—जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर (सक्षाय नारक आदि में) तीन भंग (पाए जाते हैं) ।

[२] कोहकसाईसु जीवादिरसु एवं चेत्र । णवरं देवेसु छबंगा ।

[१८९५-२] कोधकषायी जीव आदि में भी इसी प्रकार तीन भंग कहने चाहिए । विशेष यह है कि देवों में यह भंग कहने चाहिए ।

[३] भाणकसाईसु भाणकसाईसु पृथ्वेरहस्यसु छबंगा । अवसेताणं जीवेगिवियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-३] मानकषायी और मायाकषायी देवों और नारकों में यह भंग पाये जाते हैं ।

[४] लोभकसाईएसु णेरहस्यसु छबंगा । अवसेतेसु जीवेगिवियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-४] लोभकषायी नैरविकों में यह भंग होते हैं । जीव और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष जीवों में तीन भंग पाये जाते हैं ।

१८९६. अक्षाई जहा णोसणी-णोअसणी (सु. १८८१-८२) वारं ७ ॥

[१८९६] अक्षायी की वक्तव्यता नोसंजी-नोअसंजी के समान जाननी चाहिए ।

[सप्तम द्वार]

विवेचन—सक्षाय जीव और चौबोस दण्डकों में आहारक-अनाहारक की प्रलूपणा—एकत्व की विवक्षा से समुच्चय जीव और चौबोस दण्डकवर्ती जीव पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है । बहुत्व की विवक्षा से समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर सक्षाय नारकादि में पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार तीन भंग पाये जाते हैं । समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग—‘बहुत आहारक, बहुत अनाहारक’ होता है ।<sup>१</sup>

१. (क) अभि. रा. कोष. भा. २, पृ. ५१३

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६६३

**क्रोधकषायी की प्रणयणा—जीवों स दण्डकों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से एक भंग—कदाचित् आहारक कदाचित् अनाहारक—होता है।** क्रोधकषायी समुच्चय जीवों तथा एकेन्द्रियों में केवल एक ही भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—होता है। शेष जीवों में देवों को छोड़ कर पूर्वोक्त रीति से तीन भंग होते हैं। विशेष—देवों के छह भंग—(१) सभी क्रोधकषायी देव आहारक होते हैं। यह भंग तब घटित होता है जब कोई भी क्रोधकषायी देव आहारक होते हैं। यह भंग तब घटित होता है, जब कोई भी क्रोधकषायी देव आहारक नहीं होता। यहाँ मान आदि के उदय से रहित क्रोध का उदय विवक्षित है, इस कारण क्रोधकषायी आहारक देव का अभाव सम्भव है, (२) कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक (४) देवों में क्रोध की बहुलता नहीं होती, स्वभाव से ही लोभ की अधिकता होती है, अतः क्रोधकषायी देव कदाचित् एक भी पाया जाता है, (५) कदाचित् बहुत आहारक और एक अनाहारक और (६) कदाचित् बहुत आहारक और बहुत अनाहारक पाये जाते हैं।

**मानकषायी और मायाकषायी जीवादि में—एकत्व की अपेक्षा से पूर्ववत् एक-एक भंग।** बहुत्व की अपेक्षा से—मान-मायाकषायी देवों और नारकों में प्रत्येक में ६ भंग पूर्ववत् समझना चाहिए। देवों और नारकों में मान और माया कषाय की विरलता पाई जाती है, देवों में लोभ की और नारकों में क्रोध की बहुलता होती है। इस कारण ६ ही भंग सम्भव हैं। मान-मायाकषायी शेष जीवों में समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर तीन भंग पूर्ववत् होते हैं। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग—बहुत आहारक-बहुत अनाहारक—होता है।

**लोभकषायी जीवादि में—लोभकषायी नारकों में पूर्ववत् ६ भंग होते हैं, क्योंकि नारकों में लोभ की तीव्रता नहीं होती। नारकों के सिवाय एकेन्द्रियों और समुच्चय जीवों को छोड़कर शेष जीवों में ३ भंग पूर्ववत् पाये जाते हैं। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में प्रत्येक में एक ही भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—पाया जाता है।<sup>१</sup>**

**शक्षायी जीवों में—शक्षायी मनुष्य और सिद्ध ही होते हैं। मनुष्यों में उपशान्तकषाय आदि ही शक्षायी होते हैं। उनके अतिरिक्त सक्षायी होते हैं। अतएव उन सक्षायी समुच्चय जीवों, मनुष्यों और सिद्धों में समुच्चय जीव में और मनुष्य में केवल एक भंग—कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक—पाया जाता है। सिद्ध में एक भंग—'अनाहारक' ही पाया जाता है। बहुत्व की विवक्षा से—समुच्चय जीवों में—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—एक भंग ही होता है। क्योंकि आहारक केवली और अनाहारक सिद्ध बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों में पूर्ववत् तीन भंग समझने चाहिये। सिद्धों में केवल एक ही भंग—'अनाहारक' पाया जाता है।<sup>२</sup>**

### अष्टम : ज्ञानव्यार

१८९७. पाणी जहा सम्मद्दी (सु. १८८७)।

[१८९७] ज्ञानी की वक्तव्यता सम्यद्दृष्टि के समान समझती चाहिए।

१. (क) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, ६६४ से ६६७ तक

(ख) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, ग्रन्थि, दा. कोष भा. २, पृ. ५१३-५१४

२. (क) वही, मलयवृत्ति, ग्रन्थि, दा. कोष भा. २, पृ. ५१४

(ख) प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६६७-६६८

१८९८. [१] आभिनिबोहियणाणि-सुयणाणिसु ऐंद्रिय-तेहंदिय-चउर्दियएसु छबंगा । अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो जैसि अत्थ ।

[१८९८-१] आभिनिबोहियणाणी शीर श्रुतज्ञानी ऐंद्रिय, वीन्द्रिय और चतुर्दिय जीवों में (पूर्ववत्) छह भंग समझने चाहिए । शेष जीव आदि (समुच्चय जीव और नारक आदि) में जिनमें ज्ञान होता है, उनमें तीन भंग (पाये जाते हैं ।)

[२] ओहिणाणी पचेन्द्रियतिरिक्खजीणिया आहारणा, णो अणाहारणा । अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो जैसि अत्थ ओहिणाणं ।

[१८९८-२] अवधिज्ञानी पचेन्द्रियतिर्यञ्च आहारक होते हैं अनाहारक नहीं । शेष जीव आदि में, जिनमें अवधिज्ञान पाया जाता है, उनमें तीन भंग होते हैं ।

[३] मणपञ्जवणाणी जीवा मणूसा य एगत्तेण वि पुहसेण वि आहारणा, णो अणाहारणा ।

[१८९८-३] मनःपञ्चवज्ञानी समुच्चय जीव और मनुष्य एकत्र और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं ।

[४] केवलणाणी जहा णोसणी-णोअसणो (सू. १८८ १-८२) ।

[१८९८-४] केवलज्ञानी का कथन (सू. १८८ १-८२ में उक्त) नोसंज्ञो-नोअसंज्ञी के कथन के समान जानना चाहिए ।

१८९९. [१] अणाणाणी मइअणाणाणो सुयअणाणो जीवेन्द्रियवज्ञो तियभंगो ।

[१८९९-१] अज्ञानी, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी में समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं ।

[२] विभंगणाणी पचेन्द्रियतिरिक्खजीणिया मणूसा य आहारणा, णो अणाहारणा । अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो । वारं द ॥

[१८९९-२] विभंगज्ञानी पचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं । अवशिष्ट जीव आदि में तीन भंग पाये जाते हैं । [अष्टम द्वार]

विवेचन—ज्ञानी जीवों में आहारक-अनाहारक-प्रलयणा—समुच्चय ज्ञानी (सम्यग्ज्ञानी) में सम्यग्दृष्टि के समान प्ररूपणा जाननी चाहिए, क्योंकि एकेन्द्रिय सर्दैव मिथ्यादृष्टि होने के कारण अज्ञानी ही होते हैं, इसलिए एकेन्द्रिय को छोड़कर एकत्र की अपेक्षा से समुच्चय जीव तथा वैमानिक तक शेष १९ दण्डकों में ज्ञानी कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है । बहुत्व की विवक्षा से समुच्चयज्ञानी जीव आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी । नारकों से लेकर स्तर्नितकुमारों तक ज्ञानी जीवों में पूर्वोक्त रीति से तीन भंग होते हैं । पचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिषों और वैमानिकों में भी तीन भंग ही पाए जाते हैं । तीन विकलेन्द्रिय ज्ञानियों में छह भंग प्रसिद्ध हैं । सिंह ज्ञानी अनाहारक ही होते हैं ।

आभिनिबोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी में एकत्र की अपेक्षा से—पूर्ववत् समझना । बहुत्व की अपेक्षा से—तीन विकलेन्द्रियों में छह भंग होते हैं । उनके अतिरिक्त एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य जीवादि पदों में, जिनमें आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान हो, उनमें प्रत्येक में तीन-तीन भंग कहने

चाहिए। एकेन्द्रिय जीवों में श्राभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान का अभाव होता है। इसलिए उनकी पृच्छा नहीं करनी चाहिए।

**अवधिज्ञानी** में—अवधिज्ञान पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च, मनुष्य, देव और नारक को होता है, अन्य जीवों को नहीं। अतः एकेन्द्रियों एवं तीन विकलेन्द्रियों को छोड़कर पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च अवधिज्ञानी सदैव आहारक ही होते हैं। यथापि विग्रहगति में पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च अनाहारक होते हैं, किन्तु उस समय उनमें अवधिज्ञान नहीं होता। चौंकि पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्चों को गुणप्रस्त्यय अवधिज्ञान होता है—हो सकता है, मगर विग्रहगति के समय गुणों का अभाव होता है, इस कारण अवधिज्ञान का भी उस समय अभाव होता है। इसी कारण अवधिज्ञानी पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च अनाहारक नहीं हो सकता। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्चों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में समुच्चय जीव से लेकर नारकों, मनुष्यों एवं समस्त जाति के देवों में प्रत्येक में तीन-तीन भंग कहने चाहिए, परन्तु कहना उन्होंने में चाहिए जिनमें अवधिज्ञान का अस्तित्व हो। एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् प्ररूपणा समझनी चाहिए।

**मनःपर्यवज्ञानी** में—मनःपर्यवज्ञान मनुष्यों में ही होता है। अतः उसके विषय में दो पद ही कहते हैं—मनःपर्यवज्ञानी जीव और मनुष्य। एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से ये दोनों मनःपर्यवज्ञानी आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं, क्योंकि विग्रहगति आदि अवस्थाओं में मनःपर्यवज्ञान होता ही नहीं है।

**केवलज्ञानी** में—केवलज्ञानी की प्ररूपणा में तीन पद होते हैं—समुच्चय जीवपद, मनुष्यपद और सिद्धपद। इन तीन के सिवाय और किसी जीव में केवलज्ञान का सद्भाव नहीं होता। प्रस्तुत में केवलज्ञानी की आहारक-अनाहारकविषयक प्ररूपणा नोसंज्ञी-नोशसंशीवत् बताई गई है। अर्थात् समुच्चय जीवपद और मनुष्यपद में एकत्व की अपेक्षा से एक भंग—कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक—होता है। सिद्धपद में अनाहारक ही कहना चाहिए। बहुत्व की विवक्षा से—समुच्चय जीवों में आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी होते हैं। मनुष्यों में पूर्वोक्त भंग कहना चाहिए। सिद्धों में अनाहारक ही होते हैं।

**अज्ञानी की अपेक्षा** से—अज्ञानियों में, मत्यज्ञानियों और श्रुतज्ञानियों में बहुत्व की विवक्षा से, जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य पदों में प्रत्येक में तीन भंग कहने चाहिए। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी। विभंगज्ञानी में एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् ही समझना चाहिए। बहुत्व की विवक्षा से—विभंगज्ञानी पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च एवं मनुष्य आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं होते, क्योंकि विग्रहगति में विभंगज्ञानयुक्त पञ्चेन्द्रिय तिर्थञ्चों और मनुष्यों में उत्पत्ति होना। सम्भव नहीं है। पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्चों और मनुष्यों से भिन्न स्थानों में एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर जीव से लेकर प्रत्येक स्थान में तीन भंग कहना चाहिए।<sup>१</sup>

### नौवाँ : योगद्वार

१९००. [१] सजोगीसु जीवेगिविषयवज्ञो तियभंगो।

१. (क) प्रशापना, मलयवृत्ति, ब. रा. को. भाग २, पृ. ५१४
- (ख) प्रजापना, (प्रमेयदोघिनी टीका) भाग ५, पृ. ६७५ से ६७७ तक

[१९००-१] सयोगियों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग (पाये जाते हैं ।)

[२] मणजोगी बहजोगी य जहा सम्मिच्छद्विष्टि (सु. १८८९) । अबरं बहजोगी विग्लिदियाण वि ।

[१९००-२] मनोयोगी और वचनयोगी के विषय में (सु. १८८९ में उल्क) सम्यग्मिथ्यादृष्टि के समान बक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह कि वचनयोग विकलेन्द्रियों में भी कहना चाहिए ।

[३] कायजोगोसु जीवेंगिदिववज्जो तियभंगो ।

[१९००-३] काययोगी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग (पाये जाते हैं ।)

[४] अजोगी जीव-मणूस-सिद्धा अणाहारगा । दारं ९ ॥

[१९००-४] अयोगी समुच्चय जीव, मनुष्य और सिद्ध होते हैं और वे अनाहारक हैं ।

[नीवाँ द्वार]

विवेचन—योगद्वार की अपेक्षा प्ररूपणा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर अन्य सयोगी जीवों में पूर्वोक्त तीन भंग पाये जाते हैं । समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग ही पाया जाता है—बहुत आहारक—बहुत अनाहारक, क्योंकि ये दोनों सदैव बहुत संख्या में पाये जाते हैं । मनोयोगी और वचनयोगी के सम्बन्ध में कथन सम्यग्मिथ्यादृष्टि के समान जानना चाहिए, अर्थात् वे एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं । यद्यपि विकलेन्द्रिय सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, किन्तु उनमें वचनयोग होता है, इसलिए यहाँ उनकी भी प्ररूपणा करनी चाहिए । समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को लोकुक्त गेय नारद आदि काययोगियों में पूर्ववत् तीन भंग कहना चाहिए । अयोगी समुच्चय जीव, मनुष्य और सिद्ध होते हैं, ये तीनों अयोगी एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक होते हैं ।<sup>१</sup>

### इसर्वाँ : उपयोगद्वार

१९०१. [१] सागाराणागारोधउत्तेसु जीवेंगिदिववज्जो तियभंगो ।

[१९०१-१] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य साकार एवं अनाकार उपयोग से उपयुक्त जीवों में तीन भंग कहने चाहिए ।

[२] सिद्धा अणाहारगा । दारं १० ॥

[१९०१-२] सिद्ध जीव (सदैव) अनाहारक ही होते हैं ।

[दसर्वाँ द्वार]

विवेचन—उपयोगद्वार की अपेक्षा से प्ररूपणा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष साकार एवं अनाकार उपयोग से उपयुक्त जीवों में तीन भंग पाए जाते हैं । सिद्ध जीव चाहे साकारोपयोग वाला हो, चाहे अनाकारोपयोग से उपयुक्त हो, अनाहारक ही होते हैं ।

एकत्व की अपेक्षा से सर्वश्र 'कदाचित् आहारक तथा कदाचित् अनाहारक'<sup>२</sup>, ऐसा कथन करना चाहिए ।'

१. प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ५, पृ. ६७९-६८०

२. प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ५, पृ. ६८०

## ग्यारहवाँ : वेदाहार

१९०२. [ १ ] सबेदे जीवेगिदियवज्जो तियभंगो ।

[ १९०२-१ ] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर अन्य सब सबेदी जीवों के (बहुत्व की अपेक्षा से) तीन भंग होते हैं ।

[ २ ] इत्यवेद-पुरिसवेदेनु जीवादोशो तियभंगो ।

[ १९०२-२ ] स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीव आदि में तीन भंग होते हैं ।

[ ३ ] नपुंसकवेदए जीवेगिदियवज्जो तियभंगो ।

[ १९०२-३ ] नपुंसकवेदी में समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग होते हैं ।

[ ४ ] श्वेदए जहा केवलज्ञानी (सु. १८९८ [ ४ ] ) । वार्ता ११ ।

[ १९०२-४ ] अवेदी जीवों का कथन (सू. १८९८-४ में उल्लिखित) केवलज्ञानी के कथन के समान करना चाहिए ।

[ ग्यारहवाँ हार ]

विवेदन—वेदाहार ते भाग्यम से आहारन-प्रत्यन्हारक प्रकाशन—सबेदी जीवों में एकेन्द्रियों और समुच्चय जीवों को छोड़कर बहुत्वापेक्षणा तीन भंग होते हैं, जीवों और एकेन्द्रियों में आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी । एकत्व की विवेदन से सबेदी कदाचित् आहारक होता है, कदाचित् अनाहारक होता है ।

बहुत्वापेक्षणा—स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीव आदि में एकेन्द्रियों एवं समुच्चय जीवों को छोड़ कर बहुत्व को विवेदन से प्रत्येक के तीन भंग होते हैं । अवेदी का कथन केवलज्ञानी के समान है । एकत्व विवेदन—स्त्रीवेद और पुरुषवेद के विषय में आहारक भी होता है और अनाहारक भी, पहले एक ही भंग होता है । यहाँ नैरयिकों, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी नहीं होते, अपितु नपुंसकवेदी होते हैं । बहुत्व की अपेक्षा से जीवादि में से प्रत्येक में तीन भंग होते हैं ।

नपुंसकवेद में—एकत्व की विवेदन से पूर्ववत् भंग कहना चाहिए, किन्तु यहाँ भवनवासी, वाणध्यमत्तर, ज्योतिष्क और वैभानिक देव का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये नपुंसक नहीं होते । बहुत्व की अपेक्षा से जीवों और एकेन्द्रियों के सिकाय शेष में तीन भंग होते हैं । जीवों और एकेन्द्रियों में एक ही भंग होता है—आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी । अवेदी के सम्बन्ध में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से केवलज्ञानी के समान कहना चाहिए । एक जीव और एक मनुष्य की अपेक्षा से अवेदी कदाचित् आहारक होता है कदाचित् अनाहारक, यह एक भंग होता है । बहुत्व की अपेक्षा से—अवेदी के बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यही एक भंग पाया जाता है । अवेदी मनुष्यों में तीन भंग होते हैं । अवेदी सिद्धों में 'बहुत अनाहारक' यह एक भंग ही पाया जाता है ।<sup>१</sup>

१. प्रजापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भाग. २, पृ. ५१५

## बारहवाँ : शरीरद्वार

१९०३. [१] सशरीरी जीवेंगिदियवज्जो तियभंगो ।

[१९०३-१] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष (सशरीरी नारकादि) जीवों में (बहुत्वापेक्षया) तीन भंग पाये जाते हैं ।

[२] श्रीराजियसरीरेणु जीव-अपूरुतु तियभंगो ।

[१९०३-२] श्रीदारिकशरीरी जीवों और मनुष्यों में तीन भंग पाये जाते हैं ।

[३] अवसेसा आहारगा, जो अणाहारगा, जैसि अत्य श्रीराजियसरीर ।

[१९०३-३] शेष जीवों और (मनुष्यों से भिन्न) श्रीदारिकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं । किन्तु जिनके श्रीदारिक शरीर होता है, उन्हीं का कथन करना चाहिए ।

[४] वेदविद्यसरीरी आहारगसरीरी य आहारगा, जो अणाहारगा, जैसि अत्थ ।

[१९०३-४] वैक्षियशरीरी श्रीर आहारकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं । किन्तु यह कथन जिनके वैक्षियशरीर श्रीर आहारकशरीर होता है, उन्हीं के लिए है ।

[५] तेय-कम्मगसरीरी जीवेंगिदियवज्जो तियभंगो ।

[१९०३-५] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर तेजसशरीर श्रीर कार्मणशरीर वाले जीवों में तीन भंग पाये जाते हैं ।

[६] असरीरी जीवा सिद्धा य जो आहारगा, अणाहारगा । दारं १२ ॥

[१९०३-६] अशरीरी जीव श्रीर सिद्ध आहारक नहीं होते, अनाहारक होते हैं ।

[बारहवाँ पद]

**विवेचन**—शरीरद्वार के आधार से प्रस्तुपण—समुच्चय जीवों श्रीर एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष सशरीरी जीवों में बहुत्व की विवक्षा से तीन भंग और एकत्व की अपेक्षा से सर्वत्र एक ही भंग पाया जाता है—कदाचित् एक आहारक श्रीर कदाचित् एक अनाहारक । समुच्चय सशरीरी जीवों श्रीर एकेन्द्रियों में बहुत आहारक बहुत अनाहारक, यह एक भंग पाया जाता है ।

**श्रीदारिकशरीरी**—जीवों और मनुष्यों में तीन भंग तथा इनसे भिन्न श्रीदारिकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं । यह कथन श्रीदारिकशरीरधारियों पर ही लागू होता है । नारक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क श्रीर वैमानिकों के श्रीदारिकशरीर नहीं होता, अतः उनके लिए यह कथन नहीं है ।

बहुत्व की अपेक्षा से—एकेन्द्रिय, द्विन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रिय श्रीर पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चों में बहुत आहारक ही कहना चाहिए, अनाहारक नहीं, क्योंकि विच्छिन्नति होने पर भी उनमें श्रीदारिक-शरीर का सद्भाव होता है ।

वैक्षियशरीरी श्रीर आहारकशरीरी आहारक भी होते हैं, अनाहारक नहीं । परन्तु यह कथन उन्हीं के लिए है, जिनके वैक्षियशरीर श्रीर आहारकशरीर होता है । नारकों श्रीर वायुकामिकों,

पञ्चेन्द्रियतिर्यंक्षों, मनुष्यों तथा चारों जाति के देवों के ही वैश्विकशरीर होता है। आहारकशरीर केवल मनुष्यों के ही होता है।

तेजसशरीरी एवं कामणशरीरी जीवों में एकत्रापेक्षया सर्वत्र 'कदाचित् एक आहारक और कदाचित् एक अनाहारक' यह एक भंग होता है। बहुत्वापेक्षया—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रिय को छोड़ कर अन्य स्थानों में तीन-तीन भंग जानने चाहिए। समुच्चय जीवों और पृथ्वीकायिकादि पांच एकेन्द्रियों में से प्रत्येक में एक ही भंग पाया जाता है—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक।

अशरीरी जीव और सिद्ध आहारक नहीं होते, अपितु अनाहारक ही होते हैं। अतएव एकत्र और बहुत्व की अपेक्षा से अशरीरी सिद्ध अनाहारक ही होते हैं।<sup>१</sup>

### तेरहवाँ : पर्याप्तिहार

१९०४. [ १ ] आहारपञ्जज्ञतीपञ्जज्ञतए सरीरपञ्जज्ञतीपञ्जज्ञतए इन्द्रियपञ्जज्ञतीपञ्जज्ञतए आणापाणुपञ्जज्ञसीपञ्जज्ञतए भासा-मणपञ्जज्ञतीपञ्जज्ञतए एयासु पञ्चसु वि पञ्जज्ञतीसु जीवेसु मणूसेसु य तिथभंगो ।

[ १९०४-१ ] आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति तथा भाषा-मनःपर्याप्ति हन पांच (छह) पर्याप्तियों से पर्याप्त जीवों और मनुष्यों में तीन-तीन भंग होते हैं।

[ २ ] अवसेसा आहारणा, णो अणाहारणा ।

[ १९०४-२ ] शेष (समुच्चय जीवों और मनुष्यों के सिवाय पूर्वोक्त पर्याप्तियों से पर्याप्त) जीव आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं।

[ ३ ] भासा-मणपञ्जज्ञती पञ्चेदिव्याणं, अवसेसाणं णत्य ।

[ १९०४-३ ] विशेषता यह है कि भाषा-मनःपर्याप्ति पञ्चेन्द्रिय जीवों में ही पाई जाती है, अन्य जीवों में नहीं।

१९०५. [ १ ] आहारपञ्जज्ञतीआपञ्जज्ञतए णो आहारए, अणाहारए, एगत्तेष वि पुहत्तेष वि ।

[ १९०५-१ ] आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव एकत्र और बहुत्व की अपेक्षा आहारक नहीं, अनाहारक होते हैं।

[ २ ] सरीरपञ्जज्ञतीआपञ्जज्ञतए सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[ १९०५-२ ] शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव एकत्र की अपेक्षा कदाचित् आहारक, कदाचित् अनाहारक होता है।

[ ३ ] उथरिलियासु चउसु अपञ्जज्ञतीसु णोरइय-वेव-मणूसेसु छाभंगा, अवसेसाणं जीवेगिदिव्यवच्चजो तिथभंगो ।

[ १९०५-३ ] आगे की (अन्तिम) चार अपर्याप्तियों वाले (शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति,

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयदोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ६८३-६८४

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५१५

श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति एवं भाषा-मनःपर्याप्ति से अपर्याप्ति की नारकों, देवों और मनुष्यों में छह भंग पाये जाते हैं। शेष में समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं।

**१९०६. भासा-मणपञ्जतीए (अपञ्जतएसु) जीवेसु पञ्चेवियतिरिक्षजोणिएसु य तियभंगो, जेरइय-देव-मणूएसु छबभंगा।**

[१९०६] भाषा-मनःपर्याप्ति से अपर्याप्ति समुच्चय जीवों और पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणिएसु में (बहुत्व की विवक्षा से) तीन भंग पाये जाते हैं। (पूर्वोक्त पर्याप्ति से अपर्याप्ति) नरयिकों, देवों और मनुष्यों में छह भंग पाये जाते हैं।

**१९०७. सध्यपवेसु एगस्त-पुहत्तेण जीवादीया दंडगा पुच्छाए भाणिथवा। जस्त सं प्रत्यि तस्स तं पुच्छिङ्गजइ, जं णरिथ तं ण पुच्छिङ्गजइ जाव भासा-मणपञ्जतीए अपञ्जतएसु जेरइय-देव-मणूएसु य छबभंगा। सेसेसु लिग्गभंगो। बारं १३।**

[१९०७] सभी (१३) पदों में एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से जीवादि दण्डकों में (समुच्चय जीव तथा चौबीस दण्डक) के अनुसार पृच्छा करनी चाहिए। जिस दण्डक में जो पद सम्भव हो, उसी की पृच्छा करनी चाहिए। जो पद जिसमें सम्भव न हो उसकी पृच्छा नहीं करनी चाहिए। (भव्यपद से लेकर) यावत् भाषा-मनःपर्याप्ति से अपर्याप्ति नारकों, देवों और मनुष्यों में छह भंगों की वक्तव्यता पर्यन्त तथा नारकों, देवों और मनुष्यों से भिन्न समुच्चय जीवों और पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणिएसु में तीन भंगों की वक्तव्यता पर्यन्त समझना चाहिए।

[तेरहवाँ द्वार]

॥ द्वीप्रो उहेसओ समत्तो ॥

॥ पण्णवण्णए भगवतीए अद्वावीसइम्यं आहारपयं समत्तं ॥

**विवेचन—पर्याप्तिद्वार** के आधार पर आहारक-अनाहारकप्ररूपण—यद्यपि अन्य शास्त्रों में पर्याप्तियाँ छह मानी गई हैं, परन्तु यहाँ भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति दोनों का एक में समावेश करके पांच ही पर्याप्तियाँ मानी गई हैं।

आहारादि पांच पर्याप्तियों से पर्याप्ति समुच्चय जीवों और मनुष्यों में तीन-तीन भंग पाये जाते हैं, इन दो के सिवाय दूसरे जो पांच पर्याप्तियों से पर्याप्ति हैं, वे आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में भाषा-मनःपर्याप्ति नहीं पाई जाती।

आहारपर्याप्ति से अपर्याप्ति एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक होता है, आहारक नहीं, क्योंकि आहारपर्याप्ति से अपर्याप्ति जीव विग्रहगति में ही पाया जाता है। उपपातक्षेत्र में आने पर प्रथम समय में ही वह आहारपर्याप्ति से पर्याप्त हो जाता है। अतएव प्रथम समय में वह आहारक नहीं कहनाता। बहुत्व की विवक्षा में बहुत अनाहारक होते हैं।

शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्ति जीव कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है। जो विग्रहगति-समाप्त होता है, वह अनाहारक और उपपातक्षेत्र में आ पहुँचता है, वह आहारक होता है।

**इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास-भाषा-मनःपर्याप्ति** से अपयोगित—एकत्व की विवेका से कदाचित् आहारक कदाचित् अनाहारक होते हैं। बहुत्व की विवेका से अन्तिम तीन या (चार) पर्याप्तियों से अपयोगित के विषय में ६ भंग होते हैं— (१) कदाचित् सभी अनाहारक, (२) कदाचित् सभी आहारक, (३) कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक, (४) कदाचित् एक आहारक बहुत अनाहारक, (५) कदाचित् बहुत आहारक और एक अनाहारक एवं (६) कदाचित् बहुत आहारक और बहुत अनाहारक। नारकों, देवों और मनुष्यों से भिन्न में (एकेन्द्रियों एवं समुच्चय जीवों को छोड़ कर) तीन भंग पूर्व पूर्ववत् पाये जाते हैं।

**शरीर-इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास-पर्याप्तियों** से अपयोगित के विषय में एकत्व की विवेका—से एक भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं। बहुत्व की अपेक्षा—तीन भंग सम्भव हैं—(१) समुच्चय जीव और समूच्छ्वम पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग सदैव बहुत संख्या में पाये जाते हैं, जब एक भी विग्रहगतिसमापन नहीं होता है, तब सभी आहारक होते हैं, यह प्रथम भंग, (२) जब एक विग्रहगतिसमापन होता है, तब बहुत आहारक एक अनाहारक यह द्वितीय भंग, (३) जब बहुत जीव विग्रहगतिसमापन होते हैं, तब बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यह तृतीय भंग है। नारकों, देवों और मनुष्यों में भाषा-मनःपर्याप्ति से अपयोगित के विषय में बहुत्व की विवेका से ६ भंग होते हैं।<sup>१</sup>

**बक्षण्यता का अतिदेश**—अन्तिम सूत्र में एकत्व और बहुत्व की विवेका से विभिन्न जीवों के आहारक-अनाहारक सम्बन्धी भंगों का अतिदेश किया गया है।

॥ प्रजापना का अद्वाईसर्वे पद : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रजापना भगवती का अद्वाईसर्वे आहारपद समाप्त ॥



# एतापूर्णतीसहायं तदाओताप्रयं तीसहमं पारुण्यापयं च

## उनतीसवाँ उपयोगपद और तीसवाँ पश्यत्तापद

### प्राथमिक

- ❖ प्रज्ञापत्नासूत्र के उनतीसवें और तीसवें, उपयोग और पश्यत्ता पदों में जीवों के बोधव्यापार एवं ज्ञानव्यापार की चर्चा है।
- ❖ जीव का या आत्मा का मुख्य लक्षण उपयोग है, पश्यत्ता उसी का मुख्य अंग है। परन्तु आत्मा के साथ शरीर बंधा होता है। शरीर के निमित्त से अंगोपांग, इन्द्रियाँ, मन आदि अवयव मिलते हैं। प्रत्येक प्राणी को, फिर चाहे वह एकेन्द्रिय हो अथवा विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय, देव हो; नारक हो, मनुष्य हो या तिर्यङ्गच, सभी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीरादि अंगोपांग या इन्द्रियाँ आदि मिलते हैं। मूल में सभी प्राणियों की आत्मा ज्ञानमय एवं दर्शनमय है, जैसा कि आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

‘जे आया, से ज्ञाया, जे विज्ञाया से आया । जेण विजाप्त से आया ।’

अर्थात्—‘जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे (पदार्थों को) जाना जाता है, वह आत्मा है।

- ❖ प्रश्न होता है कि जब प्राणियों की आत्मा ज्ञानदर्शनमय (उपयोगमय) है तथा अरूपी है, नित्य है, जैसा कि भगवतीसूत्र में कहा है—

‘अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरुषी जीवे सासए अवद्विए लोगद्वेषे । से समासओ पञ्चविहे पण्णते, संजहा—दव्यधो जाव गुणधो । दव्यधो णं जीवदत्थकाए अणंताहं जीवदव्याहं, लेत्तधो सोगप्पमाणमेत्ते, कालधो—न कयाह न आसि, न कयावि न रिथ, जाव निर्वेषे, भावधो पुण अवण्णे अगंधे अरसे अफासे, गुणधो उवधोगगुणे ।’

यहाँ आत्मा का स्वरूप पांच प्रकार से बताया गया है। द्रव्य से अनंत जीव (आत्मा) द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण है, काल से नित्य है, भाव से वर्णादि से रहित है और गुण से उपयोगगुण बाला है।

अतः समानरूप से सभी आत्माओं का गुण—उपयोग होते हुए भी किसी को कम उपयोग होता है, किसी को अधिक, किसी का ज्ञान त्रिकाल-त्रिलोकव्यापी है और किसी को वर्तमानकालिक तथा एक अंगुल क्षेत्र का भी ज्ञान या दर्शन नहीं होता। ऐसा क्यों?

१. उपयोगो लक्षणम्—तत्वार्थसूत्र अ. २      २. आचारांग. अ. १, अ. ५, च. ५, सूत्र. १६५

३. भगवती. अ. २, च. १०, सू. ५ (आ. प्र. समिति)

इसका समाधान है—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मों की विचित्रता। जिसके ज्ञान-दर्शन का आवरण जितना अधिक क्षीण होगा, उसका उपयोग उतना ही अधिक होगा, जिसका ज्ञान-दर्शनावरण जितना तीव्र होगा, उसका उपयोग उतना ही मन्द होगा।

- ❖ यही कारण है कि यहाँ विविध जीवों के विविध प्रकार के उपयोगों की तरतमता आदि का निरूपण किया गया है।
- ❖ उपयोग का अर्थ होता है—वस्तु का परिच्छेद-परिज्ञान करने के लिए जीव जिसके द्वारा व्यापृत होता है, अथवा जीव का बोधरूप तत्त्वभूत व्यापार।<sup>१</sup>
- ❖ तीसराँ पद पश्यत्ता—पासणया है। उपयोग और पश्यत्ता दोनों जीव के बोधरूप व्यापार हैं, भूल में इन दोनों की कोई व्याख्या नहीं मिलती। प्राचीन पद्धति के अनुसार भेद ही इनकी व्याख्या है। आचार्य अभयदेवसूरि ने पश्यत्ता को उपयोगविशेष ही बताया है। किन्तु आगे चल कर स्पष्टीकरण किया है कि जिस बोध में त्रैकालिक अवबोध हो, वह पश्यत्ता है और जिस बोध में वर्तमानकालिक बोध हो, वह उपयोग है। यही इन दोनों में अन्तर है।
- ❖ जिस प्रकार उपयोग के मुख्य दो भेद—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग किये हैं, उसी प्रकार पश्यत्ता के भी साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता, ये दो भेद हैं। किन्तु दोनों के उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार मति-ज्ञान और मति-अज्ञान को साकारपश्यत्ता के भेदों में परिणित नहीं किया, क्योंकि मतिज्ञान और मत्यज्ञान का विषय वर्तमानकालिक अविनष्ट पदार्थ ही बनता है। इसके अतिरिक्त अनाकारपश्यत्ता में अचक्षुदर्शन का समावेश नहीं किया गया है, इसका समाधान आचार्य अभयदेवसूरि ने यों किया है कि पश्यत्ता प्रकृष्ट इक्षण है और प्रेक्षण तो केवल चक्षुदर्शन द्वारा ही सम्भव है, अन्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले दर्शन में नहीं। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु का उपयोग अल्पकालिक होता है और जहाँ अल्पकालिक उपयोग होता है, वहाँ बोधक्रिया में शोषणा अधिक होती है, यही पश्यत्ता की प्रकृष्टता में कारण है।<sup>२</sup>
- ❖ आचार्य मलयगिरि ने आचार्य अभयदेवसूरि का अनुसरण किया है। उन्होंने स्पष्टीकरण किया है कि पश्यत्ता शब्द रुढ़ि के कारण साकार और अनाकार बोध का प्रतिपादक है। विशेष में यह समझना चाहिए कि जहाँ दीर्घकालिक उपयोग हो, वहाँ त्रैकालिक बोध सम्भव है। मतिज्ञान में दीर्घकाल का उपयोग नहीं है, इस कारण उससे त्रैकालिक बोध नहीं होता। अतः उसे ‘पश्यत्ता’ में स्थान नहीं दिया गया है।
- ❖ उनतीसर्वे पद में सर्वप्रथम साकारोपयोग और अनाकारोपयोग, यों भेद बताये गये हैं। तत्पश्चात् इन दोनों के क्रमशः आठ और चार भेद किये गये हैं।
- ❖ साकारोपयोग और अनाकारोपयोग तथा साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता इन दोनों का अन्तर निम्नोक्त तालिका से स्पष्ट समझ में आ जाएगा—

१. उपश्चुद्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः। बोधरूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः।

—प्रज्ञापदा, मलयवृत्ति अ. रा. को. भा. २, पृ. ८६०

२. अगवर्ती, भ. बृत्ति, पत्र ७१४

## उपयोग (सू. १९०८-१०)

## १. साकारोपयोग

- (१) आभिनिबोधिकज्ञान-साकारोपयोग
- (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग
- (३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग
- (४) मनःपर्यंवेज्ञान-साकारोपयोग
- (५) केवलज्ञान-साकारोपयोग
- (६) मत्यज्ञानावरण-साकारोपयोग
- (७) श्रुतज्ञानावरण-साकारोपयोग
- (८) विभगज्ञानावरण-साकारोपयोग

## २. अनाकारोपयोग

- (१) चक्रुदर्शन-अनाकारोपयोग
- (२) अचक्रुदर्शन-अनाकारोपयोग
- (३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग
- (४) केवलदर्शन-अनाकारोपयोग

## पश्यता (१९३६-३८)

## १. साकार-पश्यता

× × ×

- (१) श्रुतज्ञान-साकारपश्यता
- (२) अवधिज्ञान-साकारपश्यता
- (३) मनःपर्यंवज्ञान-साकारपश्यता
- (४) केवलज्ञान साकारपश्यता
- (५) श्रुतज्ञान-साकारपश्यता
- (६) विभगज्ञान-साकारपश्यता

## २. अनाकारपश्यता

- (१) चक्रुदर्शन-अनाकारपश्यता
- (२) अवधिदर्शन-अनाकारपश्यता
- (३) केवलदर्शन-अनाकारपश्यता ।<sup>१</sup>

- ❖ साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग का लक्षण आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार किया है— सचेतन या अचेतन वस्तु में उपयोग लगाता हुआ आत्मा जब वस्तु का पर्यायसहित बोध करता है, तब वह उपयोग साकार कहलाता है, तथा वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होना अनाकारोपयोग है।<sup>२</sup>
- ❖ साकारपश्यता और अनाकारपश्यता में भी साकार और अनाकार शब्दों का अर्थ तो उपर्युक्त ही है, किन्तु पश्यता में वस्तु का त्रैकालिक बोध होता है, जबकि उपयोग में वर्तमानकालिक ही बोध होता है।
- ❖ इसके पश्चात् उनतीसवें पद में नारक से वैमानिकपर्यन्त चौबीस दण्डकों में से किस-किस जीव में कितने उपयोग पाये जाते हैं? इसका प्ररूपण किया गया है।
- ❖ तीसवें पश्यता पद में इसके भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन करके नारक से लेकर वैमानिक पर्यन्त जीवों में से किसमें कितने प्रकार की पश्यता है? इसका प्ररूपण किया गया है।
- ❖ उनतीसवें पद में पूर्वोक्त प्ररूपण के अनन्तर चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के विषय में प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है कि कौनसा जीव साकारोपयुक्त है या अनाकारोपयुक्त? इसी प्रकार तीसवें पद में प्रश्नोत्तरी है कि जीव साकार पश्यतावान् है या अनाकार पश्यतावान् है?<sup>३</sup>

१. पण्णवणासुतं भा. २ (परिशिष्ट-प्रस्तावनात्मक), पृ. १३८

२. प्रजापता. मलयदृष्टि, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ८६०

३. पण्णवणासुतं भा. १ (मूलपठ-ठिप्पण), पृ. ४०८-९

◆ तीसवें पद में पूर्वोक्त बक्तव्यता के पश्चात् केवल ज्ञानी द्वारा रत्नप्रभा आदि का ज्ञान और दर्शन (प्रथमता—साकारोपयोग तथा निराकारोपयोग) दोनों समकाल में होते हैं या क्रमशः होते हैं, इस प्रकार के दो प्रश्नों का समाधान किया गया है तथा ज्ञान और दर्शन का क्रमशः होना स्वीकार किया है। जिस समय अनाकारोपयोग (दर्शन) होता है, उस समय साकारोपयोग (ज्ञान) नहीं होता तथा जिस समय साकारोपयोग होता है, उस समय अनाकारोपयोग नहीं होता, इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।



१. (क) पण्डितामुक्ति, भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ४१२  
 (ख) वही, भा. २ (परिशिष्ट), पृ. १३८

# एवृणतीसाइमं : उत्तरोगपयं

## उनतीसवाँ उपयोगपट

जीव आदि में उपयोग के भेद-प्रभेदों की प्रकृपणा

१९०८. कतिविहे एं भंते ! उवश्चोगे पण्णते ?

गोयमा ! बुविहे उवश्चोगे पञ्चते । तं जहा—सागारोवश्चोगे य अणागारोवश्चोगे य ।

[१९०८ प्र.] भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९०८ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग ।

१९०९. सागारोवश्चोगे एं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! अद्विहे पण्णते । तं जहा—आभिनिबोधिणाणसागारोवश्चोगे १ सुयज्ञाण-सागारोवश्चोगे २ श्रोहिणाणसागारोवश्चोगे ३ मणपञ्जज्ञाणसागारोवश्चोगे ४ केवलज्ञाणसागारोवश्चोगे ५ मतिग्रन्थाणसागारोवश्चोगे ६ सुयग्रन्थाणसागारोवश्चोगे ७ विभंगणाणसागारोवश्चोगे ८ ।

[१९०९ प्र.] भगवन् ! साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९०९ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) आभिनिबोधिक-ज्ञान-साकारोपयोग, (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग, (४) मनःपर्यवज्ञान-साकारोपयोग, (५) केवलज्ञान-साकारोपयोग, (६) मति-अज्ञान-साकारोपयोग, (७) श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग और (८) दिभंगज्ञान-साकारोपयोग ।

१९१०. अणागारोवश्चोगे एं भंते ! कतिविहे पण्णते ?

गोयमा ! चतुविहे पण्णते । तं जहा—चक्षुदर्शन-अणागारोवश्चोगे १ अचक्षुदर्शन-अणागारोवश्चोगे २ श्रोहिदर्शन-अणागारोवश्चोगे ३ केवलदर्शन-अणागारोवश्चोगे ४ ।

[१९१० प्र.] भगवन् ! अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१० उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है । यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (२) अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग, (४) केवलदर्शन-अनाकारोपयोग ।

१९११. एवं जीवाणं पि ।

[१९११] इसी प्रकार समुच्चय जीवों का भी (साकारोपयोग और अनाकारोपयोग क्रमशः आठ और चार प्रकार का है ।)

१९१२. येरइवाणं भंते ! कतिविहे उवश्चोगे पण्णते ?

गोयमा ! बुविहे उवश्चोगे पण्णते । तं जहा—सागारोवश्चोगे य अणागारोवश्चोगे य ।

[१९१२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।

१९१३. ऐरइयाणं भंते । सागारोबश्चोगे कतिविहे पण्णसे ?

गोयमा ! छविहे पण्णसे । तं जहा—मतिणाणसागारोबश्चोगे १ सुषणाणसागारोबश्चोगे २ श्रोहिणाणसागारोबश्चोगे ३ मतिश्चणाणसागारोबश्चोगे ४ सुपश्चणाणसागारोबश्चोगे ५ विभंगणाणसागारोबश्चोगे ६ ।

[१९१३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१३ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) मतिज्ञान-साकारोपयोग, (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग, (४) मति-अज्ञान-साकारोपयोग, (५) श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग और (६) विभंगज्ञान-साकारोपयोग।

१९१४. ऐरइयाणं भंते । अणागारोबश्चोगे कतिविहे पण्णसे ?

गोयमा ! तिविहे पण्णसे । तं जहा—चक्षुदर्शनअणागारोबश्चोगे १ अचक्षुदर्शनअणागारोबश्चोगे २ श्रोहिदर्शनअणागारोबश्चोगे ३ य ।

[१९१४ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का श्रनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१४ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (२) अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग और (३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग।

१९१५. एवं जाव थणिथकुमाराणं ।

[१९१५] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक (के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग का कथन करना चाहिए।)

१९१६. पुढिक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे उवश्चोगे पण्णसे । तं जहा—सागारोबश्चोगे य अणागारोबश्चोगे य ।

[१९१६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के उपयोग-सम्बन्धी प्रश्न है।

[१९१६ उ.] गौतम ! उनका उपयोग दो प्रकार का कहा गया है, यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।

१९१७. पुढिक्काइयाणं भंते । सागारोबश्चोगे कतिविहे पण्णसे ?

गोयमा ! दुविहे पण्णसे । तं जहा—मतिश्चणाणे सुपश्चणाणे ।

[१९१७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१७ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान ।

१९१८. पुढ़विष्वाकाइयाणं भंते ! अणागारोबश्चोगे कलिविहे पण्णस्ते ?

गोयमा ! एगे अचक्षुदंसणाणागारोबश्चोगे पण्णस्ते ।

[१९१८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों का अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१८ उ.] गौतम ! उनका एकमात्र अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग कहा गया है ।

१९१९. एवं जात्व वणस्पतिकाइयाणं ।

[१९१९] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों तक (के विषय में जानना चाहिए ।)

१९२०. बेहंविष्याणं पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे उबश्चोगे पण्णस्ते । तं जहा—सागारे अणागारे य ।

[१९२० प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों के उपयोग के विषय में पृच्छा है ।

[१९२० उ.] गौतम ! उनका उपयोग दो प्रकार का कहा है, यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग ।

१९२१. बेहंविष्याणं भंते ! सागारोबश्चोगे कलिविहे पण्णस्ते ?

गोयमा ! चउक्षिहे पण्णस्ते । तं जहा—आभिणिबोह्यणाणसागारोबश्चोगे १ सुयणाणसागा-रोबश्चोगे २ मतिग्रणाणसागारोबश्चोगे ३ सुयग्रणाणसागारोबश्चोगे ४ ।

[१९२१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९२१ उ.] गौतम ! उनका उपयोग चार प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) आभिणि-बोधिकज्ञान-साकारोपयोग, (२) शुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) मति-ज्ञान-साकारोपयोग और (४) शुत-ज्ञान-साकारोपयोग ।

१९२२. बेहंविष्याणं भंते ! अणागारोबश्चोगे कलिविहे पण्णस्ते ?

गोयमा ! एगे अचक्षुदंसणाणागारोबश्चोगे ।

[१९२२ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों का अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९२२ उ.] गौतम ! उनका एक ही अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग है ।

१९२३. एवं तेहंविष्याण वि ।

[१९२३] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों (के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग) का (कथन करना चाहिए ।)

१९२४. चतुरिविष्याण वि एवं चेव । यवरं अणागारोबश्चोगे दुविहे पण्णस्ते । तं जहा—चक्षु-वंसणाणागारोबश्चोगे य अचक्षुदंसणाणागारोबश्चोगे य ।

[१९२४] चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए । किन्तु उनका अनाकारोपयोग दो प्रकार का कहा है, यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग और अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग ।

१९२५. पंचेदिव्यतिरिक्तज्ञोणियाणं जहा णेरहयाणं (सु. १९१२-१४) ।

[१९२५] पंचेन्द्रियतिर्यग्नोनिक जीवों (के साकारोपयोग तथा अनाकारोपयोग) का कथन (सु. १९१२-१४ में उक्त) नैरयिकों के समान करना चाहिए ।

१९२६. मणुस्साणं जहा औहिए उवस्थोगे भणियं (सु. १९०८-१०) तहेव भाणियव्वं ।

[१९२६] मनुष्यों के उपयोग (सु. १९०८-१० में उक्त) समुच्चय (आधिक) उपयोग के समान कहना चाहिए ।

१९२७. वाणमंतर-जोइसिय-बैमाणियाणं जहा णेरहयाणं (सु. १९१२-१४) ।

[१९२७] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के साकारोपयोग-अनाकारोपयोग-सम्बन्धी कथन (सु. १९१२-१४ में उक्त) नैरयिकों के समान (करना चाहिए ।)

**विवेचन - उपयोग :** स्वरूप और प्रकार जीव के द्वारा वस्तु के परिच्छेदशान के लिए जिसका उपयोजन—व्यापार किया जाता है, उसे उपयोग कहते हैं । वस्तुतः उपयोग जीव का बोधरूप धर्म या व्यापार है । इसके दो भेद हैं—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग । नियत पदार्थ को अथवा पदार्थ के विशेष ग्रन्ति को ग्रहण करना आकार है । जो आकार-सहित हो, वह साकार है । अर्थात्—विशेषग्राही ज्ञान को साकारोपयोग कहते हैं । आशय यह है कि आत्मा जब सचेतन या अचेतन वस्तु में उपयोग लगाता हुआ परिविसहित वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसका उपयोग साकारोपयोग कहलाता है । काल की दृष्टि से छ्यास्थों का उपयोग अन्तभूहृत तक रहता है और केवलियों का एक समय तक ही रहता है । जिस उपयोग में पूर्वोक्तरूप आकार विद्यमान न हो, वह अनाकारोपयोग कहलाता है । वस्तु का सामान्यरूप से परिच्छेद करना—सत्तामात्र को ही जानना अनाकारोपयोग है । अनाकारोपयोग भी छ्यास्थों का अन्तभूहृत-कालिक है । परन्तु अनाकारोपयोग के काल से साकारोपयोग का काल संख्यात्मक अधिक जानना चाहिए क्योंकि विशेष का ग्राहक होने से उसमें अधिक समय लगता है । केवलियों के अनाकारोपयोग का काल तो एक ही समय का होता है ।'

पृष्ठ १५६ पर दी तालिका से जीवों में साकारोपयोग-अनाकारोपयोग की जानकारी सुगमता से हो जाएगी ।

### जीवों आदि में साकारोपयुक्तता-अनाकारोपयुक्तता-निरूपण

१९२८. जीवा णं भते ! कि सागारोबडत्ता अणागारोबडत्ता ?

गोयमा ! सागारोबडत्ता वि अणागारोबडत्ता वि ।

से केण्टठेणं भते ! एवं बुद्धिइ जीवा सागारोबडत्ता वि अणागारोबडत्ता वि ?

गोयमा ! जे णं जीवा आभिणिवोहियणाण-सुयणाण-ओहिणाण-मण-केवल-मतिअणाण-सुयद्वणाण-विभंगणाणोबडत्ता ते णं जीवा सागारोबडत्ता, जे णं जीवा चक्षुदंसण-अचलखुदंसण-ओहिदंसण-केवलदंसणोबडत्ता ते णं जीवा अणागारोबडत्ता, से तेण्टठेणं गोयमा । एवं बुद्धिइ जीवा सागारोबडत्ता वि अणागारोबडत्ता वि ।

क्योंकि इनमें सम्पर्कित और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव पाये जाते हैं, इस कारण आठों साकारों व चारों अनाकारोपयोग

जीवों के नाम	साकारोपयोग किसने ?	अनाकारोपयोग किसने ?	कारण
समुच्चय जीव मनुष्य	आठ ही प्रकार का साकारोपयोग	चारों ही प्रकार का अनाकारोपयोग	
नैरयिक दस प्रकार के भवनवासी पञ्चनिदिवतियंश्च बाणव्यन्तर देव ज्योतिष्क देव वैमानिक देव	इन सब में ६ प्रकार के— मतिज्ञान, श्रूतज्ञान, अवधिज्ञान, मत्यज्ञान; श्रूतज्ञान; विभंगज्ञान, “ ” “ ” “ ” “ ” “ ” “ ” “ ” “ ” “ ”	इन सब में तीन प्रकार के— चतुर्वर्णन-यनाकारोपयोग श्रव्यदर्शन-यनाकारोपयोग “ ” “ ” “ ” “ ”	
पृथ्वीकाण्डिक देव पांच स्थावर एकेन्द्रिय जीव द्वौनिदिय जीव त्रीनिदिय जीव चतुरिनिदिय जीव	दो प्रकार का—मति-ज्ञान श्रूत-ज्ञान-साकारोपयोग,  चार प्रकार का—मतिज्ञान श्रूतज्ञान तथा मत्यज्ञान श्रूत-ज्ञान—साकारोपयोग	एक प्रकार का— अचक्षुदर्शन-यनाकारोपयोग  एक ही प्रकार का—अचक्षुदर्शन एक ही प्रकार का—अचक्षुदर्शन दो प्रकार का—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन	नारक, तियंच्चपञ्चनिदिय, भवनपति, वायाश्चन्तर, व्योतिष्ठक और वैमानिक ये सम्पर्कित भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी। सम्पर्कित में तीन ज्ञान, मिथ्यादृष्टि में तीन ज्ञान पाये जाते हैं तथा दोनों में तीन प्रकार के यनाकारोपयोग पाये जाते हैं।

सम्पर्कित होने से दो प्रकार के  
ज्ञान तथा चक्षुरिनिदियरहित होने से  
एक अचक्षुदर्शन-यनाकारोपयोग होता है।  
तीनों विकलेनिदिय जीवों को मतिज्ञान और  
श्रूतज्ञान सास्वादनभाव को प्राप्त होते हुए  
अपर्याप्ताचस्या में होते हैं, इसलिए दो  
ज्ञान भी होते हैं। चतुरिनिदिय जीव के  
चक्षुरिनिदिय होने से चक्षुदर्शन भी पाया  
जाता है।<sup>१</sup>

१. (क) प्रजापना, मलयवृत्ति अभि. भा. ३, पृ. ८६६-८७  
(ख) प्रजापना, (प्रमेयबोधिनीटीका) भा. ५, पृ. ७०७ से ७१३

[ १९२८ प्र.] भगवन् ! जीव साकारोपयुक्त होते हैं या अनाकारोपयुक्त होते हैं ?

[ १९२८ उ.] गौतम ! जीव साकारोपयोग से उपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयोग से उपयुक्त भी ।

[ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! जो जीव आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यावर्जन, केवलज्ञान तथा मति-ग्रज्ञान, श्रुत-ग्रज्ञान एवं विभंगज्ञान उपयोग वाले होते हैं, वे साकारोपयुक्त कहे जाते हैं और जो जीव चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त कहे जाते हैं । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ।

१९२९. णेरह्या णं भते । कि सागारोबउत्ता अणागारोबउत्ता ?

गोयमा ! णेरह्या सागारोबउत्ता वि अणागारोबउत्ता वि ।

से केणट्ठेण भते । एवं बुच्चबृ ?

गोयमा ! जे णं णेरह्या आभिनिबोहियजाण-सुय-ओहिषाण-मतिअणाण-सुयअणाण-विभंगणाणोबउत्ता ते णं णेरह्या सागारोबउत्ता, जे णं णेरह्या अचक्षुदंसण-अचक्षुदंसण-ओहिदंसणोबउत्ता ते णं णेरह्या अणागारोबउत्ता, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चबृ जाव सागारोबउत्ता वि अणागारोबउत्ता वि ।

[ १९२९ प्र.] भगवन् ! नैरयिक साकारोपयुक्त होते हैं या अनाकारोपयुक्त होते हैं ?

[ १९२९ उ.] गौतम ! नैरयिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नैरयिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! जो नैरयिक आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मति-ग्रज्ञान, श्रुत-ग्रज्ञान और विभंगज्ञान के उपयोग से युक्त होते हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं और जो नैरयिक चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ।

१९३०. एवं जाव अणियकुमारा ।

[ १९३० ] इसी प्रकार का कथन स्तनितकुमारों तक करना चाहिए ।

१९३१. पुढविकाह्याणं पुच्छा ।

गोयमा ! तहेव जाव जे णं पुढविकाह्या मतिअणाण-सुयअणाणोबउत्ता ते णं पुढविकाह्या सागारोबउत्ता, जे णं पुढविकाह्या अचक्षुदंसणोबउत्ता ते णं पुढविकाह्या अणागारोबउत्ता, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चबृ जाव बणस्सइकाह्या ।

[१९३१ प्र.] पृथ्वीकायिकों के विषय में इसी प्रकार की पृच्छा है।

[१९३१ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (नारकादि के समान) जो पृथ्वीकायिक जीव मत्यज्ञान और शुत-अज्ञान के उपयोग वाले हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं तथा जो पृथ्वीकायिक जीव अचक्षुदर्शन के उपयोग वाले होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! यों कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त कारणों से अप्कायिक, बायुकायिक, तेजस्कायिक और बनस्पतिकायिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

१९३२. [१] वेदांदिवाणं श्रद्धुसहिता तहेव पुच्छा ।

गोयमा ! जाव जे ण वेदांदिवा आभिणिष्ठोहियणाण-सुयणाण-मतिग्रणणाण-सुयश्चणणाणोवउत्ता ते ण वेदांदिवा स्तागारोवउत्ता, जे ण वेदांदिवा अचक्षुदंसणोवउत्ता ते ण वेदांदिवा अणागारोवउत्ता, सेतेणदृठेण गोयमा ! एवं वुच्छति० ।

[१९३२ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की (उपयोगयुक्तता के विषय में पूर्ववत्) कारण-सहित पृच्छा है।

[१९३२ उ.] गौतम ! यावत् जो द्वीन्द्रिय आभिनिष्ठोधिकज्ञान, शुतज्ञान, मत्यज्ञान और शुत-अज्ञान के उपयोग वाले होते हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं और जो द्वीन्द्रिय अचक्षुदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि द्वीन्द्रिय जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

[२] एवं जाव चतुर्दिवा । णवरं चक्षुदंसणं अङ्गमङ्गयं चतुर्दिवाणं ।

[१९३२-२] इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय एवं) यावत् चतुरन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए; विशेष यह है कि चतुरन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शन अधिक कहना चाहिए।

१९३३. पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणिया जहा णेरहया (सु. १९२९) ।

[१९३३] पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणिकों का (कथन सु. १९२९ में उक्त) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए।)

१९३४. मणूसा जहा जीवा (सु. १९२८) ।

[१९३४] मनुष्यों के विषय में वक्तव्यता (सु. १९२८ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान (जानना चाहिए।)

१९३५. वाणमंत्र-ज्ञोतिसिय-वेमाणिया जहा णेरहया (सु. १९२९) ।

॥ पण्णवण्णाए भगवतीए एगूणतीसइयं उवग्रोगपयं समस्तं ॥

[ १९३५ ] वाणव्यत्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरायिकों के समान (कथन करना चाहिए ।)

**दिवेचन :** प्रस्तुत (सू. १९१८ से १९३५ तक) आठ सूत्रों में समुच्चय जीवों और चौबीस-दण्डकवर्ती जीवों में साकारोपयोगयुक्तता एवं अनाकारोपयोगयुक्तता का कारणपूर्वक कथन किया गया है । कथन स्पष्ट है ।

॥ प्रज्ञापना भगवती का उनतीसवाँ उपयोगपद समाप्त ॥



## तीर्थकां पासण्यायय

### तीसवाँ पश्यत्तापद

जोव एवं चौबीस दण्डकों में पश्यत्ता के भेद-प्रभेदों की प्रकृष्णा

१९३६. कतिविहा णं भंते ! पासण्या<sup>१</sup> पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा पासण्या पण्णता । तं जहा—सागारपासण्या अणागारपासण्या य ।

[१९३६ प्र.] भगवन् ! पश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३६ उ.] गौतम ! पश्यत्ता दो प्रकार की कही गई है, यथा—साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता ।

१९३७. सागारपासण्या णं भंते ! कहिविहा पण्णता ?

गोयमा ! छविहा पण्णता । तं जहा—सुयणाणसागारपासण्या १ ओहिणाणसागारपासण्या २ मणपञ्जवणाणसागारपासण्या ३ केवलणाणसागारपासण्या ४ सुयग्नाणसागारपासण्या ५ विभंगनाणसागारपासण्या ६ ।

[१९३७ प्र.] भगवन् ! साकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३७ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार की कही गई है, यथा—(१) श्रुतज्ञानसाकारपश्यत्ता, (२) अवधिज्ञानसाकारपश्यत्ता, (३) मनःपर्यवज्ञानसाकारपश्यत्ता, (४) केवलज्ञानसाकारपश्यत्ता, (५) श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता और (६) विभंगज्ञानसाकारपश्यत्ता ।

१९३८. अणागारपासण्या णं भंते ! कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! तिविहा पञ्चत्ता । सं जहा—चक्षुदर्शनश्रणागारपासण्या १ ओहिवंसणश्रणागारपासण्या २ केवलदर्शनश्रणागारपासण्या ३ ।

[१९३८ प्र.] भगवन् ! अनाकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३८ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार की कही गई है। यथा—(१) चक्षुदर्शनश्रनाकारपश्यत्ता, (२) अवधिदर्शनश्रनाकारपश्यत्ता और (३) केवलदर्शनश्रनाकारपश्यत्ता ।

१९३९. एवं जीवाणं पि ।

[१९३९] इसी प्रकार (छह प्रकार की साकारपश्यत्ता और तीन प्रकार की अनाकारपश्यत्ता) समुच्चय जीवों में (कहनी चाहिए ।)

१. 'पासण्या' शब्द का संस्कृताल्पान्तर 'पश्यनका—पश्यना' भी होता है, वह सहसा यह भ्रम खड़ा कर देता है, कि कहीं यह वर्तमान में प्रचारित बौद्धवर्म-संदिग्द 'विपश्यना' तो नहीं है ? परन्तु आगे के वर्णन को देखते हुए यह भ्रम मिट जाता है । —सम्पादक

१९४०. ऐरहयाणं भंते ! कतिविहा पासणया पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णता । तं जहा—सागारपासणया अणागारपासणया य ।

[ १९४० प्र.] भगवन् ! नेरयिक जीवों की पश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[ १९४० उ.] गौतम ! दो प्रकार की कही गई है, यथा—साकारपश्यता और अनाकारपश्यता ।

१९४१. ऐरहयाणं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! छडविहा पण्णता । तं जहा—सुयण्णाणसागारपासणया १ ओहिणाणसागारपासणया २ सुयअण्णाणसागारपासणया ३ विभंगणाणसागारपासणया ४ ।

[ १९४१ प्र.] भगवन् ! नेरयिकों की साकारपश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[ १९४१ उ.] गौतम ! उनकी पश्यता चार प्रकार की कही गई है, यथा—(१) श्रुतज्ञानसाकारपश्यता, (२) अवधिज्ञानसाकारपश्यता, (३) श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यता और (४) विभंगज्ञानसाकारपश्यता ।

१९४२. ऐरहयाणं भंते ! अणागारपासणया कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णता । तं जहा—चक्षुदर्शनअणागारपासणया य ओहदंसणअणागारपासणया य ।

[ १९४२ प्र.] भगवन् ! नेरयिकों की अनाकारपश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[ १९४२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार की कही गई है, यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारपश्यता और अवधिदर्शन-अनाकारपश्यता ।

१९४३. एवं जाव परियकुमारा ।

[ १९४३] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक (की पश्यता जाननी चाहिए ।)

१९४४. पुढविकाहयाणं भंते ! कतिविहा पासणया पण्णता ?

गोयमा ! एगा सागारपासणया ।

[ १९४४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की पश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[ १९४४ उ.] गौतम ! उनमें एक साकारपश्यता कही है ।

१९४५. पुढविकाहयाणं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! एगा सुयअण्णाणसागारपासणया पण्णता ?

[ १९४५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की साकारपश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[ १९४५ उ.] गौतम ! उनमें एकमात्र श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यता कही गई है ।

१९४६. एवं जाव वणस्पदकाहयाणं ।

[ १९४६] इसी प्रकार (अप्कायिकों से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिकों तक (की पश्यता जाननी चाहिए ।)

१९४७. लेदिविद्यार्थी भर्ते ! कतिविहा साकारपासणया पण्णता ?

गोयमा ! एगा सागारपासणया पण्णता ।

[१९४७ प्र.] भगवन् ! द्विन्द्रिय जीवों की कितने प्रकार की पश्यता कही गई है ?

[१९४७ उ.] गौतम ! उनमें एकमात्र साकारपश्यता कही गई है ।

१९४८. बेहंदिविद्यार्थी भर्ते ! सागारपासणया कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! बुविहा पण्णता । तं जहा—सुयणाणसागारपासणया य सुयमण्णाणसागारपासणया य ।

[१९४८ प्र.] भगवन् ! द्विन्द्रिय जीवों की साकारपश्यता कितने प्रकार की कही है ?

[१९४८ उ.] गौतम ! दो प्रकार की कही गई है, यथा—श्रुतज्ञानसाकारपश्यता और श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यता ।

१९४९. एवं तेहंदिविद्यार्थी ।

[१९४९] इसी प्रकार श्रीन्द्रिय जीवों की (वक्तव्यता) भी (जाननी चाहिए ।)

१९५०. चतुर्दिविद्यार्थी पुष्टा ।

गोयमा ! बुविहा पण्णता । तं जहा—सागारपासणया य अणागारपासणया य । सागारपासणया जहा बेहंदिविद्यार्थी (सु. १९४७-४८) ।

[१९५० प्र.] भगवन् ! चतुरन्द्रिय जीवों की पश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९५० उ.] गौतम ! उनकी पश्यता दो प्रकार की कही गई है, यथा—साकारपश्यता और अनाकारपश्यता । इनकी साकारपश्यता द्विन्द्रियों की (सू. १९४७-४८ में कहे अनुसार) साकारपश्यता के समान जाननी चाहिए ।

१९५१. चतुर्दिविद्यार्थी भर्ते ! अणागारपासणया कतिविहा पण्णता ?

गोयमा ! एगा चक्षुदर्शन-अणागारपासणया पण्णता ।

[१९५१ प्र.] भगवन् ! चतुरन्द्रिय जीवों की अनाकारपश्यता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९५१ उ.] गौतम ! उनकी एकमात्र चक्षुदर्शन-अनाकारपश्यता कही है ।

१९५२. मणूसार्थी जहा जीवार्थी (सु. १९३९) ।

[१९५२] मनुष्यों (की साकारपश्यता और अनाकारपश्यता) का कथन (सू. १९३९ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है ।

१९५३. सेसा जहा जोरइया (सु. १९४०-४२) जाव वेमाणिया ।

[१९५३] वैमानिक पर्यन्त शेष समस्त दण्डकों की पश्यता-सम्बन्धी वक्तव्यता (सू. १९४०-४२ में उक्त) नेरयिकों के समान कहनी चाहिए ।

**विवेचन—उपयोग और पश्यता में अन्तर—**मूलपाठ में दोनों में कोई अन्तर नहीं बताया गया। व्याकरण की दृष्टि से पश्यता का अर्थ है—देखने का भाव। उपयोग शब्द के समान पश्यता के भी दो भेद किये गए हैं। आचार्य अभ्यदेव ने थोड़ा-सा स्पष्टीकरण किया है। कि यों तो पश्यता एक उपयोग-विशेष ही है, किन्तु उपयोग और पश्यता में थोड़ा-सा अन्तर है। जिस बोध में केवल त्रिकालिक (दीर्घकालिक) अवबोध हो, वह 'पश्यता' है तथा जिस बोध में केवल वर्तमानकालिक बोध हो, वह उपयोग है। यही कारण है कि साकारपश्यता के भेदों में मतिज्ञान और मत्यज्ञान, इन दोनों को नहीं लिया गया है, क्योंकि इन दोनों का विषय वर्तमानकालिक अविनष्ट पदार्थ ही होता है तथा अनाकारपश्यता में अचक्षुदर्शन का समावेश इसलिए नहीं किया गया है कि पश्यता एक प्रकार का प्रकृष्ट विकास है, जो अचक्षुरिन्द्रिय से ही सम्भव है तथा दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग अल्पकालिक और द्रुततर होता है, यही पश्यता को प्रेक्षण-प्रकृष्टता में कारण है। अतः अनाकारपश्यता का लक्षण है—जिसमें विशिष्ट परिस्फुटरूप देखा जाए। यह लक्षण चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन में ही घटित हो सकता है। वस्तुतः प्राचीनकालिक व्याख्याकारों के अनुसार पश्यता और उपयोग के भेदों में अन्तर ही इनको व्याख्या को छवित कर देते हैं।<sup>१</sup>

**साकारपश्यता का प्रमाण—आभिनवोधिकज्ञान** उसे कहते हैं, जो अवग्रहादिरूप हो, इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से उत्पन्न हो तथा वर्तमानकालिक वस्तु का आहक हो। इस दृष्टि से मतिज्ञान और मत्यज्ञान दोनों में साकारपश्यता नहीं है, जबकि श्रुतज्ञानादि छहों अतीत और अनागत विषय के आहक होने से साकारपश्यता शब्द के बाच्य होते हैं। श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक होता है। अवधिज्ञान भी असंख्यात अतीत और अनागतकालिक उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों को जानने के कारण त्रिकाल-विषयक है। मनःपर्यवेक्षन भी पल्योपम के असंख्यात भागप्रमाण अतीत-अनागतकाल का परिच्छेदक होने से त्रिकालविषयक है। केवलज्ञान की त्रिकालविषयता तो प्रसिद्ध ही है। श्रुतज्ञान और विभंगज्ञान भी त्रिकाल विषयक होते हैं, क्योंकि ये दोनों यथायोग्य अतीत और अनागत भावों के परिच्छेदक होते हैं। अतएव पूर्वोक्त छहों ही साकारपश्यता वाले हो सकते हैं।<sup>२</sup>

### जीव और चीजों दण्डकों में साकारपश्यता और अनाकारपश्यता का निरूपण

१३५४. जीवा एं भंते । कि सागारपस्सी अणागारपस्सी ?

गोयमा ! जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि ।

से केष्टदण्डेण भंते । एवं बुच्छति जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि ?

गोयमा ! जे एं जीवा सुयणाणी ओहिणाणी मणपञ्जवणाणी केवलणाणी सुयशणाणी विभंगणाणी ते एं जीवा सागारपस्सी, जे एं जीवा अचक्षुदर्शणी ओहिदंसणी केवलदंसणी ते एं जीवा अणागारपस्सी, से तेष्टदण्डेण गोयमा ! एवं बुच्छति जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि ।

१. (क) प्रजापता. मलयवृत्ति, पत्र ५३०

(ख) प्रजापता: (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ७२९ से ७३१

(ख) मगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१४

२. प्रजापता. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ७३१-७३२

[१९५४ प्र.] भगवन् ! जीव साकारपश्यता वाले होते हैं या अनाकारपश्यता वाले होते हैं ?

[१९५४ उ.] गौतम ! जीव साकारपश्यता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यता वाले भी होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि जीव साकारपश्यता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यता वाले भी होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जो जीव श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवेक्षानी, केवलज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी होते हैं, वे साकारपश्यता वाले होते हैं और जो जीव चक्षुदर्शीनी, अवधिदर्शीनी और केवलदर्शीनी होते हैं, वे अनाकारपश्यता वाले होते हैं । इस कारण से है गौतम ! यों कहा जाता है कि जीव साकारपश्यता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यता वाले भी होते हैं ।

१९५५. णेरहया णं भंते । कि सागारपस्ती अणागारपस्ती ?

गोयमा ! एवं चेत । णवरं सागारपासण्याए मणपञ्जवणाणी केवलणाणी ण शुद्धति, अणागारपासण्याए केवलवंसणं णरंथ ।

[१९५५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव साकारपश्यता वाले हैं या अनगारपश्यता वाले हैं ?

[१९५५ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (दोनों प्रकार के हैं ।) परन्तु इनमें (नैरयिकों में) साकारपश्यता के रूप में मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानी नहीं कहना चाहिए तथा अनाकारपश्यता में केवलदर्शीन नहीं है ।

१९५६. एवं जाव थणियकुमारा ।

[१९५६] इसी प्रकार (की वक्तव्यता) स्तनितकुमारों तक (कहने चाहिए) ।

१९५७. [१] पुढविककाहयाणं पुञ्छा ।

गोयमा ! पुढविककाहया सागारपस्ती, णो अणागारपस्ती ।

से केणद्वेण भंते । एवं वुच्चति ?

गोयमा ! पुढविककाहयाणं एगा सुयश्चण्णाणसागारपासण्या पण्णता, से तेणद्वेण गोयमा ! एवं वुच्चति० ।

[१९५७-१ प्र.] पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१९५७-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव साकारपश्यता वाले हैं, अनाकारपश्यता वाले नहीं हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि 'पृथ्वीकायिक जीव साकारपश्यता वाले हैं, अनाकारपश्यता वाले नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिकों में एकमात्र श्रुत-अज्ञान (होने से) साकारपश्यता कही है । इस कारण से है गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक साकारपश्यता वाले हैं, अनाकारपश्यता वाले नहीं हैं ।

[ २ ] एवं जाव अप्स्त्सङ्काशया ।

[ १९५७-२ ] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) बनस्पतिकायिकों तक के (सम्बन्ध में कहता चाहिए ।)

१९५८. वेदविद्याणं पुच्छा ।

गोयमा ! सागारपस्ती, वो ग्रणात्मारपस्ती ।

से केणद्वेण भते ! एवं वृच्छति ?

गोयमा ! वेदविद्याणं दुष्किंहा सागारपासणया पणत्ता । तं जहा—सुयणाणसागारपासणया य सुयग्नणाणसागारपासणया य, से तेणद्वेण गोयमा ! एवं वृच्छति० ।

[ १९५८ प्र. ] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं या अनाकारपश्यत्ता वाले हैं ?

[ १९५८ उ. ] गौतम ! वे साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं ।

[ प्र. ] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि द्वीन्द्रिय साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं हैं ?

[ उ. ] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों की दो प्रकार की पश्यत्ता कही है । यथा—श्रुतज्ञानसाकारपश्यत्ता और श्रुत-ज्ञानसाकारपश्यत्ता । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि द्वीन्द्रिय साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं हैं ।

१९५९. एवं तेऽविद्याणं वि ।

[ १९५९ ] इसी प्रकार श्रीन्द्रिय जीवों के विषय में समझता चाहिए ।

१९६०. चउर्द्विद्याणं पुच्छा ।

गोयमा ! चउर्द्विद्या सागारपस्ती वि ग्रणागारपस्ती वि ।

से केणद्वेण० ?

गोयमा ! जे णं चउर्द्विद्या सुयणाणी सुयग्नणाणी से णं चउर्द्विद्या सागारपस्ती, जे णं चउर्द्विद्या चक्षुदंसणी ते णं चउर्द्विद्या ग्रणागारपस्ती, से तेणद्वेण गोयमा ! एवं वृच्छति० ।

[ १९६० प्र. ] भगवन् ! चतुर्निंद्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं या अनाकारपश्यत्ता वाले हैं ?

[ १९६० उ. ] गौतम ! चतुर्निंद्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी हैं ।

[ प्र. ] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि चतुर्निंद्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी हैं ?

[ उ. ] गौतम ! जो चतुर्निंद्रिय जीव श्रुत-ज्ञानी और श्रुत-ज्ञानी हैं, वे साकारपश्यत्ता वाले

हैं और चतुरिन्द्रिय चक्षुदर्शनी हैं, अतः अनाकारपश्यता वाले हैं। इस हेतु से है गीतम् ! यों कहा जाता है कि चतुरिन्द्रिय साकारपश्यता वाले भी हैं और अनाकारपश्यता वाले भी हैं।

**१९६१. मणूसा जहा जीवा (सु. १९५४) ।**

[१९६१] मनुष्यों से सम्बन्धित कथन (सु. १९५४ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है।

**१९६२. अवसेता जहा गेरइया (सु. १९५५) जाव वेमाणिया ।**

[१९६२] अवशिष्ट सभी (वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा) वैमानिक तक के विषय में (सु. १९५५ में उक्त) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए !)

**दिवेचन – किन-किन जीवों में साकारपश्यता और अनाकारपश्यता होती है और क्यों ? —**  
 (१) समुच्चय जीवों में जो जीव श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवश्यानी या केवलज्ञानी हैं अथवा श्रुताज्ञानी या विभागज्ञानी हैं, वे साकारपश्यता वाले हैं, क्योंकि उनका ज्ञान साकारपश्यता से युक्त है। जो जीव चक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनी हैं, वे अनाकारपश्यता वाले हैं, क्योंकि उनका बोध अनाकारपश्यता है। मनुष्यों में भी समुच्चय जीवों के समान साकारपश्यता और अनाकारपश्यता दोनों हैं। नारक भी साकारपश्यता और अनाकारपश्यता वाले हैं, किन्तु नारक मनःपर्यवश्यान और केवलज्ञान रूप साकारपश्यता से युक्त नहीं होते, तथैव केवलदर्शन रूप अनाकारपश्यता वाले भी वे नहीं होते। इसका कारण यह है नारक चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते, अतएव उनमें ये तीनों सम्भव नहीं होते। पृथ्वीकायिक आदि पांचों एकेन्द्रिय तथा द्विन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीव साकारपश्यता वाले होते हैं, अनाकारपश्यता वाले नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों में श्रुतज्ञान रूप साकारपश्यता होती है, अनाकारपश्यता नहीं होती, क्योंकि उनमें विशिष्ट परिस्फुट बोध रूप पश्यता नहीं होती। चतुरिन्द्रियों में दोनों ही पश्यताएँ होती हैं, क्योंकि उनके चतुरिन्द्रिय होने से चक्षुदर्शनरूप अनाकारपश्यता भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीव श्रुतज्ञानी एवं श्रुताज्ञानी होने से वे साकारपश्यतायुक्त होते ही हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक जीव नारकों की तरह साकारपश्यता और अनाकारपश्यता से युक्त होते हैं।<sup>१</sup>

**केवली में एक समय में दोनों उपयोगों के निषेध की प्रलूपणा**

**१९६३. केवली जं भंते । इमं रयणप्यभं पुढ़िवि आगारेहि हेत्राहि उद्गारेहि विट्ठसेरेहि वण्णेहि संठाणेहि पमाणेहि पडोयारेहि जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ?**

**गोयमा ! जो इण्टके समट्ठे ।**

से केष्टट्ठेण भंते ! एवं बृज्जति केवली जं इमं रयणप्यभं पुढ़िवि आगारेहि जाव जं समयं जाणइ जो तं समयं पासइ जं समयं पासइ जो तं समयं जाणइ ?

**गोयमा ! सागारे से जाणे भवति अणागारे से बंसणे भवति, से लेणट्ठेण जाव जो तं समयं**

१. (क) प्रजापना. (प्रमेयबीधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७३९ से ७४४ तक

(ख) पण्डितानुसूतं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण्यमृक्त), पृ. ४११-४१२

जाणइ । एवं जाव अहेतुलम । एवं सोहममं कर्षं जाव अच्चुयं गेवेजगविमाणे अणुतरविमाणे इसीपब्मारं पुढ़िय परमाणुपोगलं द्रुपदेसियं खंधं अणंतपदेसियं खंधं ।

[ १९६३ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी इस रत्नप्रभापृथ्वी को आकारों से, हेतुओं से, उपमाओं से, दृष्टान्तों से, वर्णों से, संस्थानों से, प्रमाणों से और प्रत्यवतारों से जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं तथा जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं ?

[ १९६३ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शब्द) नहीं है ।

[ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को आकारों से यावत् प्रत्यवतारों से जिस समय जानते हैं, उस समय नहीं देखते और जिस समय देखते हैं, उस समय नहीं जानते हैं ?

[ उ.] गौतम ! जो साकार होता है, वह जान होता है और जो अनाकार होता है, वह दर्शन होता है, (इसलिए जिस समय साकारज्ञान होगा, उस समय अनाकारज्ञान (दर्शन) नहीं रहेगा, इसी प्रकार जिस समय अनाकारज्ञान (दर्शन) होगा, उस समय साकारज्ञान नहीं होगा ।) इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि केवलज्ञानी जिस समय जानता है, उस समय देखता नहीं यावत् जानता नहीं । इसी प्रकार शर्कराप्रभापृथ्वी से यावत् अधःसप्तमनरकपृथ्वी तक के विषय में जानना चाहिए और इसी प्रकार (का कथन) सौषधकल्प से लेकर अच्युतकल्प, ग्रैवेयकविमान, अनुत्तरविमान, ईष्टप्रारभारपृथ्वी, परमाणुपुदगल, द्विप्रदेशिक स्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के जानने और देखने के विषय में समझना चाहिए । (अर्थात् इन्हें जिस समय केवली जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं ।)

१९६४. केवली यं भंते । इमं रथणप्यभं पुढ़िय अणागारेहि अहेतूहि अणुवमाहि अदिट्ठंतेहि अवण्णोहि असंठाणेहि अपमाणेहि अपदोयारेहि पासइ, ण जाणइ ?

हंता गोयमा ! केवली यं इमं रथणप्यभं पुढ़िय अणागारेहि जाव पासइ, ण जाणइ ।

से केणट्ठेण भंते । एवं बुच्चति केवली यं इमं रथणप्यभं पुढ़िय अणागारेहि जाव पासइ, ण जाणइ ?

गोयमा ! अणागारे से धंसणे भवति सागारे से णाणे भवति, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चति केवली यं इमं रथणप्यभं पुढ़िय अणागारेहि जाव पासइ, ण जाणइ । एवं जाव इसीपब्मारं पुढ़िय परमाणुपोगलं अणंतपदेसियं खंधं पासइ, ण जाणइ ।

[ १९६४ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से, अहेतुओं से, अनुपमाओं से, अदृष्टान्तों से, अवणों से, असंस्थानों से, अप्रमाणों से और अप्रत्यवतारों से देखते हैं, जानते नहीं हैं ?

[ १९६४ उ.] हाँ, गौतम ! केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से यावत् देखते हैं, जानते नहीं हैं ।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से यावत् देखते हैं, जानते नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! जो अनाकार होता, वह दर्शन (देखना) होता है और साकार होता है, वह जान (जानना) होता है। इस अभिप्राय से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से यावत् देखते हैं, जानते नहीं हैं।

इसी प्रकार (अनाकारों से यावत् अप्रत्यवतारों से शेष छहों नरकपृथिव्यों, वैमानिक देवों के किमानों) यावत् ईषत्प्रारभापृथ्वी, परमाणुपुद्गत तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को केवली देखते हैं, किन्तु जानते नहीं, (यह कहना चाहिए ।)

॥ पृष्ठवर्णाए भगवतीए तीसइमं पासणदायर्यं समतं ॥

विवेचन---केवली के द्वारा ज्ञान और दर्शन के समकाल में न होने की चर्चा—(१) इस प्रश्न के उठने का कारण—छद्मस्थ जीव तो कर्मयुक्त होते हैं, अतः उनका साकारोपयोग और अनाकारोपयोग क्रम से ही प्रादुर्भूत हो सकता है, क्योंकि कर्मों से आवृत जीवों के एक उपयोग के समय, दूसरा उपयोग कर्म से आवृत हो जाता है। इस कारण दो उपयोगों का एक साथ होना विरुद्ध है। अतः जिस समय छद्मस्थ जानता है, उसी समय देखता नहीं है, किन्तु उसके बाद ही देख सकता है। मगर केवली के चार धातिक कर्मों का अथ हो चुका है। अतः ज्ञानावरणीय कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनको ज्ञान और दर्शन नहीं हैं। उन्होंने जैसे कोई विरोध या बाधा नहीं है। ऐसी श्रांशका से गौतमस्वामी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया कि क्या केवली रत्नप्रभा आदि को जिस समय जानते हैं, उसी समय देखते हैं अथवा जीव-स्वभाव के कारण क्रम से जानते-देखते हैं ?

आगारेहि आदि पदों का स्फटीकरण—(१) आगारेहि केवली भगवान् इस रत्नप्रभापृथ्वी आदि को अर्थात् आकार-प्रकारों से यथा यह रत्नप्रभापृथ्वी खरकाण्ड, पंककाण्ड और अप्काण्ड के भेद से तीन प्रकार की है। खरकाण्ड के भी सोलह भेद हैं। उनमें से एक सहस्रयोजन प्रमाण रत्नकाण्ड है, तदनन्तर एक सहस्रयोजन-परिमित वज्रकाण्ड है, फिर उसके नीचे सहस्रयोजन का वैद्युर्यकाण्ड है, इत्यादि रूप के आकार-प्रकारों से समझना। (२) हेऊहि—हेतुओं से अर्थात् उपपत्तियों से—युक्तियों से। यथा—इस पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा क्यों है ? युक्ति आदि द्वारा इसका समाधान यह है कि रत्नमयकाण्ड होने से या रत्न की ही प्रभा या स्वरूप होने से अथवा रत्नमयकाण्ड होने से उसमें रत्नों की प्रभाकान्ति है, अतः इस पृथ्वी का रत्नप्रभा नाम सार्थक है। (३) उबमाहि—उपमायों से अर्थात् सदृशतायों से। जैसे कि—वर्ण से पद्मराग के सदृश रत्नप्रभा में रत्नप्रभ आदि काण्ड हैं, इत्यादि। (४) विद्धिसेहि—दृष्टान्तों-उदाहरणों से या वादी-प्रतिवादी की बुद्धि समता-प्रतिपादक वाक्यों से। जैसे—घट, पट आदि से भिन्न होता है, वैसे ही यह रत्नप्रभापृथ्वी शक्तिराप्रभा आदि अन्य नरकपृथिव्यों से भिन्न है, क्योंकि इसके धर्म उनसे भिन्न हैं। इसलिए रत्नप्रभा, शक्तिराप्रभा आदि से भिन्न बस्तु है, इत्यादि। (५) वर्णेहि—वर्ण-गन्धादि के भेद से। शुक्ल आदि वर्णों के उत्कर्ष-अपत्कर्षरूप संख्यात्तरुण, असंख्यात्तरुण और अनन्ततरुण के विभाग से तथा गन्ध, रस और स्पर्श के विभाग से। (६) संठाणेहि—संस्थानों-आकारों से अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी में बने भवनों और नरकवासों की रचना के आकारों से। जैसे—वे भवन बाहर से गोल और अन्दर से

१. प्रजापना, (प्रमेयबोधिनीटीका) भा. ५, पृ. ७४७-७४८

चौकोर हैं नीचे पुष्कर की कर्णिका की आङ्गुष्ठि के हैं। इसी प्रकार नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोर हैं और नीचे क्षुरप्र (खुरपा के श्राकार के हैं। इत्यादि। (७) प्रमाणेत्रहि—प्रमाणों से अर्थात् उसकी लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई आदि रूप परिमाणों से। जैसे—वह एक लाख अस्सी हजार योजन मोटाई वाली तथा रज्जु-प्रमाण लम्बाई-चौड़ाई वाली है, इत्यादि। (८) पदोन्नारेत्रहि—प्रत्यवतारों से अर्थात् पूर्णरूप से चारों ओर से व्याप्त करने वाले पदार्थों (प्रत्यवतारों) से। जैसे—घनोदधि आदि बलय सभी दिशाओं-विदिशाओं में व्याप्त करके रहे हुए हैं, अतः वे प्रत्यवतार कहलाते हैं। इस प्रकार के प्रत्यवतारों के जानना।

**प्रथम प्रश्न का तात्पर्य—**क्या केवली भगवान् पूर्वोक्त आकारादि से रत्नप्रभादि को जिस समय केवलज्ञान से जानते हैं, उसी समय केवलदर्शन से देखते भी हैं तथा जिस समय वे केवल दर्शन से देखते हैं, क्या उसी समय केवलज्ञान से जानते भी हैं?

**उत्तर का स्पष्टीकरण—**उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर 'ना' में है क्योंकि केवली भगवान् का ज्ञान साकार अर्थात् विशेष का ग्राहक होता है, जबकि उनका दर्शन अनाकार अर्थात् सामान्य का ग्राहक होता है। अतएव केवली भगवान् जब ज्ञान के द्वारा विशेष का परिच्छेद करते हैं, तब जानते हैं, ऐसा कहा जाता है और जब दर्शन के द्वारा अनाकार यानी सामान्य को ग्रहण करते हैं, तब देखते हैं, ऐसा कहा जाता है। सविशेषं पुनर्ज्ञानम् इस लक्षण के अनुसार वस्तु का विशेषयुक्त बोध या विशेषग्राहक बोध ही ज्ञान होता है। अतः केवली का ज्ञान साकार यानी विशेष का ही ग्राहक होता है, अन्यथा उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता और दर्शन अनाकार यानी सामान्य का ही ग्राहक होता है, क्योंकि दर्शन का लक्षण ही है—'पदार्थों को विशेषरहित ग्रहण करना।'

अतः सिद्धान्त यह है कि जब ज्ञान होता है, तब ज्ञान ही होता है और जब दर्शन होता है, तब दर्शन ही होता है। ज्ञान और दर्शन च्छाया और आतप (धूप) के समान साकाररूप एवं अनाकाररूप होने से परस्पर विरोधी हैं। वे दोनों एक साथ उभयुक्त नहीं रह सकते। अतएव केवली जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं। जीव के कतिपय प्रदेशों में ज्ञान हो और कतिपय प्रदेशों में दर्शन हो, इस प्रकार एक ही साथ खण्डजः ज्ञान और दर्शन सम्भव नहीं है। सातों नरकपृथिव्यों, अनुत्तरविमान तक के विमानों, ईषत्प्राग्भारापृथ्वी, परमाणु, द्विप्रदेशी से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में यही सिद्धान्त पूर्वोक्त युक्तिपूर्वक समझ लेना चाहिए।<sup>३</sup>

**द्वितीय प्रश्न का तात्पर्य—**केवली जिस समय इस रत्नप्रभापृथ्वी आदि को अनाकारों (आकार-प्रकाररहित रूप) इत्यादि से क्या केवल देखते ही हैं, जानते नहीं हैं?

**उत्तर का स्पष्टीकरण—**भगवान् इसे 'ही' रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि अनाकार आदि रूप में वस्तु को ग्रहण करना दर्शन का कार्य है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान का कार्य साकार आदि रूप में ग्रहण करना है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो केवल अनाकार आदि रूप में जब रत्नप्रभादि को सामान्य

१. प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७४८ से ७५१ तक

२. वही, भा. ५, पृ. ७५१ से ७५३ तक

रूप से ग्रहण करते हैं, तब दर्शन ही होता है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तभी होगा, जब वे साकार आदि रूप में वस्तु को ग्रहण करें।

**'अणागारेहि'** आदि वदों का विशेषार्थ—(१) अणागारेहि—अनाकारों से पूर्वोक्त आकार-प्रकारों से रहित रूप से। (२) अर्हत्याहि—हंशु-मुक्ति आदि से रहित रूप से। (३) अणुवमार्हि—अनुप-भास्मों से—सदृशतारहितरूप से। (४) अद्विद्वन्तेहि—अद्विद्वन्त, उदाहरण आदि के अभाव से। (५) अवध्योहि—अवणों से अर्थात् शुक्लादि वणों एवं गन्ध, इस और स्पर्श से रहित रूप से। (६) असंठाणोहि—असंस्थानों से अर्थात् रचनाविशेष-रहित रूप में। (७) अपमाणोहि—अप्रमाणों-पूर्वोक्त रूप से लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई आदि परिमाण-विशेष रहित रूप में। (८) अपदो-पारेहि—अप्रत्यक्षतारों से अर्थात् घनोदधि आदि वलयों से व्याप्त होने की स्थिति से रहित रूप में, केवल देखते ही हैं।

निष्कर्ष यह है कि केवली जब केवलदर्शन से रत्नप्रभादि किसी भी वस्तु को देखते हैं तब जानते नहीं केवल देखते ही हैं और जब जानते हैं तब देखते नहीं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—  
केवली……जाव अपडोयारेहि पासइ, ण जाणइ।<sup>१</sup>

॥ प्रज्ञापना अग्रवती का तीसरा पश्चयतापद समाप्त ॥



१. प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी दीका) भा. ५, पृ. ७५४ से ७५६ तक  
२. वही, भा. २, पृ. ७५४-७५५

# एतातीसाइन संज्ञियां

## इकतीसवाँ संज्ञियपद

### प्राथमिक

- ❖ प्रज्ञापनासूत्र के इस इकतीसवें ‘संज्ञियपद’ में सिद्धसहित समस्त जीवों का संज्ञी, असंज्ञी तथा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी, इन तीन भेदों के आधार पर विचार किया गया है।
- ❖ इस पद में बताया गया है कि सिद्ध संज्ञी भी नहीं हैं, असंज्ञी भी नहीं हैं, उनकी संज्ञा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी है, क्योंकि वे मन होते हुए भी उसके व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। मनुष्यों में भी जो केवली हो गए हैं, वे सिद्ध के समान ही नोअसंज्ञी-नोसंज्ञो माने गए हैं, क्योंकि वे भी मन के व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। अत्य गर्भज और सम्मूच्छ्वस मनुष्य क्रमशः संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी हैं। नारक, भवनवासी वाणव्यन्तर और पञ्चेन्द्रियतिर्यक संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही प्रकार के हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक दोनों संज्ञी हैं।
- ❖ इस पद के उपसंहार में एक गाथा दी गई है, जिसमें मनुष्य को संज्ञी या असंज्ञी दो ही प्रकार का कहा है, परन्तु सूत्र १९७० में मनुष्य में तीनों प्रकार बताए हैं। इससे मालूम होता है कि गाथा का कथन अवास्थ मनुष्य की अपेक्षा से होना चाहिए।<sup>१</sup>
- ❖ परन्तु संज्ञा का अर्थ यहाँ मूल में स्पष्ट नहीं है। मनुष्य, नारक, भवनवासी एवं व्यन्तरदेव को असंज्ञी कहा गया है, इसमें यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जिसके मन हो, उसे संज्ञी कहते हैं,<sup>२</sup> यह अर्थ प्रस्तुत प्रकरण में घटित नहीं होता। यही कारण है कि वृत्तिकार को यहाँ संज्ञा शब्द के दो अर्थ करने पड़े। किर भी पूरा समाधान नहीं होने से टीकाकार को यह स्पष्टीकरण करना पड़ा कि नारक आदि संज्ञी और असंज्ञी इसलिए हैं कि वे पूर्वभव में संज्ञी या असंज्ञी थे। अतः संज्ञा शब्द यहाँ किस अर्थ में अभिप्रेत है, यह अनुसंधान का विषय है।<sup>३</sup>

१. पण्डितासुतं भाग २ (परिशिष्ट, प्रस्तावना), पृ. १४२

२. ‘संज्ञिनः समनस्काः।’ तत्त्वार्थ, २१२५

३. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ४३४

- ❖ आचारांगसूत्र के प्रारम्भ में पूर्वभव के ज्ञान के प्रसंग में,<sup>१</sup> अथर्त् विशेष प्रकार के भतिज्ञान के अर्थ में संज्ञा शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार दशाधृतस्कन्ध में जहाँ दस चित्तसमाधि-स्थानों का वर्णन है, वहाँ अपने पूर्वजन्म के स्मरण करने के अर्थ में संज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है।<sup>२</sup> इससे प्रतीत होता है कि संज्ञा शब्द पहले भतिज्ञान-विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा, कालक्रम से यह पूर्व-अनुभव के स्मरण या जातिस्मरण ज्ञान के अर्थ में अवहृत होने लगा होगा। जो भी हो, संज्ञा शब्द है तो भतिज्ञान-विशेष ही, फिर वह संज्ञा—संकेत—शब्द रूप में हो या चिह्नरूप में हो। उससे ज्ञान होने में स्मरण आवश्यक है। स्थानांगसूत्र में भी 'एगा सन्ना' ऐसा पाठ मिलता है। इसलिए प्राचीनकाल में संज्ञा नाम का कोई विविष्ट ज्ञान तो प्रसिद्ध था ही। आवश्यकनियुक्ति में भी संज्ञा को अभिनिबोध (भतिज्ञान) कहा है।<sup>३</sup>
- ❖ 'षट्खण्डागम' मूल के मार्गणाद्वार में संज्ञीद्वार है। परन्तु वहीं संज्ञा का वास्तविक अर्थ क्या है, यह नहीं बताया गया है। वहाँ संज्ञी-असंज्ञी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान से लेकर क्षीणकथाय-बीतराग-छवस्थ गुणस्थान तक के जीव संज्ञी हैं तथा एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी हैं। फिर यह भी कहा है कि संज्ञी क्षायोपशमिक लब्धि से, असंज्ञी श्रीदिविक भाव से और न-संज्ञी, न-असंज्ञी क्षायिकलब्धि से होता है। इसके स्पष्टीकरण में 'ध्वला' में संज्ञी शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की गई है, वह विचारणीय है—सम्यग् जानातीति संज्ञ—मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिना अतिप्रसंगः, तस्य मनसो भावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही संज्ञी। उक्तं च—
- ‘सिक्षा-किरियुवदेसालाधग्नाही मणोवलंधेण’।  
जो जीवो सो सण्णी, तविष्वरोषो असण्णो तु ॥
- इस दूसरी व्याख्या में भी मन का आलम्बन तो स्वीकृत है ही। तात्पर्य में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा।<sup>४</sup>
- ❖ तत्त्वार्थसूत्र में 'संज्ञिनः समनस्काः' (संज्ञी जीव मन वाले होते हैं), ऐसा कह कर आवश्य में इसका स्पष्टीकरण किया है कि यहाँ संज्ञी शब्द से वे ही जीव विवक्षित हैं, जिनमें संप्रधारण संज्ञा हो। संप्रधारण संज्ञा का लक्षण किया है—इहापोहयुक्ता गुणवोषविचारणात्मिका सम्भ-
- 
१. (क) 'मतिः समुतिः संज्ञा चित्ता' 'इत्यनर्थान्तरम्।' —तत्त्वार्थः.  
(ख) विशेषावश्यक गा. १२, पृ. ३९४  
(ग) इहमेमेसि णो सण्णा भवह, तं पुरतिथमाश्रो वा दिसाश्रो श्रागश्रो अहमसि इत्यादि। —आचारांग शु. १ सू. १
२. सण्णिणाणं वा से असमुपनज्जपुष्टे समुपज्जेज्जा, अप्पणो पोराणियं जाइ सुसरित्तए —दशाधृतस्कन्ध दशा ५
३. (क) पण्णवणासुत्तं भाग २ (परिग्रिष्ट प्रस्तावनात्मक), पृ. १४२  
(ख) स्थानांगसूत्र स्था. १, सू. २९-३२  
(ग) आवश्यकनियुक्ति गा. १२, विशेषावश्यक गा. ३९४
४. (क) षट्खण्डागम, मूल पु. १, पृ. ४०८  
(ख) वही, पुस्तक ७, पृ. १११-११२  
(ग) ध्वला, पु. १, पृ. १५२

**धारणसंज्ञा—अर्थात्**—ईहा और अपोह से युक्त गुण-दोष का विचार करने वाली संप्रधारण संज्ञा है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि समनस्क (मन वाले) संज्ञों जीव वे ही होते हैं, जो सम्प्रधारणसंज्ञा के कारण संज्ञी कहलाते हों।

- ❖ संज्ञा के इस लक्षण पर से एक स्पष्ट बात हो जाती है कि स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में प्रतिपादित आहारादि संज्ञा तथा आहार-भय-परिश्रह-मैथुन-कोष-मान-माया-लोभ-शोक-सुख-दुःख-मोह-विचिकित्सा संज्ञा के कारण कहलाने वाले 'संज्ञो' यहीं विवक्षित नहीं हैं।<sup>१</sup>
- ❖ कुल मिलकर 'संज्ञोपद' से आत्मा के द्वारा होने वाले मतिज्ञानविशिष्ट तथा गुणदोषविचार-आत्मक संज्ञा प्राप्त करने को प्रेरणा मिलती है।



१. तत्त्वार्थ, भाष्य २१२५

२. स्थानांग, स्था. ४, स्था. १०

## एवातीसाङ्गमं साहिणयं इकतीसवाँ संहितपद

जोव एवं चौबोत वण्डकों में संज्ञो आदि की प्ररूपणा।

१९६५. जोवा यं भंते ! कि सण्णी असण्णी णोसण्णी-णोअसण्णी ?

गोयमा ! जोवा सण्णी वि असण्णी वि णोसण्णी-णोअसण्णी वि ।

[१९६५ प्र.] भगवन् ! जीव संज्ञी हैं, असंज्ञी हैं, अथवा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ?

[१९६५ उ.] गोतम ! जीव संज्ञी भी हैं, असंज्ञी भी हैं और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी हैं ।

१९६६. गोरहया णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! गोरहया सण्णी वि असण्णी वि, जो णोसण्णी-णोअसण्णी ।

[१९६६ प्र.] भगवन् ! नैरात्मिक संज्ञी हैं, असंज्ञी हैं अथवा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ?

[१९६६ उ.] गोतम ! नैरात्मिक संज्ञी भी हैं, असंज्ञी भी हैं, किन्तु नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं हैं ।

१९६७. एवं असुरकुमारा ज्ञाव थणियकुमारा ।

[१९६७] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक (कहना चाहिए ।)

१९६८. पुढविक्काहपाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जो सण्णी, असण्णी, जो णोसण्णी-णोअसण्णी ।

[१९६८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव संज्ञी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है ।

[१९६८ उ.] गोतम ! पृथ्वीकायिक जीव न तो संज्ञी हैं और न नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं, किन्तु असंज्ञी हैं । (इसी प्रकार सभी एकेन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए ।)

१९६९. एवं वेदविद्य-सेविय-घउरिविया वि ।

[१९६९] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरन्द्रिय जीवों के लिए भी जानना चाहिए (कि वे संज्ञी या नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं होते, किन्तु असंज्ञी होते हैं) ।

१९७०. बणूसा जहा जीवा (सु. १९६५) ।

[१९७०] मनुष्यों की वक्तव्यता समुच्चय जीवों के समान जानना चाहिए ।

१९७१. पञ्चेवियतिरिक्तज्ञोणिया वाणमंतरा य जहा गोरहया (सु. १९६६) ।

[१९७१] पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तों और वाणव्यन्तरों का कथन (सु. १९६६ में उक्त) नारकों के समान है ।

१९७२. ज्योतिष्य-वेमाणिया सण्णी, जो असण्णी जो जोसण्णी जोअसण्णी ।

[ १९७२ ] ज्योतिष्क और वैमानिक संज्ञी होते हैं, किन्तु असंज्ञी नहीं होते, न ही नोसंज्ञो नोअसंज्ञी होते हैं ।

१९७३. सिद्धांशु पुच्छा ।

गोयमा ! जो सण्णी जो असण्णी, जोसण्णि-जोअसण्णी ।

ज्योरहय-तिरिय-मण्ड्या य बण्यरसुरा य सण्णङ्गण्णी य ।

विगलिदिया असण्णी, जोतिस-वेमाणिया सण्णी ॥ २२० ॥

[ १९७३ प्र.] भगवन् ! क्या सिद्ध संज्ञी होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[ १९७३ उ.] गौतम ! वे न तो संज्ञी हैं, न असंज्ञी हैं, किन्तु नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ।

संग्रहणांगाथार्थ—‘नारक तिर्यञ्च, मनुष्य दाणव्यन्तर और असुरकुमारादि भवनवासी संज्ञी होते हैं, असंज्ञी भी होते हैं । विकलेन्द्रिय (एवं एकेन्द्रिय) असंज्ञी होते हैं तथा ज्योतिष्क और वैमानिक देव संज्ञी ही होते हैं ॥ २२० ॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए एगतीसइम सण्णियथं समतं ॥

विवेचन—संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी का स्वरूप—प्रस्तुत प्रकरण में संज्ञा का अर्थ है—अतीत, अनागत और वर्तमान भावों के स्वभाव का पर्यालोचन—विचारणा । इस प्रकार की संज्ञा वाले जीव संज्ञी कहलाते हैं । अर्थात् जिनमें विशिष्ट स्मरणादि रूप भनोविज्ञान पाया जाए । इस प्रकार के मनोविज्ञान (मस्तिष्कज्ञान) से विकल जीव असंज्ञी कहलाते हैं । अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थ का जिससे सम्यक् ज्ञान हो, उसे संज्ञा अर्थात्—विशिष्ट मनोवृत्तिकहते हैं । इस प्रकार की संज्ञा जिनमें हो, वे संज्ञी कहलाते हैं । अर्थात्—समनस्क जीव संज्ञी तथा जिनके मनोव्यापार न हो, ऐसे अमनस्क जीव असंज्ञी कहलाते हैं । जो संज्ञी और असंज्ञी, दोनों कोटियों से अतीत हों, ऐसे केवली या सिद्ध नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं ।’

कौन संज्ञी, कौन असंज्ञी तथा कौन संज्ञी-असंज्ञी और क्यों ?—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सम्मूच्छ्वम पञ्चेन्द्रिय जीव असंज्ञी होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियों में मानसिक व्यापार का अभाव होता है और द्विन्द्रियादि विकलेन्द्रियों एवं सम्मूच्छ्वम पञ्चेन्द्रियों में विशिष्ट मनोवृत्ति का अभाव होता है । केवली मनोद्रव्य से सम्बन्ध होने पर भी अतीत, अनागत और वर्तमानकालिक पदार्थों या भावों के स्वभाव की पर्यालोचनारूप संज्ञा से रहित हैं तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण केवलज्ञान-केवलदर्शन से साक्षात् समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं । इस कारण केवली न तो संज्ञी हैं और न असंज्ञी हैं, सिद्ध भी संज्ञी नहीं हैं, क्योंकि उनके द्रव्यमन नहीं होता तथा सर्वज्ञ होने के कारण असंज्ञी भी नहीं हैं । अतएव केवली और सिद्ध नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं ।

१. (क) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी दीक्षा) भा. ५, पृ. ७१३

(ख) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अ. रा. कीष भा ७, पृ. ३०५

समुच्चय जीव संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी होते हैं और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी होते हैं। नैरायिक तथा दस प्रकार के भवनवासी देव संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी। जो नैरायिक या भवनवासी संज्ञी के भव से नरक में या भवनवासी देव में उत्पन्न होते हैं, वे नारक या भवनवासी देव संज्ञी कहलाते हैं। जो असंज्ञी के भव से नरक में या भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। किन्तु नारक या भवनवासी देव नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं हो सकते, क्योंकि वे केवली नहीं हो सकते। केवली न हो सकने का कारण यह है कि वे चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकते। मनुष्यों की वक्तव्यता समुच्चय जीवों के समान समझनी चाहिए। अर्थात् मनुष्य भी समुच्चय जीवों के समान संज्ञी, असंज्ञी तथा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी होते हैं। गर्भज मनुष्य संज्ञी होते हैं, समूच्छम मनुष्य असंज्ञी होते हैं तथा केवली नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं।

पञ्चनिद्रियतिर्यञ्च और वाणव्यन्तर नारकों के समान संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी। जो पञ्चनिद्रियतिर्यञ्च समूच्छम होते हैं, वे असंज्ञी और जो गर्भज होते हैं, वे संज्ञी होते हैं। जो वाणव्यन्तर असंज्ञियों से उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी और संज्ञियों से उत्पन्न होते हैं, वे संज्ञी होते हैं। दोनों ही नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं होते, क्योंकि वे चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते। ज्योतिष्क और वैमानिक संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी नहीं, क्योंकि संज्ञी से ही उत्पन्न होते हैं। ये नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी तो ही नहीं सकते, क्योंकि वे चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते। सिद्ध भगवान् पूर्वोक्त युक्ति से नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं।

॥ प्रजापता भगवत्सी का इक्षतोसदाँ संज्ञिपद समाप्त ॥



# बत्तीसाङ्गमं रांजायपयं

## बत्तीसवाँ संयतपद

### प्राथमिक

- ❖ प्रशापनासूत्र का यह बत्तीसवाँ पद है, इसका नाम संयतपद है।
- ❖ संयतपद मातवजीवन का सर्वोल्कृष्ट पद है। संयतपद प्राप्त करने के बाद ही मोक्ष की सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर शीघ्रता से पार को जा सकती हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रय की सर्वोत्तम आराधना इसी पद पर आरूढ़ होने के बाद ही सकती है। इसीलिए प्रजापना के बत्तीसवें पद में इसे स्थान दिया गया है।
- ❖ प्रस्तुत पद में समुच्चय जीव तथा नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयत-नोअसंयत होने के विषय में प्ररूपणा की गई है। संयत से सम्बन्धित चार भेदों का विचार समस्त जीवों के विषय में किया गया है।
- ❖ संयत का अर्थ है, जो महाव्रती, संयमी ही, सर्वविरत हो। असंयत का अर्थ है—जो सर्वथा अविरत, असंयमी, अप्रत्याख्याती हो। संयतासंयत का अर्थ है—जो देशविरत हो, श्रवकव्रती हो, विरताविरत हो तथा नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत का अर्थ—जो न तो संयत हो और न असंयत हो, न ही संयतासंयत हो, क्योंकि संयत भी साधक है, अभी सिद्धयतिप्राप्त नहीं है और असंयतासंयत तो और भी नीची श्रेणी पर है। इसलिए नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत में सिद्ध भगवान् को लिया गया है।
- ❖ इस पद का निष्कर्ष यह है कि नारक, एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय, भवतवासी वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये सभी असंयत होते हैं, ये न तो संयत हो सकते हैं, न संयतासंयत। पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच संयत नहीं हो सकता, वह संयतासंयत हो सकता है, अथवा प्रायः असंयत होता है। मनुष्य में संयत, असंयत और संयतासंयत तीनों प्रकार सम्भव हैं। नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत सिद्ध भगवान् ही हो सकते हैं।
- ❖ आचार्य मलयगिरि ने संयतपद का महत्व बताते हुए कहा है कि देवों, तारकों और तिर्यङ्गच-पञ्चेन्द्रियों को सर्वविरतिरूप चारित्र या केवलज्ञान का परिणाम ही नहीं होता। वे श्रवण-मनन भी नहीं कर सकते और न जीवन में चारित्र धारण कर सकते हैं, इसके कारण वे पश्चात्ताप करते हैं, विषाद पाते हैं। अतः मनुष्यों को संयतपद की आराधना के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। षट्खण्डागम के संयमद्वार में सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनशुद्धिसंयत, परिहार-शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसम्परायशुद्धिसंयत, यथारूप्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत और असंयत ऐसे भेद करके १४ गुणस्थानों के माध्यम से विचारणा की गई है।

१. पण्णवणासुतं भा. २, (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४४

२. षट्खण्डागम पृ. १, पृ. ३६८

## बत्तीसाङ्गमं संजयपदं

### बत्तीसवाँ संयतपद

जीवों एवं चौबोस दण्डकों में संयत आवि की प्ररूपणा

१९७४. जीवा णं भंते ! कि संजया असंजया संजयासंजया णोसंजय-णोअसंजयणोसंजया-संजया ?

गोयमा ! जीवा णं संजया वि असंजया वि संजयासंजया वि णोसंजयणोअसंजयणोसंजया-संजया वि ।

[१९७४ प्र.] भगवन् ! (समुच्चय) जीव क्या संयत होते हैं, असंयत होते हैं, संयतासंयत होते हैं, अथवा नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ?

[१९७४ उ.] गौतम ! जीव संयत भी होते हैं, असंयत भी होते हैं, संयतासंयत भी होते हैं और नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत भी होते हैं ।

१९७५. ऐरहया णं भंते ! कि संजया असंजया संजयासंजया णोसंजयणोअसंजयणोसंजया-संजया ?

गोयमा ! ऐरहया णो संजया, असंजया, णो संजयासंजया णो णोसंजय-णोअसंजय-णोसंजया-संजया ।

[१९७५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक संयत होते हैं, असंयत होते हैं, संयतासंयत होते हैं या नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ?

[१९७५ उ.] गौतम ! नैरयिक संयत नहीं होते, न संयतासंयत होते हैं और न नोसंयत नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं; किन्तु असंयत होते हैं ।

१९७६. एवं जाव चउर्दिया ।

[१९७६] इसी प्रकार (अमुरकुमारादि भवनवासी, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय) चतुरन्दियों तक जानना चाहिए ।

१९७७. पञ्चेदियतिरिक्षजोणियाणं पुच्छा ?

गोयमा ! पञ्चेदियतिरिक्षजोणिया णो संजया, असंजया वि संजयासंजया वि, जो णोसंजय-णोअसंजय-णोसंजयासंजया ।

[१९७७ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रियतिरियंग्योनिक क्या संयत होते हैं ? हत्यादि प्रश्न है ।

[१९७७ उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रियतिरियंब्व न तो संयत होते हैं और न ही नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं, किन्तु वे असंयत या संयतासंयत होते हैं ।

११७८. मणूसा एं भंते । ० पुच्छा ।

गोयमा । मणूसा संजया वि असंजया वि, संजयासंजया वि, जो जोसंजयणोअसंजय-जो-संजया-संजया ।

[ ११७८ प्र.] भगवन् ! मनुष्य संयत होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है ।

[ ११७८ उ.] गौतम ! मनुष्य संयत भी होते हैं, असंयत भी होते हैं, संयतासंयत भी होते हैं, किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत नहीं होते हैं ।

११७९. वाणमंतर-जोतिसिय-बेमाणिया जहा ऐरडया (सु. १२७५) ।

[ ११७९ ] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और बैमानिकों का कथन नैरयिकों के समान समझना चाहिए ।

११८०. सिद्धार्थ पुच्छा ।

गोयमा । रिद्धि लो संजय, नै अद्विद्वान् नै राजव्यवहारंजया, जोसंजय-जोअसंजय-जोसंजया-संजया ।

संजय असंजय यीसगा य जीवा तहेव मणुया व ।

संजयरहिया तिरिया, सेसा असंजया होंति ॥ २२१ ॥

[ ११८० प्र.] सिद्धों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[ ११८० उ.] गौतम ! सिद्ध न तो संयत होते हैं, न असंयत और न ही संयतासंयत होते हैं, किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ।

[ संग्रहणी-गाथार्थ— ] जीव और मनुष्य संयत, असंयत और संयतासंयत (मिश्र) होते हैं । तिर्यङ्गच संयत नहीं होते, (किन्तु असंयत और संयतासंयता होते हैं) । शेष एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और देव (चारों जाति के) तथा नारक असंयत होते हैं ॥ २२१ ॥

॥ पण्डिताद् भगवतीए बत्तीसहमं संजयपयं समर्पय ॥

**विवेचन**—संयत एवं असंयत पद का लक्षण—जो सर्वसावध्ययोगों से सम्यक् प्रकार से विरत हो चुके हैं और चारित्रपरिणामों की वृद्धि के कारणभूत निरवद्य योगों में प्रवृत्त हुए हैं, वे संयत कहलाते हैं । अर्थात्—हिंसा आदि पापस्थानों से जो सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं, वे संयत हैं । उनसे विपरीत असंयत हैं ।

संयतासंयत—जो हिंसादि से देश (आंशिकरूप) से विरत हैं ।

नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत—जो इन तीनों से भिन्न हैं ।

जीव में चारों का समावेश : कैसे ?—जीव संयत भी होते हैं, क्योंकि श्रमण संयत है । जीव असंयत भी होते हैं, क्योंकि नारकादि असंयत हैं । जीव संयतासंयत भी होते हैं, क्योंकि पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच और मनुष्य स्थूल प्राणातिपात आदि का त्याग करके देशसंयम के आराधक होते हैं तथा जीव नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत भी होते हैं, क्योंकि सिद्धों में इन तीनों का निषेध पाया जाता है । सिद्ध भगवान् शरीर और मन से रहित होते हैं । अतएव उनमें निरवद्ययोग में प्रवृत्ति और सावधयोग

से निवृत्ति रूप संयतत्व घटित नहीं होता । मावद्यायोग प्रवृत्ति न होने से असंयतत्व भी नहीं पाया जाता तथा दोनों का सम्मिलितरूप संयतासंयतत्व भी इसों कारण सिद्धों में नहीं पाया जाता । कौन संयत है, कौन असंयत है, कौन संयतासंयत है तथा कौन नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत है, इसको प्ररूपणा मूलपाठ में कर ही दी गई है, अन्तम् संग्रहणी गाथा में निष्कर्ष दे दिया है । अतः स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है ।<sup>१</sup>

॥ प्रजापना भगवती का बत्तीसवाँ संयतपद सम्पूर्ण ॥



१. (क) पर्णवणामुक्तं (मूलपाठ-टिक्कणयूक्त) भा. १, पृ. ४१४

(ख) प्रजापना (प्रमेयबोधिनी टिक्का) भा. ५, पृ. ७६८ से ७७१ तक

# तेत्तीसाइमं ओहिपर्य

## तेत्तीसवाँ अवधिपद

- ❖ यह प्रजापनासूत्र का तेत्तीसवाँ अवधिपद है। इसमें अवधिज्ञानसम्बन्धी विस्तृत चर्चा है। विभिन्न पहलुओं से अवधिज्ञान की प्रगति की गई है।
- ❖ भारतीय दार्शनिकों और कहीं-कहीं पश्चात्य दार्शनिकों ने अतीन्द्रियज्ञान की चर्चा अपने-अपने उर्गंगम्यों तथा स्वतन्त्र एवं साहित्य में की है। साधारण जनता किसी ज्योतिषी, मन्त्रविद्या-सिद्ध व्यक्ति अथवा किसी देवी-देवोपासक के द्वारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान की चर्चा सुन कर आश्चर्यान्वित हो जाती है। उसी को चमत्कार मान कर गतानुगतिक रूप से उलटे-सीधे मार्ग को पकड़ कर चल पड़ती है। कभी-कभी लोग ऐसे चमत्कार के चक्कर में पड़ कर दृष्टि अपने शील का भी त्याग कर देते हैं और नैतिक पतन के चौराहे पर आकर खड़े हो जाते हैं। अतः ऐसा चमत्कार क्या है? वह अवधिज्ञान है या और कोई ज्ञान है? इस शंका के समाधानार्थ जैन तीर्थकरों ने अवधिज्ञान का यथार्थ स्वरूप बताया है। वह कितने प्रकार का है? कैसे उत्पन्न होता है? क्या वह चला भी जाता है, न्यूनाधिक भी हो जाता है अथवा स्थायी रहता है? ऐसा ज्ञान किन-किन को होता है? जन्म से ही होता है या विशिष्ट क्षयोपशम से? इन सब पहलुओं पर साधकों को यथार्थ मार्गदर्शन देने तथा साधक कहीं इसके पीछे अपनी साधना न खो बैठें, आम जनता को चमत्कार के चक्कर में डालने के लिए रत्नत्रय की साधना को छोड़ कर अन्य मार्गों का अवलम्बन न ले बैठें तथा जनता की चमत्कार की भ्रान्ति दूर करने के लिए अवधिज्ञान की विभिन्न पहलुओं से व्याख्या की है।
- ❖ प्रस्तुत पद में अवधिज्ञान के विषय में ७ द्वारों के माध्यम से विश्लेषण किया गया है। जैसे कि—(१) प्रथम भेदद्वार, जिसमें अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। (२) द्वितीय विषयद्वार, अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र का विषय, (३) तीसरा संस्थानद्वार, उस क्षेत्र के आकार का वर्णन है, (४) चतुर्थ अवधिज्ञान के बाह्य आभ्यन्तर प्रकार, (५) पंचम देशावधिद्वार, जिसमें सर्वोत्कृष्ट अवधि के साथ सर्वजघन्य और मध्यम अवधि का निरूपण है, (६) छठा, इसमें अवधिज्ञान के क्षय और वृद्धि का निरूपण है। अवति् हीयमान और वर्धमान अवधिज्ञान की चर्चा है। (७) सप्तम प्रतिपाती और अप्रतिपातीद्वार, इसमें स्थायी और प्रतिपाती अवधिज्ञान का निरूपण है।
- ❖ आम जनता आज जिस प्रकार के साधारण भूत-भविष्य-वर्तमानकालिक ज्ञान को चमत्कार मान कर प्रभावित हो जाती है, वह मतिज्ञान का ही विशेष प्रकार है। वह इन्द्रियातीत ज्ञान नहीं है। पूर्वजन्म की बीती बातों को धाद करने वाले जातिस्मरण ज्ञान को भी कई लोग अवधिज्ञान की कोटि में मान बैठते हैं, किन्तु वह मतिज्ञान का ही विशेष भेद है। ज्योतिष या मंत्र-

तंत्रादि से अथवा देवोपासना से होने वाला विशिष्ट ज्ञान भी अवधिज्ञान नहीं है, वह मतिज्ञान का ही विशिष्ट प्रकार है।

- ❖ अवधिज्ञान का स्वरूप कर्मग्रन्थ आदि में बताया गया है कि इन्द्रिय और मन की सहायता के द्वारा आत्मा को अवधि-मर्यादा में होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान है। वह भव-प्रत्यय और गुणप्रत्यय (क्षयोपशमिक) के भेद से दो प्रकार का है। देवों और नारकों को यह जन्म से होता है और मनुष्यों एवं पंचेन्द्रियतिर्योंचों को कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।
- ❖ अवधिज्ञान के क्षेत्रगतविषय की चर्चा का सार यह है—नारक क्षेत्र की दृष्टि से कम से कम आधा गाढ़ और अधिक से अधिक चार गाढ़ तक जानता-देखता है। फिर एक-एक करके सातों ही नारकों के नारकों के अवधि क्षेत्र का निरूपण है, नीचे की नरक भूमियों में उत्तरोत्तर अवधिज्ञानक्षेत्र कम होता जाता है। भवनवासी निकाय में अमुरकुमार का अवधिक्षेत्र कम से कम २५ योजन और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्र है। बाकी के नागकुमारादि का अवधिक्षेत्र उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्र है। पंचेन्द्रियतिर्योंच का अवधिक्षेत्र जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्र है। मनुष्य का उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र अलोक में भी लोकपरिमित असंख्यात लोक जितना है। वाणव्यन्तर का अवधिक्षेत्र नागकुमारवत् है। ज्योतिष्कदेवों का जघन्य असंख्यात द्वीपसमुद्र है। वैमानिक देवों के अवधिक्षेत्र को विचारणा में विमान से नीचे का, ऊपर का और तिरछे भाग का अवधिक्षेत्र बताया है। विमान पर उन-उन वैमानिक देवों का अवधिक्षेत्र विस्तृत है। अनुत्तरीपातिक देवों का अवधिक्षेत्र समग्र लोकनाडी-प्रमाण है।
- ❖ अवधिज्ञान का क्षेत्र की अपेक्षा से लग्र (डोंगी), पल्लक, झालर, पटह आदि के समान विविध प्रकार का आकार बताया है।
- ❖ आचार्य मलयगिरी ने उसका निष्कर्ष यह निकाला है कि भवनवासी और व्यन्तर को ऊपर के भाग में, वैमानिकों को नीचे के भाग में तथा ज्योतिष्क और नारकों को तिर्यक्-दिशा में अधिक विस्तृत होता है। मनुष्य और तिर्यक्चों के अवधिज्ञान का आकार विचित्र होता है।
- ❖ बाह्य और आध्यन्तर अवधि की चर्चा में बताया गया है कि नारक और देव अवधिक्षेत्र के अन्दर हैं, अर्थात्—उनका अवधिज्ञान अपने चारों ओर फैला हुआ है, तिर्यक्च में वैसा नहीं है। मनुष्य अवधि-क्षेत्र में भी है और बाह्य भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान का प्रसार स्वयं जहाँ है, वहाँ से हो, तो वह अवधि के अन्दर (अन्तः) माना जाता है, परन्तु अपने से विच्छिन्न प्रदेश में अवधि का प्रसार हो तो वह अवधि से बाह्य माना जाता है। सिर्फ मनुष्य को ही सर्वावधि सम्भव है, ऐसे सभी जीवों को देशावधि ही होता है।
- ❖ आगे से द्वारों में नारकादि जीवों में आनुगामिक-अनानुगामिक, हीयमान-वर्धमान, प्रतिपाती-श्रप्रतिपाती तथा अवस्थित और अनवस्थित आदि अवधिभेदों की प्ररूपणा की गई है।
- ❖ कुल मिलाकर अवधिज्ञान की सांगोपांग चर्चा प्रस्तुत पद में की गई है। भगवतीसूत्र एवं कर्म-ग्रन्थ में भी इतनी विस्तृत विचारणा नहीं की गई है।<sup>१</sup>

१. (क) पण्डितानुसृत भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणी) पृ. ४१५ से ४१८ तक

(ख) पण्डितानुसृत भा. २ (परिशिष्ट-प्रस्तावनादि) पृ. १४०-१४१

## तेत्तीसवें पद के अधिकारों की प्ररूपणा

### तेत्तीसवाँ अवधिपद

तेत्तीसवें पद के अधिकारों की प्ररूपणा

१९८१. भेद १ विषय २ संठाणे ३ अभिभत्तर-बाहुरे ४ य देसोही ५ ।

ओहिस्स य खप-बृद्धि ६ पडिष्ठाई खेदपडिष्ठाई ७ ॥ २२२ ॥

[१९८१ संग्रहणी-गाथार्थ—] तेत्तीसवें पद में इन सात विषयों का अधिकार है—(१) भेद, (२) विषय, (३) संस्थान, (४) आभ्यन्तर-बाह्य, (५) देशावधि, (६) अवधि का क्षय और बृद्धि, (७) प्रतिपाती और अप्रतिपाती ।

विवेचन—सात द्वार—तेत्तीसवें पद में प्रतिपाद्य विषय के सात द्वारा इस प्रकार है । (१) प्रथम द्वार—अवधिज्ञान के भेद-प्रभेद, (२) द्वितीय द्वार—अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का विषय (३) तृतीय द्वार—अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का संस्थान—आकार, (४) चतुर्थ द्वार—अवधिज्ञान के दो प्रकार—आभ्यन्तर और बाह्य, (५) पंचम द्वार—देश-अवधि—सर्वोत्कृष्ट अवधि में से सर्वजन्य और मन्यम अवधि, (६) छठा द्वार—अवधिज्ञान के क्षय और बृद्धि का कथन, अर्थात् हीयमान और बद्धमान अवधिज्ञान तथा (७) सप्तम द्वार—प्रतिपाती (उत्पन्न होकर कुछ ही काल तक टिकने वाला) अवधिज्ञान एवं अप्रतिपाती—मृत्यु से या केवलज्ञान से पूर्व तक नष्ट न होने वाला अवधिज्ञान ।<sup>१</sup>

प्रथम : अवधि-भेद द्वार

१९८२. कतिविहा णे भते ! ओही पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा ओही पण्णता । तं जहा—मध्यपञ्चद्वया य लश्रोवसमिया य । दोण्हे मध्यपञ्चद्वया, तं जहा—वेदाण य णेरद्वयाण य । दोण्हे लश्रोवसमिया, तं जहा—मणूसाणं पंचेदिय-तिरिक्षजोणियाण य ।

[१९८२ प्र.] भगवन् ! अवधि (ज्ञान) कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९८२ उ.] गौतम ! अवधि (ज्ञान) दो प्रकार का कहा गया है, यथा—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक । दो को भव-प्रत्ययिक अवधि (ज्ञान) होता है, यथा—देवों को और नारकों को । दो को क्षायोपशमिक होता है, यथा—मनुष्यों को और पंचेन्द्रियतिर्यङ्गों को ।

विवेचन—अवधिज्ञान : स्वरूप और प्रकार—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को अवधि-मयदा में होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । जहाँ प्राणी कर्मों के वशीभूत होते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं, वह है भव अर्थात् नारक आदि सम्बन्धी जन्म । भव जिसका कारण हो, वह भवप्रत्ययिक है । अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिका में प्रविष्ट अंश

१. (क) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ७७५-७७८

का वेदन होकर पृथक् हो जाना क्षय है और जो उदयावस्था को प्राप्त नहीं है, उसके विपाकोदय को दूर कर देना—स्थगित कर देना, उपशम कहलाता है। जिस अवधिज्ञान में क्षयोपशम ही मुख्य कारण हो, वह क्षयोपशम-प्रत्यय या क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।<sup>१</sup>

**किसे कौन-सा अवधिज्ञान और क्यों ?**—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान चारों जाति के देवों को तथा रत्नप्रभा श्रादि सातों नारकभूमियों के नारकों को होता है। प्रश्न होता है कि अवधिज्ञान क्षयोपशमिक भाव में है और नारकादि भव श्रीदयिक भाव में हैं, ऐसी स्थिति में देवों और नारकों को अवधिज्ञान कंसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि वस्तुतः भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान भी क्षयोपशमिक ही है, किन्तु वह क्षयोपशम देव और नारक-भव का निमित्त मिलने पर अवश्यम्भावी होता है। जैसे—पक्षीभव में आकाशगमन की लक्ष्मि अवश्य प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार देवभव और नारकभव का निमित्त मिलते ही देवों और नारकों को अवधिज्ञान की उपलब्धि अवश्यन्तर हो जाती है।

दो प्रकार के प्राणियों का अवधिज्ञान क्षयोपशमिक अर्थात्—क्षयोपशम-निमित्तक है, वह है—मनुष्यों और पञ्चेन्द्रियतिर्यज्ञों को। इन दोनों को अवधिज्ञान अवश्यम्भावी नहीं है, क्योंकि मनुष्य-भव और तिर्यज्ञभव के निमित्त से इन दोनों को अवधिज्ञान नहीं होता, वल्कि मनुष्यों या तिर्यज्ञ-पञ्चेन्द्रियों में भी जिनके अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाए, उन्हें ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इसे कर्मग्रन्थ की भाषा में गुणप्रत्यय भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अवधिज्ञान क्षयोपशमिक ही हैं, तथापि पूर्वोक्त निमित्तभिन्नता के कारण दोनों में अन्तर है।<sup>२</sup>

### द्वितीय : अवधि-विषय द्वारा

११८३. येरइया ण भते ! केवतियं खेतं श्रोहिणा जाणति पासंति ?

गोथमा ! जहृणेण अद्वृगादयं, उष्टकोसेण चत्तारि गाउयाइं श्रोहिणा जाणति पासंति ।

[१९८३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक अवधि (ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८३ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः आधा गाऊ (गव्यूति) और उष्कृष्टतः चार गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९८४. रथणप्रभापुष्टविणेरहया ण भते ! केवतियं खेतं श्रोहिणा जाणति पासंति ?

गोथमा ! जहृणेण अद्वृद्वाइं, गाउग्राइं, उष्टकोसेण चत्तारि गाउग्राइं श्रोहिणा जाणति पासंति ।

[१९८४ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८४ उ.] गौतम ! वे जघन्य साढ़े तीन गाऊ और उष्कृष्ट चार गाऊ (क्षेत्र) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१. (क) प्रश्नापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७८०

(ख) पञ्चवणासुत्त भा. २ (प्रस्तावना) पृ. १४०-१४१

२. प्रश्नापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७८० से ७८५ तक

१९८५. सर्वकरप्यभापुडविणेरइया जहणेणं तिणि गाउआइ, उक्कोसेण अद्धुट्टाइ गाउआइ ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९८५ ] शर्कराप्रभापृथ्वी के नारक जघन्य तीन गाऊ और उत्कृष्ट साडे तीन गाऊ (क्षेत्र को) अवधि-(ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९८६. बालुयप्यभापुडविणेरइया जहणेणं अद्धुट्टजाइ गाउआइ, उक्कोसेण तिणि गाउआइ ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९८६ ] बालुकाप्रभापृथ्वी के नारक जघन्य ढाई गाऊ और उत्कृष्ट तीन गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९८७. पंकप्यभापुडविणेरइया जहणेण दोणि गाउआइ, उक्कोसेण अद्धुट्टजाइ गाउआइ ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९८७ ] पंकप्रभापृथ्वी के नारक जघन्य दो गाऊ और उत्कृष्ट ढाई गाऊ (प्रमाण क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९८८. धूमप्यभापुडगिरेस्त्राणं पुल्याः ।

गोयमा ! जहणेण विवड्ह गाउयं, उक्कोसेण थो गाउआइ ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९८८ प्र.] भगवन् ! धूमप्रभापृथ्वी के नारक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[ १९८८ उ.] गौतम ! वे जघन्य ढेढ़ गाऊ और उत्कृष्ट दो गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९८९. तमापुडविं ?

गोयमा ! जहणेण गाउयं, उक्कोसेण दिवड्हं गाउयं ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९८९ प्र.] भगवन् ! तमःप्रभापृथ्वी के नारक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[ १९८९ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट ढेढ़ गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९९०. अहेसत्तमाए पुच्छा ।

गोयमा ! जहणेण आढुगाउयं, उक्कोसेण गाउयं ओहिणा जाणति पासंति ।

[ १९९० प्र.] भगवन् ! अधःसप्तम (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी के नीरयिक कितने क्षेत्र को अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ?

[१९९० उ.] गौतम ! वे जघन्य आधा गाऊ और उत्कृष्ट एक गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९९१. असुरकुमारा नं भंते ! ओहिणा केवतियं लेत्तं जाणंति पासंति ?

गोप्यमा ! जहण्णेण पणुदीसं जोयणाहं, उक्कोसेण असंख्याते द्वीप-समुद्रो ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारदेव अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९१ उ.] गौतम ! वे जघन्य पच्चीस योजन और उत्कृष्ट असंख्याते द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त क्षेत्र) को अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९९२. नागकुमारा नं जहण्णेण पणुदीसं जोयणाहं, उक्कोसेण संख्याते द्वीप-समुद्रो ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९२] नागकुमारदेव जघन्य पच्चीस योजन और उत्कृष्ट संख्याते द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त क्षेत्र) को अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

१९९३. एवं जाव अण्डियकुमारा ।

[१९९३] इसी प्रकार (सुपर्णकुमार से लेकर) स्तनितकुमार पर्यन्त की (अवधिज्ञान से जानने-देखने की) जघन्य उत्कृष्ट सीमा का कथन करना चाहिए ।

१९९४. पंचेद्वियतिरिक्तज्ञोणिया नं भंते ! केवतियं लेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोप्यमा ! जहण्णेण अंगुलस्स असंख्यातिभागं, उक्कोसेण असंख्याते द्वीप-समुद्रो ।

[१९९४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९४ उ.] गौतम ! वे जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग को और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्रों को जानते-देखते हैं ।

१९९५. मणूसा नं भंते ! ओहिणा केवतियं लेत्तं जाणंति पासंति ?

गोप्यमा ! जहण्णेण अंगुलस्स असंख्यातिभागं, उक्कोसेण असंख्यातजाहं अलोए लोयपमाण-मेत्ताहं खंडाहं ओहिणा पासंति ।

[१९९५ प्र.] भगवन् ! मनुष्य अवधि (ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९५ उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग क्षेत्र को और उत्कृष्ट अलोक में लोक प्रमाण असंख्यात खण्डों को अवधि (ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ।

१९९६. वाणसंतरा अहा नागकुमारा (सु. १९९२) ।

[१९९६] वाणव्यन्तर देवों की जानने-देखने की क्षेत्र-सीमा (सु. १९९२ में उक्त) नागकुमार देवों के समान जाननी चाहिए ।

१९९७. जोइसिया यं भंते ! केवतियं लेतं प्रोहिणा जाणति पासंति ।

गोयमा ! जहण्णेण संखेज्जे दीव-समुद्रे, उक्कोसेण वि संखिज्जे दीव-समुद्रे ।

[ १९९७ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कदेव कितने क्षेत्र को अवधि (ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ?

[ १९९७ उ.] गीतम् ! वे जघन्य भी संख्यात द्वीप-समुद्रों को तथा उत्कृष्ट भी संख्यात द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त-क्षेत्र) को (अवधिज्ञान से जानते-देखते हैं ।)

१९९८. सोहृष्मगदेवा यं भंते ! केवतियं लेतं प्रोहिणा जाणति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेण अंगुलस्स असंखेज्जतिमार्गं, उक्कोसेण अहे जाव इमोसे रथणप्पभाए पुढबीए हेट्टिले चरिमंते, तिरियं जाव असंखेज्जे दीव-समुद्रे, उड्डे जाव सगाई विमाणाईं प्रोहिणा जाणति पासंति ।

[ १९९८ प्र.] भगवन् ! सीशर्मदेव कितने क्षेत्र को अवधि (ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ?

[ १९९८ उ.] गीतम् ! वे जघन्य अंगुल के असंख्यात्में भागक्षेत्र को और उत्कृष्टतःनीचे इस रत्नप्रभापृथक्की के निचले नरमान्त तक, तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रों (तक) और ऊपर अपने-अपने विमानों तक (के क्षेत्र) को अवधि (ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ।

१९९९. एवं इसाणगदेवा वि ।

[ १९९९ ] इसी प्रकार ईशानकदेवों के विषय में भी (कहना चाहिए ।)

२०००. सण्कुमारदेवा वि एवं चेव । णदरं अहे जाव बोच्चाए सबकरप्पभाए पुढबीए हेट्टिले चरिमंते ।

[ २००० ] सनत्कुमार देवों को भी (अवधिज्ञानविषयक क्षेत्रमर्यादा) इसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना चाहिए । किन्तु विशेष यह है कि ये नीचे दूसरी शर्कराप्रभा (नरक-) पृथक्की के निचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं ।

२००१. एवं मार्हिदगदेवा वि ।

[ २००१ ] मार्हेन्द्रदेवों के विषय में भी इसी प्रकार (क्षेत्रमर्यादा समझनी चाहिए ।)

२००२. बंसलोग-न्लंसगदेवा तच्चाए पुढबीए हेट्टिले चरिमंते ।

[ २००२ ] ब्रह्मलोक और लान्तकदेव (नीचे) तीसरी (बालुका-)पृथक्की के निचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं । शेष सब पूर्ववत् ।

२००३. महासुष्क-सहस्रारदेवा अउत्थीए पंकप्पभाए पुढबीए हेट्टिले चरिमंते ।

[ २००३ ] महासुष्क और सहस्रारदेव (नीचे) चौथी पंकप्रभापृथक्की के निचले चरमान्त (तक जानते-देखते हैं ।)

२००४. आण्य-पाण्य-आरण-आच्चुयदेवा अहे जाव पंचमाए धूमप्पभाए पुढबीए हेट्टिले चरिमंते ।

[ २००४ ] आनत, प्राणत, आरण अच्युत देव नीचे पाँचवीं धूमप्रभापृथक्की के निचले चरमान्त पर्यन्त जानते-देखते हैं ।

२००५. हेद्विम-मञ्जिभमगेवेज्जगदेवा अहे छहाए तमाए पुढवोए हेद्विल्ले चरिमंते ?

[२००५] निचले और मध्यम ग्रेवेयकदेव नीचे छाठी तमःप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त (पर्यन्त क्षेत्र को जानते-देखते हैं।)

२००६. उचरिमगेवेज्जगदेवा णं भंते ! केवतियं लेत्तं श्रोहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहणेण अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उचकोसेण अहेसत्तमाए पुढवोए हेद्विल्ले चरिमंते, तिरियं जाव असंखेज्जे दीव-समृद्धे, उड्डं जाव सगाइं विमाणाइं श्रोहिणा जाणंति पासंति ।

[२००६ प्र.] भगवन् ! उपरिम ग्रेवेयकदेव अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[२००६ उ.] गौतम ! वे जबन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग को और उत्कृष्ट नीचे अधःसप्तमपृथ्वी के निचले चरमान्त (पर्यन्त), तिरछे यावत् असंख्यात द्वीप-समुद्रों को तथा ऊपर अपने विभानों तक (के क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते देखते हैं ।

२००७. अनुत्तरोववाइयदेवा णं भंते ! केवतियं लेत्तं श्रोहिणा जाणंति पासंति ।

गोयमा ! संभिन्नं लोगणालि श्रोहिणा जाणंति पासंति ।

[२००७ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरोपपातिकदेव अवधि (ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानते देखते हैं ?

[२००७ उ.] गौतम ! वे सम्पूर्ण (सम्भिन्न) (चौदह रज्जू-प्रमाण) लोकनाडी को अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं ।

विवेचन—विभिन्न जीवों की अवधिज्ञान से जानने-देखने की क्षेत्रमर्यादा—अवधिज्ञान के योग्य समस्त नारकों, देवों, मनुष्यों तथा पंचेन्द्रियतिर्यङ्गों की अवधिज्ञान द्वारा जानने-देखने की क्षेत्रमर्यादा सू. १९८३ से २००७ तक में बताई गई है ।

इसे सुगमता से समझने के लिए निम्नलिखित तालिका देखिए—

क्रम	अवधिज्ञानयोग्य जीवों के नाम	जानने-देखने की जघन्य क्षेत्रसीमा	उत्कृष्ट क्षेत्रसीमा
१	समुड्डवय नारक	आधा गाऊ	चार गाऊ
२	रत्नप्रभापृथ्वीनारक	साढ़े तीन गाऊ	चार गाऊ
३	शकेराप्रभापृथ्वीनारक	तीन गाऊ	साढ़े तीन गाऊ
४	बालुकाप्रभापृथ्वीनारक	दो गाऊ	तीन गाऊ
५	पंकप्रभापृथ्वीनारक	दो गाऊ	दो गाऊ
६	धूमप्रभापृथ्वीनारक	दो गाऊ	दो गाऊ

क्रम अवधिकार योग्य जीवों के नाम आनने-देखने की जगह ज्ञेयसीमा उत्तरुष्ट स्नेहसीमा

७	तमःप्रभापृथ्वीनारक	एक गाँड़	उड़ गाऊँ
८	तमस्तमःप्रभापृथ्वीनारक	आधा गाँड़	एक गाऊँ
९	अधुरकुमार देव	पचास दोजन	असंख्यात द्वीप-समुद्र
१०	नागकुमारदेव	" "	संख्यात द्वीप-समुद्र
११	सुपर्णकुमार से स्तनितकुमार तक के देव	" "	" "
१२	तियंश्चपंचेन्द्रिय	अंगुल के असंख्यातवे भाग	असंख्यात द्वीप-समुद्र
१३	मनुष्य	" "	अलोक में लोकप्रमाण असंख्यात छण्ड (परमावधि की अपेक्षा से)
१४	वाणव्यन्तर	पञ्चीक योजन	संख्यात द्वीप-समुद्र
१५	जयोतिष्ठकदेव	संख्यात द्वीप-समुद्र	" "
१६	सौधर्मदेव	अंगुल के असंख्यातवे भाग (उपपात के समय पूर्वभव सम्बन्धी सबं जघन्य अवधि की अपेक्षा से)	नीचे रत्नप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्र तक, ऊपर भवने विमानों तक सौधर्मवत्
१७	ईशानदेव	" "	नीचे शक्तराप्रभा के निचले चरमान्त तक, शेष सब सौधर्मवत्
१८	सनत्कुमारदेव	" "	सनत्कुमारवत्
१९	माहेन्द्रदेव	" "	नीचे तीसरी पृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष सब सौधर्मवत्
२०	ब्रह्मलोक और लाल्तकदेव	" "	नीचे चौथी पंकप्रभा के निचले चरमान्त तक, शेष सौधर्मवत्
२१	महाशुक्र, सहस्रारदेव	" "	नीचे पंचमी धूमप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष पूर्ववत्
२२	प्रान्त, प्राण्त, आरण, अर्घ्युत	" "	नीचे छठी तमः प्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष सौधर्मवत्
२३	अधस्तन, भृष्यम ग्रैवेष्यकदेव	" "	नीचे सातवीं नरक के निचले चरमान्त तक, तिरछे और ऊपर सौधर्मवत् <sup>१</sup>
२४	उपरिम ग्रैवेष्यकदेव	" "	
२५	अनुत्तरोपपातिकदेव	सम्पूर्ण लोकनाडी	

१. (क) एण्डवणासुर्त भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण्यकृत) पृ. ४१५ से ४१७ तक  
(ज) प्रजापवासूत्र (प्रेयबोधिनी ढीका) भा. २, पृ. ७९० से ८०१ तक

**तृतीय : अवधिज्ञान का संस्थानद्वार**

२००८. ऐरह्याणं भंते ! ओहो किसंठिए पण्णते ?

गोयमा ! तप्यागारसंठिए पण्णते ।

[२००८ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधि (ज्ञान) किस आकार (संस्थान) वाला बताया गया है ?

[२००८ उ.] गीतम ! वह तप्र के आकार का कहा गया है ।

२००९. [१] असुरकुमाराणं भंते ! ० पच्छा ।

गोयमा ! पल्लगसंठिए ।

[२००९-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों का अवधि (ज्ञान) किस प्रकार का बताया गया है ?

[२००९-१ उ.] गीतम ! वह पल्लक के आकार का बताया गया है ।

[२] एवं जाव धणियकुमाराणं ।

[२००९-२] इसी प्रकार (नागकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक के अवधि-संस्थान के विषय में जानना चाहिए ।

२०१०. पञ्चेद्वितिरिक्षजोशियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णाणासंठाषसंठिए पण्णते ।

[२०१० प्र.] भगवन् ! पञ्चेद्वितिरिक्षजोशियाणं किस आकार का कहा गया है ?

[२०१० उ.] गीतम ! वह नाना आकारों वाला कहा गया है ।

२०११. एवं मषूसाख त्रि ।

[२०११] इसी प्रकार मनुष्यों के अवधि-संस्थान के विषय में जानना चाहिए ।

२११२. वाणमंतराणं पच्छा ।

गोयमा ! पढहसंठाणसंठिए पण्णते ।

[२०१२ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देवों का अवधिज्ञान किस आकार का कहा गया है ?

[२०१२ उ.] गीतम ! वह पटह के आकार का कहा गया है ।

२०१३. ऊतिसियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! भल्लरिसंठाषसंठिए पण्णते ।

[२०१३ प्र.] ऊतिष्कदेवों के अवधिसंस्थान के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ।

[२०१३ उ.] गीतम ! वह भालर के आकार का कहा गया है ।

२०१४. [१] सोहुम्मगदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! उड्डमझगागारसंठिए पण्णते ।

[२०१४-१ प्र.] भगवन् ! सोधर्मदेवों के अवधि-संस्थान के विषय में पूर्ववत् पृच्छा है ।

[२०१४-१ उ.] गीतम ! वह क्षर्व-मृदंग के आकार का कहा है ।

[ २ ] एवं जाव ग्रन्थुदेवाणं पुच्छा ।

[ २०१४-२ ] इसी प्रकार यावत् अच्युतदेवों तक के अवधिज्ञान के आकार के विषय में प्रश्नोत्तर समझना चाहिए ।

२०१५. गेवेऽजगवेवार्यं पुच्छा ।

गोपमा ! पुष्पचंगेरिसंठिए पण्णते ।

[ २०१५ प्र.] भगवन् ! ग्रेवेयकदेवों के अवधिज्ञान का आकार कैसा है ?

[ २०१५ उ.] गीतम् ! वह फूलों की चंगेरी (छबड़ी या टोकरी) के आकार का है ।

२०१६. अणुत्तरोद्वादिष्ठाणं पुच्छा ।

गोपमा ! अवणालियासंठिए ओहो पण्णते ।

[ २०१६ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरोपपातिकदेवों के अवधिज्ञान का आकार कैसा है ?

[ २०१६ उ.] गीतम् ! उनका अवधिज्ञान यवनालिका के आकार का कहा गया है ।

**विवेचन** —जो देवों के अवधिज्ञान के विविध आकार—नारकों का तप्राकार, भवनवासी देवों का पल्लकाकार, पंचेन्द्रियतिर्यङ्कों और मनुष्यों का नाना आकार का, व्यन्तरदेवों का पटहाकार का, ज्योतिष्कदेवों का भालर के आकार का, सौषधमंकल्प से अच्युतकल्प के देवों का उष्वमृदंगाकार का ग्रेवेयकदेवों का पुष्पचंगेरी के आकार का और अनुत्तरोपपातिकदेवों का यवनालिका के आकार का अवधिज्ञान है । वस्तुतः अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का आकार उपचार से अवधि का आकार कहा जाता है ।

**कठिन शब्दों का ग्रन्थ—तप्र—** नदी के देग में बहता हुआ, दूर से लाया हुआ लम्बा और तिकोना काष्ठविशेष अथवा लम्बी और तिकोनी नीचा । **पल्लक—** लाढ़देश में प्रसिद्ध धान भरने का एक पात्रविशेष, जो ऊपर और नीचे की ओर लम्बा, ऊपर कुछ सिकुड़ा हुआ, कोठी के आकार का, होता है । **पटह—** ढोल (एक प्रकार का बाजा), **भल्लरी—** भालर, एक प्रकार का बाजा, जो गोलाकार होता है, इसे ढपली भी कहते हैं । **उष्व-मृदंग—** ऊपर को उठा हुआ मृदंग जो नीचे विस्तीर्ण और ऊपर संक्षिप्त होता है । **पुष्पचंगेरी—** फूलों की चंगरी, सूत से गूँथे हुए फूलों की शिखायुक्त चंगरी । चंगेरी टोकरी या छबड़ी को भी कहते हैं ।

अवधिज्ञान के कारण का फलितार्थ यह है कि भवनवासी और वाणव्यन्तरदेवों का अवधिज्ञान ऊपर की ओर अधिक होता है और वेमानिकों का नीचे की ओर अधिक होता है । ज्योतिष्कों और नारकों का तिरछा तथा मनुष्यों और तिर्यङ्कों का विविध प्रकार का होता है ।

**पंचेन्द्रियतिर्यङ्कों और मनुष्यों का अवधिज्ञान** जैसे स्वयम्भूरमणसमुद्र में मत्स्य नाना आकार के होते हैं, वैसे ही तिर्यङ्कपंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों में नाना आकार का होता है । वलयाकार भी होता है ।<sup>१</sup>

१. (क) पण्णवणासुलं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पण्ययुक्त), पृ. ४१७-४१८

(ख) प्रश्नापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी दीका) भा. ५, पृ. ८०६ से ८१० तक

### चतुर्थ : अवधि-आन्तर-बाह्यद्वार

२०१९. जेरइया जं भते ! अोहिस्त कि अंतो बाहि ?

गोयमा ! अंतो, नो बाहि ।

[२०१७ प्र.] भगवन् ! क्या नारक अवधि (ज्ञान) के अन्दर होते हैं, अथवा बाहर होते हैं ?

[२०१७ उ.] गौतम ! वे (अवधि के) अन्दर (मध्य में रहने वाले) होते हैं, बाहर नहीं ।

२०२०. एवं जाव अणियकुमारा ।

[२०१८ प्र.] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

२०२१. पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोगियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जो अंतो, बाहि ।

[२०१९ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रियतिरिक्ष अवधि के अन्दर होते हैं, अथवा बाहर होते हैं ?

[२०१९ उ.] गौतम ! वे अन्दर नहीं होते, बाहर होते हैं ।

२०२०. मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! अंतो वि बाहि पि ।

[२०२० प्र.] भगवन् ! मनुष्य अवधिज्ञान के अन्दर होते हैं या बाहर होते हैं ?

[२०२० उ.] गौतम ! वे अन्दर भी होते हैं और बाहर भी होते हैं ।

२०२१. बाणमंतर-जोइलिय-वैमाणियाणं जहा जहा जेरइयाणं (सु. २०१७) ।

[२०२१] बाणमंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का कथन (सु. २०१७ में उक्त) नैरयिकों के समान है ।

**विवेचन —आन्तरावधि और बाह्यावधि :** स्वरूप और व्याख्या—जो अवधिज्ञान सभी दिशाओं में अपने प्रकाश्य क्षेत्र को प्रकाशित करता है तथा अवधिज्ञानी जिस अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के भीतर हो रहता है, वह आन्तरावधि कहलाता है । इससे जो विपरीत हो, वह बाह्यावधि कहलाता है । बाह्य-अवधि अन्तगत और मध्यगत के भेद से दो प्रकार हैं । जो अन्तगत हो अर्थात्—आत्मप्रदेशों के पर्यन्त भाग में स्थित (गत) हो वह अन्तगत अवधि कहलाता है । कोई अवधिज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब वह स्पर्शक के रूप में उत्पन्न होता है । स्पर्शक उसे कहते हैं, जो गदाक्ष जाल आदि से बाहर निकलने वाली दीपक-प्रभा के समान नियत विच्छेद विशेषरूप है । वे स्पर्शक एक जीव के संख्यात और असंख्यात तथा नाना प्रकार के होते हैं । उनमें से पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में सामने पीछे, अधीभाग या ऊपरी भाग में उत्पन्न होता हुआ अवधिज्ञान आत्मा के पर्यन्त में स्थित हो जाता है, इस कारण वह अन्तगत कहलाता है ; अथवा औदारिकशरीर के अन्त में जो गत—स्थित हो, वह अन्तगत कहलाता है, क्योंकि वह औदारिकशरीर की अपेक्षा से कदाचित् एक दिशा में जानता है । अथवा समस्त आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम होने पर भी जो अवधिज्ञान औदारिकशरीर के अन्त में यानी किसी एक दिशा से जाना जाता है, वह अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है । अन्तगत अवधि तीन प्रकार का होता है—(१) पुरतः, (२) पृष्ठतः, (३) पाश्वर्तः । मध्यगत अवधि उसे कहते हैं, जो आत्मप्रदेशों

के मध्य में गत—स्थित हो। अर्थात् जिसकी स्थिति आत्मप्रदेशों के मध्य में हो, अथवा समस्त आत्मप्रदेशों में जानने का क्षयोपशाम होने पर भी जिसके द्वारा औदारिकशरीर के मध्यभाग से जाना जाए वह भी मध्यगत कहलाता है। सारांश यह है कि जब अवधिज्ञान के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी के साथ सम्बद्ध होता है, तब वह प्राभ्यन्तर-अवधि कहलाता है तथा जब अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी से सम्बद्ध नहीं रहता, तब वह बाह्यावधि कहलाता है।<sup>१</sup>

नारक और समस्त जाति के देव भवस्वभाव के कारण अवधिज्ञान के अन्तः—मध्य में ही रहने वाले होते हैं, बहिर्बंती नहीं होते। उनका अवधिज्ञान सभी और के क्षेत्र को प्रकाशित करता है, इसलिए वे अवधि के मध्य में ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्च तथा विधि भवस्वभाव के कारण अवधि के अन्दर नहीं होते, बाहर होते हैं। उनका अवधिस्परद्धकरूप होता है जो बीच-बीच में छोड़कर प्रकाश करता है, मनुष्य अवधि के मध्यबंती भी होते हैं, बहिर्बंती भी।<sup>२</sup>

### पंचम देशावधि-सर्वविधिद्वार

२०२२. ऐरह्या णं भंते ! कि देसोही सव्योही ?

गोयमा ! देसोही, णो सव्योही ।

[२०२२ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधिज्ञान देशावधि होता है अथवा सर्वविधि होता है ?

[२०२२ उ.] गौतम ! उनका अवधिज्ञान देशावधि होता है, सर्वविधि नहीं होता है ।

२०२३. एवं जाव थण्यकुमाराणं ।

[२०२३] इसी प्रकार (का कथन) स्तनितकुमारों तक के विषय में (समझना चाहिए ।)

२०२४. पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! देसोही, णो सव्योही ।

[२०२४ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रियतिर्थञ्चों का अवधि देशावधि होता है या सर्वविधि होता है ?

[२०२४ उ.] गौतम ! वह देशावधि होता है, सर्वविधि नहीं होता है ।

२०२५. मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! देसोही वि सव्योही वि ।

[२०२५ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों का अवधिज्ञान देशावधि होता है या सर्वविधि होता है ?

[२०२५ उ.] गौतम ! उनका अवधिज्ञान देशावधि भी होता है, सर्वविधि भी होता है ।

२०२६. धाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा ऐरह्याणं (सु. २०२२) ।

[२०२६] धाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का (अवधि भी) (सु. २०२२ में उक्त) नारकों के समान (देशावधि होता है ।)

**विवेचन—देशावधि और सर्वविधि :** स्वरूप एवं विश्लेषण—अवधिज्ञान तीन प्रकार का होता है—सर्वजघन्य, मध्यम और सर्वोत्कृष्ट । इनमें से सर्वजघन्य और मध्यम अवधि को देशावधि कहते हैं

१. प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७७३ से ७७५ तक

२. वही, भा. ५, पृ. ८१० से ८१२ तक

और सर्वोत्कृष्ट अवधि को परमावधि या सर्वावधि कहते हैं। सर्वजघन्य अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा तेजसवर्गणा और भाषावर्गणा के अपान्तरालवर्ती द्रव्यों को, क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग को, काल की अपेक्षा आवलिका के असंख्यातवें भाग अतीत और अनागत काल को जानता है। यद्यपि अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है, इसलिए क्षेत्र और काल अमूर्त होने के कारण उनको साक्षात् ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि वे अरूपी हैं, तथापि उपचार से क्षेत्र और काल में जो रूपी द्रव्य होते हैं, उन्हें जानता है तथा भाव से अनन्त पर्यायों को जानता है। द्रव्य अनन्त होते हैं, अतः कम-से-कम प्रत्येक द्रव्य के रूप, रस, गत्थ और स्पर्श रूप चार पर्यायों को जानता है। यह हुआ सर्वजघन्य अवधिज्ञान। इससे आगे पुनः प्रदेशों की बढ़ि से, काल की बढ़ि से, पर्यायों की बढ़ि से बढ़ता हुआ अवधिज्ञान मध्यम कहलाता है। जब तक सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान न हो जाए, तब तक मध्यम का ही रूप समझना चाहिए। सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा समस्त रूपी द्रव्यों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक को और श्रलोक में लोकप्रमाण असंख्यात खण्डों को जानता है, काल की अपेक्षा असंख्यात अतीत और अनागत उत्सर्पिणियों अवसर्पिणियों को जानता है तथा भाव की अपेक्षा अनन्त पर्यायों को जानता है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्य की संख्यात-असंख्यात पर्यायों को जानता है।<sup>१</sup>

### छठा-सातवाँ अवधि-भय-दुष्टि आदि द्वारा

२०२७. ऐरहयाणं भते ! ओहो कि आणुगामिए अणाणुगामिए वद्धमाणए हायमाणए पडिवाई अपडिवाई अवहिए अपहिए ?

गोयमा ! आणुगामिए, जो अणाणुगामिए जो वद्धमाणए जो हायमाणए, जो पडिवाई, अपडिवाई अवहिए, जो अणवहिए ।

[२०२७ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधि (ज्ञान) क्या आनुगामिक होता है, अनानुगामिक होता है, वर्द्धमान होता है, हीयमान होता है, प्रतिपाती होता है, अप्रतिपाती होता है, अवस्थित होता है, अथवा अनवस्थित होता है ?

[२०२७ उ.] गोतम ! वह अनुगामिक है, किन्तु अनानुगामिक, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अनवस्थित नहीं होता, अप्रतिपाती और अवस्थित होता है ।

२०२८. एवं जाव शिष्यकुमाराणं ।

[२०२८] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक के विषय में जानना चाहिए ।

२०२९. पञ्चेन्द्रियतिरिक्तजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! आणुगामिए वि जाव अणवहिए वि ।

[२०२९ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रियतिरिक्तजोणियों का अवधि (ज्ञान) आनुगामिक होता है ?, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है ।

[२०२९ उ.] गोतम ! वह आनुगामिक भी होता है, यावत् अनवस्थित भी होता है ।

१. प्रश्नापना. (प्रमेयबोधिकी टीका) भा. ५, पृ. ७७६ से ७७७ तक

## २०३०. एवं मणुसाण चि ।

[ २०३० ] इसी प्रकार मनुष्यों के अवधिज्ञान के विषय में समझ लेना चाहिए ।

## २०३१. वाणव्यन्तर-ज्योतिसिद्ध-वेमाणियाणं जहा णेरहयाणं (सु. २०२७) ।

[ २०३१ ] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वेमाणिक देवों (के अवधिज्ञान) की वक्तव्यता (सु. २०२७ में उक्त) नारकों के समान जाननी चाहिए ।

॥ पण्डिताण्ड भगवत्सीए तेत्रीसहस्रं शोहिपवं समर्तं ॥

**विवेचन—आनुगामिक आदि पदों के लक्षण—**(१) **आनुगामिक** (आनुगामी)—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी अवधिज्ञानी के साथ विद्यमान रहता है, उसे आनुगामिक कहते हैं, अर्थात् जिस स्थान पर जिस जीव में यह अवधिज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस स्थान के चारों ओर संख्यात-प्रसंख्यात योजन तक देखता है, इसी प्रकार उस जीव के दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी वह उतने क्षेत्र को जानता-देखता है, वह आनुगामिक कहलाता है।  
**(२) अनानुगामिक** (अनानुगामी)—जो साथ न चले, किन्तु जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थों को जाने, उत्पत्तिस्थान को छोड़ देने पर न जाने, उसे अनानुगामिक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने ही स्थान पर अवस्थित रहने वाला अवधिज्ञान अनानुगामी कहलाता है।  
**(३) सर्वभाव-**ज्योतिसिद्धान उत्पत्ति के समय अल्पविषय वाला हो और परिणामविशुद्धि के साथ प्रशस्त, प्रशस्ततर अच्युतसाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लिए बढ़े अर्थात् अधिकाधिक विषय वाला हो जाता है, वह 'वर्धमान' कहलाता है।  
**(४) हीयमान**—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो जाए, उसे हीयमान कहते हैं।  
**(५) प्रतिपाती**—इसका अर्थ पतन होना, गिरना या समाप्त हो जाना है। जगमगाते दीपक के वायु के झोके से एकाएक बुझ जाने के समान जो अवधिज्ञान सहसा लुप्त हो जाता है उसे प्रतिपाती कहते हैं। यह अवधिज्ञान जीवन के किसी भी क्षण में उत्पन्न और लुप्त भी हो सकता है।  
**(६) अप्रतिपाती**—जिस अवधिज्ञान का स्वभाव पतनशील नहीं है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं। केवल-ज्ञान होने पर भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान नहीं जाता, क्योंकि वहाँ अवधिज्ञानावरण का उदय नहीं होता, जिससे जाए; अपितु वह केवलज्ञान में समाविष्ट हो जाता है। केवलज्ञान के समक्ष उसकी सत्ता अकिञ्चित्कर है। जैसे कि सूर्य के समक्ष दीपक का प्रकाश। यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्तिम समय में होता है और उसके बाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अप्रतिपाती अवधिज्ञान को परमावधिज्ञान भी कहते हैं। हीयमान और प्रतिपाती में अन्तर यह है कि हीयमान का तो पूर्वपिक्षया धीरे-धीरे हास हो जाता है, जबकि प्रतिपाती दीपक की तरह एक ही क्षण में नष्ट हो जाता है।  
**(७) अवस्थित**—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में अवस्थित रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्तिपर्यन्त ठहरता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है।  
**(८) अनवस्थित**—जल की तरंग के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता

है, उसे अनवस्थित कहते हैं। ये दोनों भेद प्रायः प्रतिपाती और अप्रतिपाती के समान लक्षण वाले हैं, किन्तु नाममात्र का भेद होने से दोनों को अपेक्षाकृत पृथक्-पृथक् बताया है।<sup>१</sup>

**निष्कर्ष** नारकों तथा चारों जाति के देवों का अवधिज्ञान आनुगामिक, अप्रतिपाती और अवस्थित होता है। तिर्यञ्चयपचेन्द्रियों और मनुष्यों का अवधि पूर्वोक्त आठ ही प्रकार का होता है।<sup>२</sup>

॥ प्रश्नापना भगवती का तेतीसवाँ अवधिपद समाप्त ॥



१. कर्मग्रन्थ भाग १ (महारकेसरीव्याख्या) भा. १, पृ. ४८ से ५१ तक

२. पण्डिणासुतं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४१८

# चतुर्तीसाङ्गमं परिचारणापदं

## चौतीसवाँ परिचारणापद

### प्राथमिक

- ❖ प्रज्ञापनासूत्र का यह चौतीसवाँ परिचारणापद है। इसके बदले किसी-किसी प्रति में प्रविचारणा शब्द मिलता है, जो तत्त्वार्थसूत्र<sup>१</sup> के 'प्रवीचार' शब्द का मूल है। इसलिए परिचारणा अथवा प्रवीचार दोनों शब्द एकार्थक हैं।
- ❖ कठोपनिषद् में भी 'परिचार' शब्द का प्रयोग मिलता है।
- ❖ प्रवीचार या परिचारणा दोनों शब्दों का अर्थ मैथुनसेवन इन्द्रियों का कामभोग, कामकीड़ा, रति, विषयभोग आदि किया गया है।
- ❖ भारतीय साधकों ने विशेषतः जैनतीर्थकरों ने देवों को मनुष्य जितना महत्व नहीं दिया है। देव मनुष्यों से भोगविलास में, वैष्णविक सुखों में आगे बढ़े हुए अवश्य हैं तथा मनमाना रूप बनाने में दक्ष हैं, किन्तु मनुष्यजन्म को सबसे बढ़ाकर माना है, क्योंकि विषयों एवं कषायों से मुक्ति मनुष्यजन्म में ही, मनुष्ययोनि में ही सम्भव है। 'माणुसं खु दुल्लह'<sup>२</sup> कह कर भगवान् महावीर ने इसकी दुर्लभता का प्रतिपादन यत्र-तत्र किया है। यही कारण है कि मनुष्यजीवन की महत्ता बताने के लिए देवजीवन में विषयभोगों की उत्कृष्टता तथा नींग्रेवेयकों एवं पांच अनुत्तरविमानों के देवों के अतिरिक्त अन्य देवों में विषयभोगों की तीव्रता का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है। देवजीवन में उच्चकोटि के देवों को छोड़कर अन्य देव इन्द्रिय-विषयभोगों का त्याग कर ही नहीं सकते। उच्चकोटि के वैमानिक देव भले ही परिचाररहित और देवीरहित हों, किन्तु वे ब्रह्मचारी नहीं कहला सकते, क्योंकि उनमें चारित्र के परिणाम नहीं होते। जबकि मनुष्यजीवन में महाव्रती—सर्वविरतिसाधक बनकर मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी अथवा अणुव्रती बन कर मर्यादित ब्रह्मचारी हो सकता है।
- ❖ इस पद में देवों की परिचारणा का विविध पहलुओं से प्रतिपादन है।
- ❖ यद्यपि प्रारम्भ में आहारसम्बन्धी वक्तव्यता होने से सहसा यह प्रतोत होता है कि आहारसम्बन्धी यह वक्तव्यता आहारपद में देनी चाहिए थी, परन्तु गहराई से समीक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि आहारसम्बन्धी वक्तव्यता यहाँ सकारण है। इसका कारण यह है कि परिचारणा या मैथुनसेवन का मूल आधार शरीर है, शरीर से सम्बन्धित स्पर्श, रूप, शब्द, मन, अंगोपांग, इन्द्रियाँ, शारीरिक लावण्य, सौष्ठव, चापल्य या वर्ण आदि हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने सर्वप्रथम

१. 'कायप्रवीचारा या ऐशानात्, शेषा स्वर्णस्पृष्टशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोद्वयोः।'—तत्त्वार्थसूत्र ४।८, ९

प्रवीचारो-मैथुनोपसेवनम्। २—सर्वार्थसिद्धि ४।७

शरीरनिर्मण की प्रक्रिया से इस पद को प्रारम्भ किया है। चौबीस दण्डकवर्तीं जीव उत्पत्ति के प्रथम समय में आहार<sup>१</sup> लेने लगता है। तदनन्तर उसके शरीर की निष्पत्ति होती है। चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण होकर शरीर, इन्द्रियादि के रूप में परिणमन होता है। इन्द्रियों जब आहार से पुष्ट होती हैं तो उद्दीप्त होने पर जीव परिचारणा करता है, फिर विक्रिया करता है। देवों में पहले विक्रिया है फिर परिचारणा है। एकेन्द्रियों तथा दिक्कलेन्द्रियों में परिचारणा है, विक्रिया नहीं होती है। परिचारणा में शब्दादि सभी विषयों का उपभोग होने लगता है।

- ❖ आहार की चर्चा के पश्चात् आभोगनिर्वत्ति और अनाभोगनिर्वत्ति आहार का उल्लेख किया है। प्रस्तुत में आभोगनिर्वत्ति का अर्थ बृत्तिकार ने किया है—

‘मनःप्रणिधानपूर्वकमाहारं गृणहन्ति’ अर्थात् मनोयोगपूर्वक जो आहार ग्रहण किया जाए। अनाभोगनिर्वत्ति आहार का अर्थ है—इसके विपरीत जो आहार मनोयोगपूर्वक न किया गया हो। जैसे एकेन्द्रियों के मनोद्रव्यलब्धि पटु नहीं है, इसलिए उनके पटुतर आभोग (मनोयोग) नहीं होता।<sup>२</sup> परन्तु यहाँ रसनेन्द्रिय वाले प्राणी के मुख होने से उसे खाने की इच्छा होती है इसलिए एकेन्द्रिय में अनाभोगनिर्वत्ति आहार माना गया है। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी जीव आभोगनिर्वत्ति और अनाभोगनिर्वत्ति दोनों प्रकार का आहार लेते हैं।

- ❖ इसके पश्चात् ग्रहण किये हुए आहारपुद्गलों को कौन जीव जानता-देखता है, कौन नहीं? इसकी चर्चा है।

- ❖ ‘आहारशुद्धौ सर्वशुद्धिः’ इस सूक्ति के अनुसार आहार का अध्यवसाय के साथ सम्बन्ध होने से यहाँ आहार के बाद अध्यवसायस्थानों की चर्चा की गई है। चौबीस दण्डकों में प्रशस्त और अप्रशस्त अध्यवसायस्थान असंख्यात प्रकार के होते हैं। परिचारणा के साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का निकट सम्बन्ध है। यही कारण है कि षट्खण्डागम में कर्म के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के अध्यवसायस्थानों की विस्तृत चर्चा है।

- ❖ इसके पश्चात् चौबीस दण्डकों में सम्यक्त्वाभिगमी, मिथ्यात्वाभिगमी और सम्यग्-मिथ्यात्वाभिगमी की चर्चा है। परिचारणा के सन्दर्भ में यह प्रतिपादन किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का परिचारणा के परिणामों पर पृथक्-पृथक् असर पड़ता है। सम्यक्त्वी द्वारा की गई परिचारणा और मिथ्यात्वी द्वारा की गई परिचारणा के भावों में रात-दिन का अन्तर होगा, तदनुसार कर्मबन्ध में भी अन्तर पड़ेगा।<sup>३</sup>

- ❖ यहाँ तक परिचारणा की पृष्ठभूमि के रूप में पांच द्वार शास्त्रकार ने प्रतिपादित किये हैं—

१. पण्णवणासुत्त (प्रस्तावना) भा. २, पृ. १४५

२. (क) पण्णवणासुत्त भा. २ (प्रस्तावना-परिणिष्ट) पृ. १४५

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४५

(ग) पण्णवणासुत्त भा. २ (मू. पा. टि.) पृ. १४६

३. (क) पण्णवणासुत्त भा. २ (प्रस्तावना) पृ. १४६-१४७

(ख) पण्णवणासुत्त भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. १४६

(१) अनन्तराहारद्वार, (२) आहाराभोगद्वार, (३) पुद्गलज्ञानद्वार, (४) अध्यवसानद्वार और  
(५) सम्यक्त्वाभिगमद्वार ।

- ❖ हमें पश्चात् कठा परिचारकार शास्त्र होता है । परिचारणा को शास्त्रकार ने चार पहलुओं से प्रतिपादित किया है—(१) देवों के सम्बन्ध में परिचारणा की दृष्टि से निम्नलिखित तीन विकल्प सम्भव हैं, चौथा विकल्प सम्भव नहीं है । (१) सदेवीक सपरिचार देव (२) अदेवीक सपरिचार देव, (३) अदेवीक अपरिचार देव । कोई भी देव सदेवीक हो, साथ ही अपरिचार भी हो, ऐसा सम्भव नहीं । अतः उपर्युक्त तीन सम्भावित विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है— (१) भवनपति, बाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान वैमानिक में देवियाँ होती हैं । इसलिए इनमें कायिकपरिचारणा (देव-देवियों का मैथुनसेवन) होती है । (२) सनत्कुमारकल्प से अच्युतकल्प के वैमानिक देवों में अकेले देव ही होते हैं, देवियाँ नहीं होती, इसके लिए द्वितीय विकल्प है । उन विमानों में देवियाँ नहीं होतीं, किर भी परिचारणा होती है । (३) किन्तु नी ग्रेवेयक और अनुत्तरविमानों में देवी भी नहीं होती और वहाँ के देवों द्वारा परिचारणा भी नहीं होती । यह तीसरा विकल्प है ।
- ❖ जिस देवलोक में देवी नहीं होती, वहाँ परिचारणा कैसे होती है ? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—(१) सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में स्पर्श-परिचारणा, (२) ब्रह्मलोक और लान्तककल्प में रूप-परिचारणा, (३) महाशुक्र और सहस्रारकल्प में शब्द-परिचारणा, (४) आनन्द-प्राणत तथा आरण-अच्युतकल्प में मनःपरिचारणा होती है ।
- ❖ कायपरिचारणा तब होती है, जब देवों में स्वतः इच्छा—मन की उत्पत्ति अर्थात् काय-परिचारणा को इच्छा होती है और तब देवियाँ—अप्सराएँ मनोरम मनोज्ञ रूप तथा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करके उपस्थित होती हैं ।
- ❖ देवों की कायिक-परिचारणा मनुष्य के कायिक मैथुनसेवन के समान देवियों के साथ होती है । शास्त्रकार ने आगे यह भी बताया है कि देवों में शुक्र-पुद्गल होते हैं, वे उन देवियों में संक्रमण करके पञ्चेन्द्रियरूप में परिणत होते हैं तथा अप्सरा के रूप-लावण्यवर्द्धक भी होते हैं । यहाँ एक विशेष वस्तु ध्यान देने योग्य है कि देव के उस शुक्र से अप्सरा में गर्भाधान नहीं होता, क्योंकि देवों के वैक्रियशरीर होता है । उनकी उत्पत्ति गर्भ से नहीं, किन्तु श्रीपपातिक है ।<sup>१</sup>
- ❖ जहाँ स्पर्श, रूप एवं शब्द से परिचारणा होती है, उन देवलोकों में देवियाँ नहीं होतीं । किन्तु देवों को जब स्पर्शादि-परिचारणा की इच्छा होती है, तब अप्सराएँ (देवियाँ) विक्रिया करके स्वयं उपस्थित होती हैं । वे देवियाँ सहस्रारकल्प तक जाती हैं, यह आसतीर से ध्यान देने योग्य है । किर वे देव क्रमशः (यथायोग्य) स्पर्शादि से ही सन्तुष्टि—तृप्ति अनुभव करते हैं । यही उनकी परिचारणा है । स्पर्शादि से परिचारणा करने वाले देवों के भी शुक्र-विसर्जन होता है ।

१. (क) प्रजापता, मलयवृत्ति, पत्र ५४९

(ख) वही, केवलमेते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतवः । —पत्र ५५०-५५१

वृत्तिकार ने इस विषय में स्पष्टीकरण किया है कि देव-देवी का कायिक सम्पर्क न होने पर भी दिव्य-प्रभाव के कारण देवी में गुक्र-संकरण होता है और उसका परिणमन भी उन देवियों के रूप-लाक्षण्य में वृद्धि करने में होता है।

- ❖ आतप्र, प्राणत, आरण और अच्युतकल्प में केवल मन—(मन से) परिचारणा होती है। अतः उन-उन देवों की परिचारणा की इच्छा होने पर देवियाँ वही उपस्थित नहीं होतीं, किन्तु वे अपने स्थान में रह कर ही मनोरम शुभगार करती हैं, मनोहर रूप बनाती हैं और वे देव अपने स्थान पर रहते हुए ही मनःसञ्चुष्टि प्राप्त कर लेते हैं, साथ ही अपने स्थान में रही हुई वे देवियाँ भी दिव्य-प्रभाव से अधिकाधिक रूप-लाक्षण्यबती बन जाती हैं।<sup>१</sup>
- ❖ प्रस्तुत पद के अन्तिम सप्तम द्वार में पूर्वोक्त सभी परिचारणाओं की दृष्टि से देवों के अल्प-बहुत्व की विचारणा की गई है। उसमें उत्तरोत्तर वृद्धिगत क्रम इस प्रकार है,— (१) सबसे कम अपरिचारक देव हैं, (२) उनसे संख्यातगुणे अधिक मन से परिचारणा करने वाले देव हैं, (३) उनसे असंख्यातगुणा शब्द-परिचारक देव हैं, (४) उनकी अपेक्षा रूप-परिचारक देव असंख्यातगुणा हैं, (५) उनसे असंख्यातगुणा स्पर्श-परिचारक देव हैं और (६) इन सबसे कायपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं। उसमें उत्तरोत्तरवृद्धि का विपरीतक्रम परिचारणा में उत्तरोत्तर सुखवृद्धि की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ— सबसे कम सुख कायपरिचारणा में है और फिर उत्तरोत्तर सुखवृद्धि स्पर्श-रूप-शब्द और मन से परिचारणा में है। सबसे अधिक सुख अपरिचारणा वाले देवों में है। वृत्तिकार ने यह रहस्योद्घाटन किया है।<sup>२</sup>



१. (क) 'पुद्गल-संक्रमो दिव्यप्रभावादवसेयः।' —प्रजापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५१

(ख) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५

(ग) पण्डितासुतं, भा. २ (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४८

२. (क) पण्डितासुतं, भा. २ (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १६

(ख) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८७६

## चौतीसवें परिचारणापद्य

### चौतीसवें परिचारणापद

#### चौतीसवें पद का अर्थाधिकार-प्रकृष्टण

२०३२. अणंतराग्यआहारे १ आहाराभोगणाह य २।

पोगला नेव जाणति ३ अजभवसाणा य आहिषा ४॥ २२३॥

सम्मतस्त समिगमे ५ तसो परियारणा य बोद्धवा ६।

काए फासे रुदे सहे य मणे य अप्यबहु ७॥ २२४॥

[२०३२ अर्थाधिकारप्रकृष्टक-गायार्थ] (१) अनन्तरागत आहार, (२) आहाराभोगता आदि, (३) पुद्गलों को नहीं जानते, (४) अध्यवसान, (५) सम्यक्त्व का अभिगम, (६) काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मन से सम्बन्धित परिचारणा और (७) अन्त में काय आदि से परिचारणा करने वालों का अल्पबहुत्व, (इस प्रकार चौतीसवें पद का अर्थाधिकार) समझना चाहिए ॥ २२३-२२४॥

**विवेचन—** चौतीसवें पद में प्रतिपाद्य विषय—प्रस्तुत पद में दो संग्रहणीगायाओं द्वारा निम्नोक्त विषयों की प्रकृष्टणा की गई है—(१) सर्वप्रथम नारक आदि अनन्तरागत-आहारक हैं, इस विषय की प्रकृष्टणा है, (२) तत्पश्चात् उनका आहार आभोगजनित होता है या अनाभोगजनित ?, इत्यादि कथन है। (३) नारकादि जीव आहाररूप में गृहीत पुद्गलों को जानते-देखते हैं या नहीं ? इस विषय में प्रतिपादन है। (४) फिर नारकादि के अध्यवसाय के विषय में कथन है। (५) तत्पश्चात् नारकादि के सम्यक्त्वप्राप्ति का कथन है। (६) शब्दादि-विषयोपभोग की वक्तव्यता, तथा काय, स्पर्श रूप, शब्द और मन सम्बन्धी परिचारणा का निरूपण है। (७) अन्त में, काय आदि से परिचारणा करने वालों के अल्प-बहुत्व की वक्तव्यता है ।<sup>१</sup>

#### प्रथम अनन्तराहारद्वारा

२०३३. णेरइया णं भते ! अणंतराहारा तसो निष्वत्तणया ततो परियाद्यणया ततो परिणामणया ततो परियारणया ततो पच्छा विद्वक्षणया ?

हंता गोथमा ! णेरइया णं अणंतराहारा तसो निष्वत्तणया ततो परियाद्यणता तसो परिणामणया तसो परियारणया तसो पच्छा विद्वक्षणया ।

[२०३३ प्र.] भगवन् ! क्या नारक अनन्तराहारक होते हैं ?, उसके पश्चात् (उनके शरीर की) निष्पत्ति होती है ? फिर पयदानता, तदनन्तर परिणामना होती है ? तत्पश्चात् परिचारणा करते हैं ? और तब विकुर्वणा करते हैं ?

१. प्रजापता. (प्रमेयबोधिनी दीका) भा. ५, गृ. ८१७

[२०३३ उ.] हाँ, गोतम ! नैरयिक अनन्तराहारक होते हैं, फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है, तत्पश्चात् पर्यादानता और परिणामना होती है, तत्पश्चात् वे परिचारणा करते हैं और तब वे विकुर्वणा करते हैं।

२०३४. [१] असुरकुमारा एं भर्ते ! अणंतराहारा तओ णिष्वत्तणया तओ परियाइयणया तओ परिणामणया तओ विडवणया तओ पछा परियारणया ?

गोयमा ! असुरकुमारा अणंतराहारा तओ णिष्वत्तणया जाव तओ पछा परियारणया ।

[२०३४-१ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार भी अनन्तराहारक होते हैं ? फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है ? फिर वे क्रमशः पर्यादान, परिणामना करते हैं ? और तत्पश्चात् विकुर्वणा और फिर परिचारणा करते हैं ?

[२०३४-१ उ.] हाँ, गोतम ! असुरकुमार अनन्तराहारी होते हैं, फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है यावत् फिर वे परिचारणा करते हैं।

[२] एवं जाव थणियकुमारः ।

[२०३४-२] इसी प्रकार की वक्तव्यता स्तनितकुमारपर्यन्त कहनी चाहिए ।

२०३५. पुढिकाइया एं भर्ते ! अणंतराहारा तओ णिष्वत्तणया तओ परियाइयणया तओ परिणामणया य तओ परियारणया ततो विडवणया ?

हंसा गोयमा ! तं चेव जाव परियारणया, णो चेव एं विडवणया ।

[२०३५ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक अनन्तराहारक होते हैं ? फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है । तत्पश्चात् पर्यादानता, परिणामना, फिर परिचारणा और तब क्या विकुर्वणा होती है ?

[२०३५ उ.] हाँ, गोतम ! पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता यावत् परिचारणापर्यन्त पूर्ववत् कहनी चाहिए किन्तु वे विकुर्वणा नहीं करते ।

२०३६. एवं जाव चउरिदिया । णवरं वाउक्काइया पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा जेरइया (सु. २०३३) ।

[२०३६] इसी प्रकार चतुरिन्द्रियपर्यन्त कथन करना चाहिए । विशेष यह है कि वायुकायिक जीव, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्यों के विषय में (सु. २०३३ में उक्त) नैरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए ।

२०३७. वाणमंतर-जोतिसिय-वैमाणिया जहा असुरकुमारा (सु. २०३४) ।

[२०३७] वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमाणिकों की वक्तव्यता असुरकुमारों की वक्तव्यता के समान जाननी चाहिए ।

**विवेचन**—अनन्तराहार से विकुर्वणा तक के अभ की अर्थात्—नारक आदि चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के विषय में प्रथम द्वार में अनन्तराहार, निष्पत्ति, पर्यादानता, परिणामना, परिचारणा और विकुर्वणा के क्रम की चर्चा की गई है।<sup>१</sup>

**अनन्तराहारक आदि का विशेष अर्थ**—अनन्तराहारक—उत्पत्ति क्षेत्र में आने के समय ही आहार करने वाले। निर्वर्तना—शरीर की निष्पत्ति, पर्यादानता—आहार्य पुद्गलों को ग्रहण करना। परिणामना—गृहीत पुद्गलों को शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत करना। परिचारणा—यथायोग्य शब्दादि विषयों का उपभोग करना। विकुर्वणा—वैक्रियलिंग के सामर्थ्य से विक्रिया करना।

**प्रश्न का ग्राहय**—यह है कि नारक आदि अनन्तराहारक होते हैं? अर्थात्—वया उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचते ही समय के व्यवधान के बिना ही वे आहार करते हैं? तत्पञ्चात् वया उनके शरीर की निर्वर्तना-निष्पत्ति (रचना) होती है? शरीरनिष्पत्ति के पश्चात् वया अंग-प्रत्यंगों द्वारा लोमाहार आदि से पुद्गलों का पर्यादान—ग्रहण होता है? फिर उन गृहीत पुद्गलों का शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणमन होता है? परिणमन के बाद इन्द्रियां पुष्ट होने पर वया वे परिचारणा करते हैं? अर्थात्—यथायोग्य शब्दादि विषयों का उपभोग होता है? और फिर वया वे अपनी वैक्रियलिंग के सामर्थ्य से विक्रिया करते हैं?<sup>२</sup>

**उत्तर का सारांश**—भगवान् द्वारा इस क्रमबद्ध प्रक्रिया का 'ही' में उत्तर दिया गया है। किन्तु वायुकायिक को छोड़कर शेष एकेन्द्रियों एवं विकलेन्द्रियों में विकुर्वणा नहीं होती, क्योंकि ये वैक्रियलिंग प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरी विशेष बात यह है कि भवनवासी, वाणव्यातर, ज्योतिष्क और वैमानिकों, इन चारों प्रकार के देवों में विकुर्वणा पहले होती है, परिचारणा बाद में, जबकि नारकों आदि शेष जीवों में परिचारणा के पश्चात् विकुर्वणा का क्रम है। देवगणों का स्वभाव ही ऐसा है कि विशिष्ट शब्दादि के उपभोग की अभिलाषा होने पर पहले वे अभीष्ट वैक्रिय रूप बनाते हैं, तत्पञ्चात् शब्दादि का उपभोग करते हैं, किन्तु नेरियिक आदि जीव शब्दादि-उपभोग प्राप्त होने पर हर्षातिरेक से विशिष्टतम् शब्दादि के उपभोग की अभिलाषा के कारण विक्रिया करते हैं। इस कारण देवों की वक्तव्यता में पहले विक्रिया और बाद में परिचारणा का कथन किया गया है।

### चृतीय आहाराभोगताहार

२०३८. जेरह्याणं भस्ते ! आहारे कि आभोगणिव्यत्तिए आणाभोगणिव्यत्तिए ?  
जोयमा ! आभोगणिव्यत्तिए वि आणाभोगणिव्यत्तिए वि ।

[२०३८ प्र.] भगवन् ! नेरियिकों का आहार आभोग-निर्वत्तित होता है या अनाभोग-निर्वत्ति ?

१. पण्डितानुरूप भा. १ (मूलपाठ-दिप्पणयुक्त), पृ. ४१९

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८२१

(ख) प्रज्ञापना. मध्यवृत्ति, पत्र ४४४

३. वही, मध्यवृत्ति, पत्र ५४४

[२०३८ उ.] शौतम ! उनका आहार आभोग-निर्वर्तित भी होता है और अनाभोगनिर्वर्तित भी होता है।

२०३९. एवं असुरकुमाराणं ज्ञाव वेमाणिधाणं । गवर्ण एगिविद्याणं जो आभोगणिवत्तिए, अनाभोगणिवत्तिए ।

[२०३९] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर यावत् वैमानिकों तक (कहना चाहिए।) विशेष यह है कि एकेन्द्रिय जीवों का आहार आभोगनिर्वर्तित नहीं होता, किन्तु अनाभोगनिर्वर्तित होता है।

**विवेचन—**आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित का स्वरूप—यद्यपि आहारपद (२८ वाँ पद) में हन दोनों प्रकार के आहारों की चर्चा की गई है और आहार-सम्बन्धी यह चर्चा भी उसी पद में होनी चाहिए थी, परन्तु परिचारणा के पूर्व की प्रक्रिया बताने हेतु आभोग-अनाभोगनिर्वर्तितता की चर्चा की गई है। वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने मनःप्रणिधानपूर्वक ग्रहण किये जाने वाले आहार को आभोगनिर्वर्तित कहा है। इसलिए नारक आदि जब मनोयोगपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, तब वह आभोगनिर्वर्तित होता है, और जब वे मनोयोग के बिना ही आहार ग्रहण करते हैं, तब अनाभोगनिर्वर्तित आहार यानी लोमाहार करते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में अत्यन्त अल्प और अपटु मनोद्रव्यलब्धि होती है, इसलिए पटुतम मनोयोग न होने के कारण उनके आभोगनिर्वर्तित आहार नहीं होता।<sup>१</sup>

### तृतीय पुद्गलज्ञानद्वारा

२०४०. गोरक्षया णं भते ! जे पोरगले आहारसाए गेण्हंति ते कि जाणंति पासंति आहारेति ? उथाहु ण जाणंति ण पासंति आहारेति ?

गोयमा ! ण जाणंति ण पासंति, आहारेति ।

[२०४० प्र.] भगवन् ! नैरविक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उन्हें जानते हैं, देखते हैं और उनका आहार करते हैं, अथवा नहीं जानते, नहीं देखते हैं किन्तु आहार करते हैं ?

[२०४० उ.] शौतम ! वे न तो जानते हैं और न देखते हैं, किन्तु उनका आहार करते हैं ।

२०४१. एवं ज्ञाव तेइविद्या ।

[२०४१] इसी प्रकार (असुरकुमारादि से लेकर) श्रीन्द्रिय तक (कहना चाहिए।)

२०४२. चतुर्विद्याणं पुष्टा ।

गोयमा ! अत्येगद्वया ण जाणंति पासंति आहारेति, अत्येगद्वया ण जाणंति ण पासंति आहारेति ।

[२०४२ प्र.] चतुर्विद्यजीव क्या आहार के रूप में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को जानते-देखते हैं और आहार करते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है।

[ २०४२ उ.] गौतम ! कई चतुरन्दिय आहार्यमाण पुद्गलों को नहीं जानते, किन्तु देखते हैं और आहार करते हैं, कई चतुरन्दिय न तो जानते हैं, न देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं ।

२०४३. पंचेन्द्रियतिरिक्षज्ञोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगद्या जाणति पासंति आहारेति १ अत्थेगद्या जाणति ण पासंति आहारेति २ अत्थेगद्या ण जाणति पासंति आहारेति ३ अत्थेगद्या ण जाणति ण पासंति आहारेति ४ ।

[ २०४३ प्र.] पंचेन्द्रियतिर्यकों के विषय में (आहार सम्बन्धो) पूर्ववत् प्रश्न है ।

[ २०४३ उ.] गौतम ! कतिपय पंचेन्द्रियतिर्यक्ष (आहार्यमाण पुद्गलों को) जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं १, कतिपय जानते हैं, देखते नहीं और आहार करते हैं, २, कतिपय जानते नहीं, देखते हैं और आहार करते हैं ३, कई पंचेन्द्रियतिर्यक्ष न तो जानते हैं और न ही देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं ४ ।

२०४४. एवं भण्णसाण वि ।

[ २०४४] इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में (जानना चाहिए ।)

२०४५. वाणमंतर-ज्योतिसिग्रा जहा षेषद्या (सु. २०४०) ।

[ २०४५] वाणव्यन्तरों और ज्योतिष्कों का कथन नैरयिकों के समान (समझना चाहिए ।)

२०४६. वेमाणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगद्या जाणति पासंति आहारेति १ अत्थेगद्या ण जाणति ण पासंति आहारेति २ ।

से केण्टठेणं भंते ! एवं बुच्चति अत्थेगद्या जाणति पासंति आहारेति, अत्थेगद्या ण जाणति ण पासंति आहारेति ?

गोयमा ! वेमाणिया बुविहा पर्णता, सं जहा—माइमिच्छद्विद्वित्तव्यवणगा य अमाहसम्म-द्विद्वित्तव्यवणगा य, एवं जहा इंदियउद्देशए पढ़मे भणियं (सु. ९९८) तहा भाणियब्बं जाव से तेण्टठेणं गोयमा ! एवं बुच्चति० ।

[ २०४६ प्र.] भगवन् ! वैमानिक देव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उनको जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं ? अथवा वे न जानते हैं, न देखते हैं और आहार करते हैं ?

[ २०४६ उ.] गौतम ! (१) कई वैमानिक जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं और (२) कई न तो जानते हैं, न देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि (१) कई वैमानिक (आहार्यमाण पुद्गलों को) जानते-देखते हैं और आहार करते हैं और (२) कई वैमानिक उन्हें न तो जानते हैं, न देखते हैं किन्तु आहार करते हैं ?

[ उ.] गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं । यथा—मायीमिथ्यादृष्टि-उपपश्चक और अमायीसम्यग्दृष्टि-उपपश्चक । इस प्रकार जैसे (सु. ९९८ में उक्त) प्रथम इन्द्रिय-उद्देशक में कहा है, वैसे ही यहाँ सब—‘इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है’, यहाँ तक कहना चाहिए ।

**विवेचन—चौदोसदण्डकवर्तीं जीवों द्वारा आहार्यमाण पुद्गलों के जानने-देखने पर यहाँ विचार किया गया है। नीचे एक तालिका दी जा रही है, जिससे आसानी से जाना जा सके—**

१. नैरयिक	जानते हैं, देखते हैं, आहार करते हैं नहीं जानते, न देखते आहार करते हैं	—	—	—	—
भवनवासी	—	—	—	—	—
वाणव्यन्तर	—	—	—	—	—
ज्योतिष्क	—	—	—	—	—
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, शीन्द्रिय	—	—	—	—	—
२. चतुरिन्द्रिय जीव	(१) कई जानते, देखते, आहार करते हैं। (२) कई जानते हैं, देखते नहीं, आहार करते हैं।	—	—	—	—
३. पञ्चेन्द्रियतिंञ्च, मनुष्य	(१) कई जानते, देखते व आहार करते हैं। (२) कई जानते हैं, देखते नहीं, आहार करते हैं।	(३) कई जानते नहीं, देखते हैं और आहार करते हैं। (४) न देखते, न जानते और आहार करते हैं।	—	—	—
४. वैमानिक देव	(१) कई जानते, देखते और आहार (२) कई नहीं जानते, नहीं करते हैं।	—	—	—	—

**स्पष्टीकरण—नैरयिक और भवनवासीदेव एवं एकेन्द्रिय आदि जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, उन्हें नहीं जानते, क्योंकि उनका लोमाहार होने से अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण उनके जान का विषय नहीं होता। वे देखते भी नहीं। क्योंकि वह दर्शन का विषय नहीं होता। अज्ञानी होने के कारण द्वीन्द्रिय सम्यग्ज्ञान से रहित होते हैं, अतएव उन पुद्गलों को भी वे नहीं जानते-देखते। उनका मति-अज्ञान भी इतना अस्पष्ट होता है कि स्वयं जो प्रक्षेपाहार वे ग्रहण करते हैं, उसे भी नहीं जानते। चक्षुरिन्द्रिय का अभाव होने से वे उन पुद्गलों को देख भी नहीं सकते।<sup>१</sup>**

**चतुरिन्द्रिय के दो भंग—कोई चतुरिन्द्रिय आहार्यमाण पुद्गलों को जानते नहीं, किन्तु देखते हैं, क्योंकि उनके चक्षुरिन्द्रिय होती है और आहार करते हैं। किन्तु चतुरिन्द्रिय के अंखि होते हुए भी अनधिकार के कारण उनके चक्षु काम नहीं करते, अतः वे देख नहीं पाते, किन्तु आहार करते हैं। पञ्चेन्द्रियतिंञ्चों और मनुष्यों के विषय में आहार्य पुद्गलों को जानने-देखने के सम्बन्ध में चार भंग पाए जाते हैं।<sup>२</sup>**

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण्युक्त) भा. १, पृ. ४२०

२. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पञ्च ५४५

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी ईका सहित) भा. ५, पृ. ८३३-८३४

३. (क) वही, भा. ५, पृ. ८३५ से ८३९

(ख) प्रज्ञापना. मलयगिरिवृत्ति, पञ्च ५४५

**प्रक्षेपाहार को दृष्टि से चार भंग—**(१) कोई जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं। पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच और मनुष्य प्रक्षेपाहारी होते हैं, इसलिए इनमें जो सम्यज्ञानी होते हैं, वे वस्तु-स्वरूप के ज्ञाता होने के कारण प्रक्षेपाहार को जानते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय होने से देखते भी हैं और आहार करते हैं। यह प्रथम भंग हुआ। (२) कोई जानते हैं, देखते नहीं और आहार करते हैं। सम्यज्ञानी होने से कोई-कोई जानते तो हैं, किन्तु अन्धकार आदि के कारण नेत्र के काम न करने से देख नहीं पाते। यह द्वितीय भंग हुआ। (३) कोई जानते नहीं हैं, किन्तु देखते हैं और आहार करते हैं। कोई-कोई मिथ्याज्ञानी होने से जानते नहीं हैं, क्योंकि उनमें सम्यज्ञान नहीं होता, किन्तु वे चक्षुरिन्द्रिय के उपयोग से देखते हैं। यह तृतीय भंग हुआ। (४) कोई जानते भी नहीं, देखते भी नहीं, किन्तु आहार करते हैं। कोई मिथ्याज्ञानी होने से जानते नहीं तथा अन्धकार के कारण नेत्रों का व्याघात हो जाने के कारण देखते भी नहीं पर आहार करते हैं। यह चतुर्थ भंग हुआ।

**लोमाहार की अपेक्षा से चार भंग—**(१) कोई कोई तिर्यङ्गचपञ्चेन्द्रिय एवं मनुष्य विशिष्ट अवधिज्ञान के कारण लोमाहार को भी जानते हैं और विशिष्ट क्षयोपशम होने से इन्द्रियपटुता अति विशुद्ध होने के कारण देखते भी हैं और आहार करते हैं। (२) कोई कोई जानते तो हैं, किन्तु इन्द्रिय-पाठव का अभाव होने से देखते नहीं हैं। (३) कोई जानते नहीं, किन्तु इन्द्रियपाठवयुक्त होने के कारण देखते हैं। (४) कोई मिथ्याज्ञानी होने से अवधिज्ञान के अभाव में जानते नहीं और इन्द्रियपाठव का अभाव होने से देखते भी नहीं पर आहार करते हैं।

**बैमानिकों में दो भंग—**(१) कोई जानते नहीं, देखते भी नहीं, किन्तु आहार करते हैं। जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपत्रक होते हैं, वे नी ग्रेवेयक देवों तक पाये जाते हैं, वे अवधिज्ञान से मनोमय आहार के योग्य पुद्गलों को जानते नहीं हैं, क्योंकि उनका विभंगज्ञान उन पुद्गलों को जानने में समर्थ नहीं होता और इन्द्रियपटुता के अभाव के कारण चक्षुरिन्द्रिय से वे देख भी नहीं पाते। (२) जो बैमानिक देव अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपत्रक होते हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—अनन्तरोप-पत्रक और परम्परोपपत्रक। इन्हें क्रमशः प्रथमसमयोत्पन्न और अप्रथमसमयोत्पन्न भी कह सकते हैं। अनन्तरोपपत्रक नहीं जानते और नहीं देखते हैं, क्योंकि प्रथम समय में उत्पन्न होने के कारण उनके अवधिज्ञान का तथा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग नहीं होता। परम्परोपपत्रकों में भी जो अपरिप्त होते हैं, वे नहीं जानते और न ही देखते हैं, क्योंकि पर्याप्तियों की अपूर्णता के कारण उनके अवधिज्ञानानादि का उपयोग नहीं लग सकता। पर्याप्तिकों में भी जो अनुपयोगवान् होते हैं, वे नहीं जानते, न ही देखते हैं। जो उपयोग लगाते हैं, वे ही बैमानिक आहार के योग्य पुद्गलों को जानते-देखते हैं और आहार करते हैं। पाँच अनुत्तरविमानवासी देव अमायो-सम्यग्दृष्टि-उपपत्रक ही होते हैं और उनके क्रोधादि कषाय बहुत ही मन्दतर होते हैं, या वे उपशात्तकषायी होते हैं, इसलिए अमायी भी होते हैं।<sup>१</sup>

### चतुर्थ अध्यवसायहार

२०४७. ऐरहयाणं भते ! केवतिया इलाजवसाणा पण्णता ?

गोयमा ! असेक्षेत्रा इलाजवसाणा पण्णता ।

१. (क) प्रशापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४६

(ख) प्रशापना. (प्रभेयबोधिनी टीका) चा. ५, प. ८४१

ते यं भंते ! कि पसत्था अप्पसत्था ?

गोयमा ! पसत्था वि अप्पसत्था वि ।

[२०४७ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने अध्यवसान (अध्यवसाय) कहे गए हैं ?

[२०४७ उ.] गौतम ! उनके असंख्येय अध्यवसान कहे हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (नारकों के) वे अध्यवसान प्रशस्त होते हैं या अप्रशस्त होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे प्रशस्त भी होते हैं, अप्रशस्त भी होते हैं ।

२०४८. एवं जात्र वेमाणियाणं ।

[२०४८] इसी प्रकार वैमानिकों तक कथन जानना चाहिए ।

**विवेचन—**अध्यवसायद्वार के सम्बन्ध में यत्क्षित—चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के अध्यवसाय असंख्यात बताए हैं । वे अध्यवसाय प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों प्रकार के असंख्यात होते रहते हैं । प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् संख्यातीत अध्यवसाय लगातार होते हैं ।<sup>१</sup>

### पंचम सम्यक्त्वाभिगमद्वार

२०४९. एतेहया यं भंते ! कि सम्भत्ताभिगमी मिच्छत्ताभिगमी सम्मानिच्छत्ताभिगमी ?

गोयमा ! सम्मत्वाभिगमी वि मिच्छत्ताभिगमी वि सम्मानिच्छत्ताभिगमी वि ।

[२०४९] भगवन् ! नारक सम्यक्त्वाभिगमी होते हैं, अथवा मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं, या सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं ?

[२०४९ उ.] गौतम ! वे सम्यक्त्वाभिगमी भी हैं, मिथ्यात्वाभिगमी भी हैं और सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी भी होते हैं ।

२०५०. एवं जाव वेमाणिया । एवर एगिदिय-विलिदिया एतो सम्भत्ताभिगमी, मिच्छत्ताभिगमी, एतो सम्मानिच्छत्ताभिगमी ।

[२०५०] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए । विशेष यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय केवल मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं, वे न तो सम्यक्त्वाभिगमी होते हैं और न ही सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं ।

**विवेचन—**पंचमद्वार का आशय—प्रस्तुत द्वार में नारक आदि चौबीस दण्डकों के विषय में सम्यक्त्वाभिगमो (अर्थात् सम्यगदर्शन की प्राप्ति वाले), मिथ्यात्वाभिगमी (अर्थात् मिथ्यादृष्टि की प्राप्ति वाले) अथवा सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी (अर्थात् मिथ्यादृष्टि वाले) हैं, ये प्रश्न हैं ।

एकेन्द्रिय मिथ्याभिगमी ही क्यों ? — एकेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते, इसलिए वे केवल मिथ्यादृष्टि ही होते हैं । किसी-किसी विकलेन्द्रिय में सास्वादन सम्यक्त्व पाया जाता है, तथापि अल्पकालिक होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है, क्योंकि वे मिथ्यात्व की ओर ही अभिभुक्त होते हैं ।<sup>२</sup>

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४६

(ख) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८४१

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८४२

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति पत्र ५४६

## छठा परिचारणात्मक

२०५१. वेवा यं भंते ! किं सदेवीया सपरियारा सदेवीया अपरियारा अदेवीया सपरियारा अदेवीया अपरियारा ?

गोयमा ! अत्थेगद्या देवा सदेवीया सपरियारा १ अत्थेगद्या देवा अदेवीया सपरियारा २ अत्थेगद्या देवा अदेवीया अपरियारा ३ यो चेव यं देवा सदेवीया अपरियारा ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुद्धति अत्थेगद्या देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव जाव यो चेव यं देवा सदेवीया अपरियारा ?

गोयमा ! भवणवति-वाणमंतर-जोतिस-सोहम्मोत्साणेतु कर्पेसु देवा सदेवीया सपरियारा, सणंकुमार-माहिद-बंभलोग-लंतग-महाशुक्क-सहस्रार-आण्य-पाण्य-आरण-अच्छुएसु कर्पेसु देवा अदेवीया सपरियारा, गेषेजजङ्गुत्तरोववाइपदेवा अदेवीया अपरियारा, यो चेव यं देवा सदेवीया अपरियारा, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुद्धति अत्थेगद्या देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव जाव यो चेव यं देवा सदेवीया अपरियारा ।

[२०५१ प्र.] भगवन् ! (१) क्या देव देवियों सहित और सपरिचार (परिचारयुक्त) होते हैं ?, (२) अथवा वे देवियोंसहित एवं अपरिचार (परिचाररहित) होते हैं ?, (३) अथवा वे देवीरहित एवं परिचारयुक्त होते हैं ? या (४) देवीरहित एवं परिचाररहित होते हैं ?

[२०५१ उ.] गौतम ! (१) कई देव देवियोंसहित सपरिचार होते हैं, (२) कई देव देवियों के बिना सपरिचार होते हैं और (३) कई देव देवीरहित और परिचाररहित होते हैं, किन्तु कोई भी देव देवियों सहित अपरिचार (परिचाररहित) नहीं होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि कई देव देवीसहित सपरिचार होते हैं, इत्यादि यावत् देवियों सहित परन्तु अपरिचार नहीं होते ।

[उ.] गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म तथा ईशानकल्प के देव देवियों सहित और परिचारसहित होते हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र, अह्मलोक, लान्तक, महाशुक्क, सहस्रार, आनन्द, प्राणत, आरण और अन्युतकल्पों में देव, देवीरहित किन्तु परिचारसहित होते हैं । नौ ग्रंथेयक और पंच अनुत्तरौपपातिक देव देवीरहित और परिचाररहित होते हैं । किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता कि देव देवीसहित हों, साथ ही परिचार-रहित हों ।

२०५२. [१] कतिविहा यं भंते ! परियारणा पण्णता ?

गोयमा ! पञ्चविहा पण्णता । सं अहा—कायपरियारणा १ फालपरियारणा २ रुद्रपरियारणा ३ सहपरियारणा ४ मणपरियारणा ५ ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुद्धति पञ्चविहा परियारणा पण्णता तं अहा—कायपरियारणा जाव मणपरियारणा ?

गोपमा ! भवणवति-बाणमंतर-जोहस-सोहम्मीसाणेसु कप्येसु देवा कायपरियारगा, सञ्जकुमार-माहिदेसु कप्येसु देवा कासपरियारगा, बंभलोय-लंतगेसु कप्येसु देवा रुद्रपरियारगा, महासुकक-सहस्रारेसु देवा सदृपरियारगा, आण्य-पाण्य-आरण-अच्युतसु कप्येसु देवा मणपरियारगा, नेवेजजग्नुत्तरोववाइया देवा अपरियारगा, से तेष्टाठेणं गोपमा ! तं चेव जाव मणपरियारगा ।

[२०५२-१ प्र.] भगवन् ! परिचारणा कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०५२-१ उ.] गोतम ! परिचारणा पांच प्रकार की कही गई है । यथा—(१) कायपरिचारणा, (२) सर्वपरिचारणा, (३) रूपपरिचारणा, (४) शब्दपरिचारणा और (५) मनःपरिचारणा ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया कि परिचारणा पांच प्रकार की है, यथा—कायपरिचारणा यावत् मनःपरिचारणा ?

[उ.] गोतम ! भवनपति, बाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशानकल्प के देव कायपरिचारक होते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में देव स्पर्शपरिचारक होते हैं । अह्मलोक और लान्तककल्प में देव रूपपरिचारक होते हैं ।<sup>१</sup> महाशुक और सहस्रारककल्प में देव शब्द-परिचारक होते हैं । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प में देव मनःपरिचारक होते हैं । नौ भैवेयकों के और पांच अनुत्तरोपपातिक देव अपरिचारक होते हैं । हे गोतम ! इसी कारण से कहा गया है कि यावत् आनत आदि कल्पों के देव मनःपरिचारक होते हैं ।

[२] तस्य एं जे ते कायपरियारगा देवा तेसि यं इच्छामणे समुप्पठजह—इच्छामो यं अच्छराहि सद्गु कायपरियारणं करेत्तए, तए यं तेहि देवेहि एवं मणसोकाए समाणे खिप्पमेव ताङ्गो अच्छराओ ओरालाइं सिगाराइं मणुष्णाइं मणोहुराइं मणोरमाइं उत्तरवेऽचिव्याइं रुद्वाइं विड्वंति, विड्वित्ता तेसि देवाणं अंतियं पावुडमवंति, तए यं ते देवा ताहि अच्छराहि सद्गु कायपरियारणं करेति, से जहाणामए सीया पोगला सीयं पण्प सीयं चेव अंतिवत्तिता यं चिट्ठंति, उसिणा वा पोगला उसिणं पण्प उसिणं चेव अइवद्वत्ता यं चिट्ठंति एवामेव तेहि देवेहि ताहि अच्छराहि सद्गु कायपरियारणे कते समाणे से इच्छामणे खिप्पमेवावेति ।

अतिथ यं भते ! तेसि देवाणं सुषकपोगला ?

हंता अतिथ ।

ते यं भते तासि अच्छराणं कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?

मोयमा ! सोइवियसाए चकिछवियत्ताए घाणिदियत्ताए रसिदियत्ताए फासिदियत्ताए इहुत्ताए कंतत्ताए मणुष्णत्ताए मणामत्ताए सुभगत्ताए सोहम्म-कृष्ण-जोऽवग-गुणलायणत्ताए ते तासि भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

१. 'काय-प्रवीचारा वा ऐशानात् ।'

'योषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा हयोद्धयोः ।'

—तत्त्वार्थ, अ. ४, स. ८-९

[२०५२-२] उनमें से कायपरिचारक (शरीर से विषयभोग सेवन करने वाले) जो देव हैं, उनके मन में (ऐसी) इच्छा समुत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के शरीर से परिचार (मंथन) करना चाहते हैं। उन देवों द्वारा इस प्रकार मन से सोचने पर वे अप्सराएँ उदार आभूषणादियुक्त (शृंगार-युक्त), मनोज, मनोहर एवं मनोरम उत्तरवैक्षिय रूप विक्रिया से बनाती हैं। इस प्रकार विक्रिया करके वे उन देवों के पास आती हैं। तब वे देव उन अप्सराओं के साथ कायपरिचारणा (शरीर से मंथन-सेवन) करते हैं। जैसे शोत पुद्गल शोतयोनि वाले प्राणी को प्राप्त होकर अत्यन्त शोत-प्रत्यस्था को प्राप्त करके रहते हैं, अथवा उष्ण पुद्गल जैसे उष्णयोनि वाले प्राणी को पाकर अत्यन्त उष्णश्रदस्था को प्राप्त करके रहते हैं, उसी प्रकार उन देवों द्वारा अप्सराओं के साथ काया से परिचारणा करने पर उनका इच्छामन (इच्छाप्रधान मन) शीघ्र ही हट जाता—तृप्त हो जाता है।

[प्र.] भगवन् ! क्या उन देवों के शुक-पुद्गल होते हैं ?

[उ.] ही (गीतम् !) होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! उन अप्सराओं के लिए वे किस रूप में बार-बार परिणत होते हैं ?

[उ.] गीतम् ! श्रोत्रेन्द्रियरूप से चक्षुरिन्द्रियरूप से, ध्राणेन्द्रियरूप से, रसेन्द्रियरूप से, स्पर्शेन्द्रियरूप से, इष्टरूप से, कमनोयरूप से, मनोजरूप से, अतिशय मनोज (मनाम) रूप से, सुभगरूप से, सौभाग्यरूप-योद्ध-गुण-लावण्यरूप से वे उनके लिए बार-बार परिणत होते हैं।

[३] तथ एं जे से फासपरियारणा देवा तेसि एं इच्छामणे समुपज्जइ, एवं जहेव कायपरियारणा तहेव निरवसेसं भाणियडवं ।

[२०५२-३] उनमें जो स्पर्शपरिचारकदेव हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है, जिस प्रकार काया से परिचारणा करने वाले देवों की वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार (यही भी) समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए।

[४] तथ एं जे से रूपपरियारणा देवा तेसि एं इच्छामणे समुपज्जइ—इच्छामो एं अच्छराहि सद्दि रूपपरियारणं करेतए, तए एं तेहि देवेहि एवं मणसोकए समाजे तहेव जाव उत्तर-वेउचियाइं रूपाइं विड्वंति, विड्विता ऐणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, तेणामेव उवागच्छता तेसि देवार्ण अदूरसामते छिच्चा ताइं ओरासाइं जाव मणोरमाइं उत्तरवेउचियाइं रूपाइं उदर्दसेमाणीओ उवर्दसेमाणीओ खिट्ठंति, तए एं ते देवा ताहि अच्छराहि सद्दि रूपपरियारणं करेति, सेलं तं चेव जाव भूजा भूजो परिणमंति ।

[२०५२-४] उनमें जो रूपपरिचारक देव हैं, उनके मन में इच्छा समुत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के साथ रूपपरिचारणा करना चाहते हैं। उन देवों द्वारा मन से ऐसा विचार किये जाने पर (वे देविया) उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् उत्तरवैक्षिय रूप की विक्रिया करती है। विक्रिया करके जहीं वे देव होते हैं, वहीं जा पहुँचती हैं और किर उन देवों के न बहुत दूर और न बहुत पास स्थित होकर उन उदार यावत् मनोरम उत्तरवैक्षिय-कृत रूपों को दिखलाती-दिखलाती खड़ी रहती हैं। तत्पश्चात् वे देव उन अप्सराओं के साथ रूपपरिचारणा करते हैं। शेष सारा कथन उसी प्रकार (पूर्ववत्) वे बार-बार परिणत होते हैं, (यहीं तक कहना चाहिए ।)

[५] तत्यं जे ते सद्वपरियारगा देवा तेसि एं इच्छामणे समुष्पज्जति इच्छामो एं अच्छराहि सद्दि सद्वपरियारणं करेत्तए, तए एं लेहि देवेहि एवं मणसीकए समाणे सहेब जाव उत्तर-वेडविषयाद्यं रुवाईं विडवंति, विडवित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, केणामेव उवागच्छता तेसि देवाणं अद्वरसामंते ठिच्चा अणुतराईं उच्छावयाईं सद्वाईं समुदीरेमाणीओ समुदोरेमाणीओ चिट्ठंति, तए एं ते देवा तार्हि अच्छराहि सद्दि सद्वपरियारणं करेति, सेसं तं चेब जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

[२०५२-५] उनमें जो शब्दपरिचारक देव होते हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के साथ शब्दपरिचारणा करना चाहते हैं । उन देवों के द्वारा इस प्रकार मन में विचार करने पर उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् उत्तरवंक्रिय रूपों की प्रक्रिया करके जहाँ वे देव होते हैं, वहाँ देवियाँ जा पहुँचती हैं । फिर वे उन देवों के न अति दूर न अति निकट रुककर सर्वोत्कृष्ट उच्च-नीच शब्दों का बार-बार उच्चारण करती रहती हैं । इस प्रकार वे देव उन अप्सराओं के साथ शब्दपरिचारणा करते हैं । शेष लघु उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् बार-बार परिणत होते हैं ।

[६] तत्यं जे ते मणपरियारगा देवा तेसि इच्छामणे समुष्पज्जह—इच्छामो एं अच्छराहि सद्दि मणपरियारणं करेत्तए, तए एं लेहि देवेहि एवं मणसीकए समाणे खिष्पामेव ताओ अच्छराओ तत्यगताओ चेब समाणीओ अणुतराईं उच्छावयाईं मणाईं संपहारेमाणीओ संपहारेमाणीओ चिट्ठंति, तए एं ते देवा तार्हि अच्छराहि सद्दि मणपरियारणं करेति, सेसं यिरवसेसं तं चेब जाव भुज्जो २ परिणमंति ।

[२०५२-६] उनमें जो मनःपरिचारक देव होते हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है—हम अप्सराओं के साथ मन से परिचारणा करना चाहते हैं । तत्पश्चात् उन देवों के द्वारा मन में इस प्रकार अभिलाषा करने पर वे अप्सराएँ शीघ्र ही, वहीं (अपने स्थान पर) रही हुई उत्कृष्ट उच्च-नीच मन को धारण करती हुई रहती हैं । तत्पश्चात् वे देव उन अप्सराओं के साथ मन से परिचारणा करते हैं । शेष सब कथन पूर्ववत् यावत् बार-बार परिणत होते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए ।)

### सप्तम अल्पबहुत्वद्वार

२०५३. एतेसि एं भंते ! देवाणं कायपरियारगाणं जाव मणपरियारगाणं अपरियारगाण य कतरे कतरेहितो अप्पा वा ४ ?

गोवमा ! सध्वस्थोवा देवा अपरियारगा, मणपरियारगा संखेजगुणा, सद्वपरियारगा असंखेजगुणा, रुवपरियारगा असंखेजगुणा, फासपरियारगा असंखेजगुणा, कायपरियारगा असंखेजगुणा ।

[२०५३ प्र.] भगवन् ! इन कायपरिचारक यावत् मनःपरिचारक और अपरिचारक देवों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[२०५३ उ.] गोतम ! सबसे कम अपरिचारक देव हैं, उनसे संख्यात्मके मनःपरिचारक देव

हैं, उनसे असंख्यातगुणे शब्दपरिचारकदेव हैं, उनसे रूपपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे स्पर्शपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं और उनसे कायपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं।

### ॥ पर्णवणाए भगवतीए चउक्षीसङ्म पवियारणापयं समतं ॥

**द्विवेचन—** विविध पहलुओं से देव-परिचारणा पर विचार—प्रस्तुत 'परिचारणा' नामक छठे द्वार में मुख्यतया चार पहलुओं से देवों की परिचारणा पर विचार किया गया है—(१) देव देवियों सहित ही परिचार करते हैं या देवियों के बिना भी ? तथा क्या देव अपरिचारक भी होते हैं ? (२) परिचारणा के पांच प्रकार, कौन देव किस प्रकार की परिचारणा करते हैं और कौन देव अपरिचारक है ? (३) कायपरिचारणा से लेकर मनपरिचारणा तक का स्वरूप, तरीका और परिणाम । और अन्त में (४) परिचारक-अपरिचारक देवों का अल्पबहुत्व ।<sup>१</sup>

**निष्कर्ष—** (१) कोई भी देव ऐसा नहीं होता, जो देवियों के साथ रहते हुए परिचाररहित हो, अपितु कतिपय देव देवियों सहित परिचार बाले होते हैं, कई देव-देवियों के बिना भी परिचारवाले होते हैं। कुछ देव ऐसे भी होते हैं, जो देवियों और परिचार, दोनों से रहित होते हैं। (२) भवनवासी वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशानकल्प के वैमानिकदेव सदेवीक भी होते हैं और परिचारणा से युक्त भी । अर्थात् देवियाँ वहीं जन्म लेती हैं । अतः वे देव उन देवियों के साथ रहते हैं और परिचार भी करते हैं । किन्तु सनत्कुमार से लेकर अच्युतकल्प तक के वैमानिक देव देवियों के साथ नहीं रहते, क्योंकि इन देवलोकों में देवियों का जन्म नहीं होता । फिर भी वे परिचारणासहित होते हैं । वे देव सौधर्म और ईशानकल्प में उत्पन्न देवियों के साथ स्पर्श, रूप, शब्द और मन से परिचार करते हैं ।

भवनवासी से लेकर ईशानकल्प तक के देव शरीर से परिचारणा करते हैं, सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प के देव स्पर्श से, ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के देव रूप से, महाशुक्र और सहस्रारकल्प के देव शब्द से और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव मन से परिचारणा करते हैं । तो ग्रन्थेयक और पांच अनुत्तरविमानवासी देव देवियों और परिचारणा दोनों से रहित होते हैं ।<sup>२</sup>

उनका पुरुषवेद अतीव मन्द होता है । अतः वे मन से भी परिचारणा नहीं करते ।

इस पाठ से यह स्पष्ट है कि मैथुनसेवन केवल कायिक ही नहीं होता, वह स्पर्श, रूप, शब्द और मन से भी होता है ।

कायपरिचारक देव काय से परिचारणा मनुष्य नर-नारी की तरह करते हैं, अमुरकुपारों से लेकर ईशानकल्प तक के देव संक्लिष्ट उदयवाले पुरुषवेद के वशीभूत होकर मनुष्यों के सभान वैषयिक सुख में निमग्न होते हैं और उसी से उन्हें तृप्ति का अनुभव होता है अन्यथा तृप्ति-सन्तुष्टि नहीं होती । स्पर्शपरिचारक देव भोग को अभिलाषा से अपनी सभीपवर्तिनी देवियों के स्तन, मुख, नितम्ब आदि का स्पर्श करते हैं और इसी स्पर्शमात्र से उन्हें कायपरिचारणा को अपेक्षा अनन्तगुणित सुख एवं वेदोपशान्ति का अनुभव होता है । रूपपरिचारक देव देवियों के सौन्दर्य, कमनीय एवं काम के आधारभूत दिव्य-मादकरूप को देखने मात्र से कायपरिचारणा की अपेक्षा अनन्तगुणित वैषयिक

१. (क) प्रजापता. (प्रमेयवोधिनी टीका) भा. ५, प. ८४५ से ८५३

(ख) पर्णवणासुतं भा. १ (मूलपाठ टिप्पण), प. ४२१ से ४३ तक

२. प्रजापता. मलयवृत्ति, पत्र ४५९

सुखानुभव करते हैं। इतने से ही उनका वेद (काम) उपशान्त हो जाता है। ऋद्धपरिचारक देवों का विषयभोग शब्द से ही होता है। वे अपनी प्रिय देवांगनाओं के गीत, हास्य, भावभंगीयुक्त मधुर स्वर, आलाप एवं नूपुरों आदि की छवनि के श्रवणमात्र से कायिकपरिचारणा की अपेक्षा अनन्तगुणित सुखानुभव करते हैं, उसी से उनका वेद उपशान्त हो जाता है। मनःपरिचारक देवों का विषयभोग मन से ही हो जाता है। वे कामविकार उत्पन्न होने पर मन से अपनी मनोनीत देवांगनाओं की अभिलाषा करते हैं और उसी से उनकी तृप्ति ही जाती है। कायिकविषयभोग की अपेक्षा उन्हें मानसिकविषयभोग से अनन्तगुणा सुख प्राप्त होता है, वेद भी उपशान्त हो जाता है। अप्रबोधारक नौ ग्रैवेयकों तथा पांच अनुत्तरविमानों के देव अपरिचारक होते हैं। उनका मोहोदय या वेदोदय अत्यन्त मन्द होता है। अतः वे अपने प्रश्नमसुख में निपग्न रहते हैं। परन्तु चारित्र-परिणाम का अभाव होने से वे ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते।

**दो प्रकार :** (१) किस प्रकार की तृप्ति ?—देवों को अपने-अपने तथाकथित विषयभोग से उसी प्रकार की तृप्ति एवं भोगाभिलाषा निवृत्ति हो जाती है, जिस प्रकार शीतपुद्गल अपने सम्पर्क से शान्तस्वभाव वाले प्राणी के लिए अस्थन्त सुखदायक होते हैं अथवा उष्णपुद्गल उष्णस्वभाव वाले प्राणी को अत्यन्त सुखशान्ति के कारण होते हैं। इसी प्रकार की तृप्ति, सुखानुभृति अथवा विषयाभिलाषानिवृत्ति हो जाती है। आशय यह है कि उन-उन देवों को देवियों के शरीर, स्पर्श, रूप, शब्द और मनोनीत कल्पना का सम्पर्क पाकर आनन्ददायक होते हैं।

(२) कायिक भेष्युनसेवन से मनुष्यों की तरह शुक्रपुद्गलों का क्षरण होता है, परन्तु वह वैक्षियशरीरवर्ती होने से गभिधान का कारण नहीं होता, किन्तु देवियों के शरीर में उन शुक्रपुद्गलों के संकरण से सुख उत्पन्न होता है तथा वे शुक्रपुद्गल देवियों के लिए पांचों इन्द्रियों के रूप में तथा इष्ट, कान्त, मनोज, मनोहर रूप में तथा सौभाग्य, रूप, योवन, लावण्य के रूप में बारबार परिणत होते हैं।<sup>१</sup>

**कठिन शब्दार्थ—इच्छामणे—दो अर्थ—** (१) इच्छाप्रधान मन, (२) मन से इच्छा या अभिलाषा। मणसीकर समाजे—मन करने पर। उच्चारयाहः—दो अर्थ—(१) उच्च तथा नीच—ऋड़-खाबड़, (२) न्यूनाधिक—दिविधि। उवद्देसमाणीश्चो—दिखलाती हुई। समुदीरेमाणीश्चो—उच्चारण करती हुई। सिगाराइ—शूर्गारयुक्त। तस्थगताश्चो चेव समाणीश्चो—अपने-अपने विमानों में रही हुई। अणुत्तराइ—उच्चारयाइ मणाइ संपहरेमाणीश्चो चिट्ठीति—उत्कट सन्तोष उत्पन्न करनेवाले एवं विषय में आसक्त, अश्लील कामोदीपक मन करती हुई।<sup>२</sup>

॥ प्रकाशना भगवती का चौतीसर्व पद सम्पूर्ण ॥



१. प्रकाशना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८५२-८५४

२. वही भा. ५, पृ. ८५४ से ८६८ तक

# पंचातीसाङ्गमं वेदनापयं

## पंतीसवाँ वेदनापद

### प्राथमिक

- ◆ प्रजापतासूत्र के वेदनापद में संसारी जीवों को अनुभूत होने वाली सात प्रकार की वेदनाओं की चौबीस दण्डक के माध्यम से प्ररूपण की गई है।
- ◆ इस संसार में जब तक जीव छापस्थ है, तब तक विविध प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इन अनुभूतियों का मुख्य केन्द्र मन है। मन पर विविध प्रकार की वेदनाएँ अंकित होती रहती हैं। वह जिस रूप में जिस वेदना को गहण करता है, उसी रूप से उसकी प्रतिहवनि अनुभूति के रूप में व्यक्त होती है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने इस पद में विविध निमित्तों से मन पर अंकित होने वाली विविध वेदनाओं का दिशदर्शन कराया है।
- ◆ वेदना के विभिन्न अर्थ मिलते हैं। यथा—ज्ञान, सुख-दुःखादि का अनुभव, पीड़ा, दुःख, संताप, रोगादिजित वेदना, कर्मफल-भोग, साता-असातारूप अनुभव, उदयावलिकाप्रविष्ट कर्म का अनुभव आदि।<sup>१</sup>
- ◆ इन सभी अर्थों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत पद में वेदना-सम्बन्धी सात द्वार प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें विविध वेदनाओं का निरूपण है।
- ◆ वे सात द्वार इस प्रकार हैं—(१) प्रथम शीतवेदनाद्वार है, जिनमें शीत, उष्ण और शीतोष्ण वेदना का निरूपण है, (२) द्वितीय द्रव्यद्वार है, जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से होने वाली वेदना का निरूपण है, (३) तृतीय शरीरवेदनाद्वार है, जिसमें जारीरिक, मानसिक और शारीरिक-मानसिक वेदना का वर्णन है, (४) चतुर्थ सातवेदनाद्वार है, जिसमें साता असाता और साता-असाता वेदना का निरूपण है, (५) पंचम दुःखवेदनाद्वार है, इसमें दुःखरूप, सुखरूप तथा दुःख-सुखरूप वेदना का प्रतिपादन है, (६) छठा आध्युपगमिकी और शैपकमिकीवेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं का निरूपण है तथा (७) सातवाँ निदा-अनिदावेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं की प्ररूपण है।<sup>२</sup>
- ◆ इसके पश्चात् यह बताया गया है कि कौनसी वेदना किस-किस जीव को होती है और किसको नहीं? यथा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव मानसवेदना से रहित होते हैं। शेष सभी द्वारों में वेदना का अनुभव सभी संसारी जीवों को होता है।

१. (क) पाइपसद्महणवो, पृ. ७७६

(ख) अथि. रा. कोष, भा. ६, पृ. १४३६

२. पण्णरणासूत्र भा. १ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ४२४

- ❖ इन सात द्वारों में से छठे और सातवें द्वार की वेदनाएँ जानने योग्य हैं। जो वेदनाएँ सुखपूर्वक स्वेच्छा से स्वीकार की जाती हैं, यथा—केशलोचादि, वे आश्युपमिकी होती हैं, किन्तु जो वेदनाएँ कमों की उदीरणा द्वारा वेदनीयकर्म का उदय होने से होती हैं, वे अपक्रमिकी हैं। ये दोनों वेदनाएँ कमों से सम्बन्धित हैं। सातवें द्वार में निदा अनिदा दो प्रकार की वेदना का निरूपण है। जिसमें चित्त पूर्णरूप से लग जाए या जिसका ध्यान भलीभांति रखा जाए, उसे निदा और इसमें विपरीत स्थिति श्वेत चित्त विलक्षण न हो, उसे अनिदा वेदना कहते हैं। अथवा चित्तवती—सम्यक् विवेकवती वेदना निदा है, इसके विपरीत वेदना अनिदा है। वस्तुतः इन दोनों वेदनाओं का सम्बन्ध आगे चलकर क्रमशः संज्ञी और असंज्ञी से जोड़ा गया है। निदावेदना का फलितार्थ वृत्तिकार ने यह बताया है कि पूर्वभव-सम्बन्धी शुभाशुभ कर्म, वैरविरोध या विषयों का स्मरण करने में असंज्ञी जीव का चित्त कुशल नहीं होता। जबकि संज्ञीभूत जीव का चित्त कुशल होता है। इसलिए असंज्ञी जीवों के अनिदा और संज्ञी जीवों के निदावेदना अनुभव के आधार पर होती है। इसी तरह एक रहस्य यह भी बताया गया है कि जो जीव मायीमिथ्यादृष्टि है, वे अनिदा और अमायीसम्यग्दृष्टि निदा वेदना भोगते हैं।<sup>१</sup>
- ❖ कुछ स्पष्टीकरण—(१) शीतोष्ण वेदना का उपयोग (अनुभव) क्रमिक होता है अथवा युगप्त? इसका समाधान वृत्तिकार ने किया है कि वस्तुतः उपयोग क्रमिक ही है, परन्तु शीत्र संचार के कारण अनुभव करके में क्रम प्रतीत नहीं होता है। (२) इसी प्रकार शीतोष्ण आदि वेदना समझनी चाहिए। इसी प्रकार अदुःखा-असुखा वेदना को सुखसंज्ञा अथवा दुःखसंज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी तरह शारीरिक-मानसिक संज्ञा, साता-असाता, सुख-दुःख, इत्यादि के विषय में समझ लेना चाहिए। (३) साता असाता और सुख-दुःख इन दोनों में क्या अन्तर है? इसका उत्तर वृत्तिकार ने यह दिया है कि वेदनीयकर्म के पुद्गलों का क्रमप्राप्त उदय होने से जो वेदना हो, वह साता-असाता है। परन्तु जब दूसरा कोई उदीरणा करे तथा उससे साता-असाता का अनुभव हो, उसे सुख-दुःख कहते हैं।<sup>२</sup>
- ❖ षट्खण्डागम में 'बज्जमाणिया वेयणा, उदिणा वेयणा, उवर्सता वेयणा', इन तीनों का उल्लेख है।



१. (क) पृष्ठवणासुत, भा २ (प्रस्तावना), पृ. १५०  
 (ब) प्रजापना, भ. वृत्ति पत्र ४५७

# पंचातीसाइमं तोयाणापदं

## पंतीसवें वेदनापद

### पंतीसवें पद का अर्थाधिकार प्ररूपण

२०५४. शीता १ य द्रव्य २ सरीर ३ सात ४ तह वेदना हृषति बुखा ५ ।

आध्युत्तमोद्वक्षमिया ६ निदा य अणिवा य ७ णायव्वा ॥ २२५ ॥

सातमसातं सवे सुहं च बुखं अदुखमसुहं च ।

माणसरहियं विगलिदिया उ सेसा दुविहमेव ॥ २२६ ॥

[ २०५४ संग्रहणी-गाथार्थ ] (पंतीसवें वेदनापद के) सात द्वार (इस प्रकार) समझने चाहिए—  
(१) शीत, (२) द्रव्य, (३) शरीर, (४) साता, (५) दुःखरूप वेदना, (६) आध्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदना तथा (७) निदा और अनिदा वेदना ॥ २२५ ॥

साता और असाता वेदना सभी जीव (वेदते हैं ।) इसी प्रकार सुख, दुःख और अदुःख-असुख वेदना भी (सभी जीव वेदते हैं ।) विकलेन्द्रिय मानस वेदना से रहित हैं । शेष सभी जीव दोनों प्रकार की वेदना वेदते हैं ॥ २२६ ॥

**बिवेचन—सात द्वारों का स्पष्टीकरण—**(१) सर्वप्रथम शीतवेदनाद्वार है, च शब्द से उष्णवेदना और शीतोष्णवेदना भी कही जाएगी, (२) द्वितीय द्रव्यद्वार है, जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वेदना का निरूपण है । (३) तृतीय शरीरवेदनाद्वार है, जिसमें शारीरिक, मानसिक और शारीर-मानसिक वेदना का वर्णन है, (४) चतुर्थ सातावेदनाद्वार है, जिसमें साता, असाता और साता-असाता उभयरूप वेदना का निरूपण है, (५) पंचम दुःखवेदनाद्वार है, जिसमें दुःखरूप, सुखरूप और अदुःख-असुखरूप वेदना का प्रतिपादन है, (६) छठा आध्युपगमिकी और औपक्रमिकीवेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों वेदनाओं का वर्णन है और (७) सप्तम निदा-अनिदावेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं के सम्बन्ध में प्ररूपण है ।<sup>१</sup>

**कौन-सा जीव किस-किस वेदना से युक्त ?**—द्वितीय गाथा में बताया है कि सभी जीव साता-असाता एवं साता-असाता वेदना से युक्त हैं । इसी प्रकार सभी जीव सुखरूप, दुःखरूप या अदुःख-असुखरूप वेदना वेदते हैं । विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव मानसवेदना से रहित (मनोहीन) वेदना वेदते हैं । शेष जीव दोनों प्रकार की अर्थात्—शारीरिक और मानसिक वेदना वेदते (भोगते) हैं ।<sup>२</sup>

१. (क) प्रज्ञापता. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८७४-८७५

(ख) पण्णवणाल्युत्तं भा. १. (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४२४

२. (क) वही, पृ. २२४

(ख) प्रज्ञापता (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ८७३-७४

## प्रथम : शीतादि-वेदात्मार

२०५५. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णता ?

गोयमा ! तिविहा वेदणा पण्णता । तं जहा—सीता १ उसिषा २ सीतोसिषा ३ ।

[२०५५ प्र.] भगवन् । वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०५५ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही है यथा—(१) शीतवेदना, (२) उष्णवेदना और (३) शीतोष्णवेदना ।

२०५६. णेरइया णं भंते ! कि सीतं वेदणं वेदेति, उसिणं वेदणं वेदेति, सीतोसिणं वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेति उसिणं पि वेदणं वेदेति, जो सीतोसिणं वेदणं वेदेति ।

[२०५६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं, उष्णवेदना वेदते हैं, या शीतोष्णवेदना वेदते हैं ?

[२०५६ उ.] गौतम ! (नैरयिक) शीतवेदना भी वेदते हैं और उष्णवेदना भी वेदते हैं, शीतोष्णवेदना नहीं वेदते ।

२०५७. [१] केई एककेककीए पुढ़वीए वेदणामो मर्णसि —

[२०५७-१] कोई-कोई प्रत्येक (नरक-) पृथ्वी में वेदनाओं के विषय में कहते हैं—

[२] रथण्ट्यभापुडविणेरइया णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! जो सीयं वेदणं वेदेति, उसिणं वेदणं वेदेति, जो सीतोसिणं वेदणं वेदेति । एवं जाव वालुय्यभापुडविणेरइया ।

[२०५७-२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है ।

[२०५७-२ उ.] गौतम ! वे शीतवेदना नहीं वेदते और न शीतोष्णवेदना वेदते हैं, किन्तु उष्णवेदना वेदते हैं। इसी प्रकार वालुकाप्रभा (तृतीय नरकपृथ्वी) के नैरयिकों तक कहना चाहिए ।

[३] पंक्त्यभापुडविणेरइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेति, उसिणं पि वेदणं वेदेति, जो सीओसिणं वेदणं वेदेति । से बहुयतरागा जे उसिणं वेदणं वेदेति, से थोकतरागा जे सीयं वेदणं वेदेति ।

[२०५७-३ प्र.] भगवन् ! पंक्तप्रभापृथ्वी के नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न है ।

[२०५७-३ उ.] गौतम ! वे शीतवेदना भी वेदते हैं और उष्णवेदना भी वेदते हैं, किन्तु शीतोष्णवेदना नहीं वेदते । वे नारक बहुत हैं जो उष्णवेदना वेदते हैं और वे नारक अल्प हैं जो शीतवेदना वेदते हैं ।

[४] धूमप्रभाए एवं सेव दुषिष्ठा । नवर्ते ते उह्यतरागा चो सीयं वेदणं वेदेति, ते शोवतरागा जे उस्तिणं वेयणं वेदेति ।

[२०५७-४] धूमप्रभापृथ्वी के (नैरयिकों) में भी कोनों प्रकार की वेदना कहनी चाहिए । विशेष यह है कि इनमें वे नारक बहुत हैं, जो शीतवेदना वेदते हैं तथा वे नारक अल्प हैं, जो उष्णवेदना वेदते हैं ।

[५] तमाए तमतमाए य सीयं वेदणं वेदेति, जो उस्तिणं वेदणं वेदेति, जो सीतोस्तिणं वेदणं वेदेति ।

[२०५७-५] तमा और तमस्तमा पृथ्वी के नारक शीतवेदना वेदते हैं, किन्तु उष्णवेदना तथा शीतोष्णवेदना नहीं वेदते ।

#### २०५८. असुरकुमाराण्डं पुच्छा ।

गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेति, उस्तिणं पि वेदणं वेदेति, सीतोस्तिणं पि वेदणं वेदेति ।

[२०५८ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के विषय में (पूर्ववत्) वेदना वेदन सम्बन्धी प्रश्न है ।

[२०५८ उ.] गौतम ! वे शीतवेदना भी वेदते हैं, उष्णवेदना भी वेदते हैं और शीतोष्णवेदना भी वेदते हैं ।

#### २०५९. एवं आष वेमाणिया ।

[२०५९] इसी प्रकार वैमानिकों तक (कहना चाहिए) ।

विवेचन—शीतादि त्रिविधि वेदना और उनका अनुभव—वेदना एक प्रकार की अनुभूति है, वह तीन प्रकार की है—शीत, उष्ण और शीतोष्ण । शीतल पुद्गलों के सम्पर्क से होने वाली वेदना शीत-वेदना, उष्ण पुद्गलों के संयोग से होने वाली वेदना उष्णवेदना और शीतोष्ण पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होने वाली वेदना शीतोष्णवेदना कहलाती है ।<sup>१</sup> सामान्यतया नारक शीत या उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं किन्तु शीतोष्णवेदना का अनुभव नहीं करते । प्रारम्भ की तीन नरकपृथिव्यों के नारक उष्णवेदना वेदते हैं, क्योंकि उनके आधारभूत नारकावास खैर के अंगारों के समान अत्यन्त लाल, अतिसंतप्त एवं अत्यन्त उष्ण पुद्गलों के बने हुए हैं । चौथी पंकप्रभापृथ्वी में कोई नारक उष्ण-वेदना और कोई शीतवेदना का अनुभव करते हैं, क्योंकि वहाँ के कोई नारकावास शीत और कोई उष्ण होते हैं । इसलिए वहाँ उष्णवेदना अनुभव करने वाले नारक अत्यधिक हैं, क्योंकि उष्णवेदना बहुत अधिक नारकावासों में होती है, जबकि शीतवेदना वाले नारक अत्यल्प हैं, क्योंकि थोड़-से नारकावासों में ही शीतवेदना होती है । धूमप्रभापृथ्वी में कोई नारक शीतवेदना और कोई उष्णवेदना का अनुभव करते हैं, किन्तु वहाँ शीतवेदना वाले नारक अत्यधिक हैं और उष्णवेदना वाले नारक स्वल्प हैं, क्योंकि वहाँ अत्यधिक नारकावासों में शीतवेदना ही होती है, उष्णवेदना वाले नारकावास बहुत ही कम हैं । छठी और सातवीं नरकपृथिव्यों में नारक शीतवेदना का ही अनुभव करते हैं, क्योंकि वहाँ के सभी नारक उष्ण स्वभाव वाले हैं और नारकावास हैं अत्यधिक शीतल ।

१. (क) प्रजापना. (प्रमेयबोधिमी टीका), भा. ५; पृ. ८८५-८८६

(ख) प्रजापना. भ. बृत्ति, भ. रा. कोष, भा. ६; पृ. १४३८-१९

असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक शीत आदि तीनों ही प्रकार की वेदना वेदते हैं। तात्पर्य यह है कि असुरकुमार आदि भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क अथवा वैमानिक देव शीतल जल से पूर्ण महाहृद आदि में जब जलकीड़ा आदि करते हैं, तब शीतवेदना वेदते हैं। जब कोई महस्त्रिक देव क्रोध के बशीभूत होकर अत्यन्त विकराल भ्रुकुटि चढ़ा लेता है या मानो प्रज्ञवलिन करता हुआ देख कर मन ही मन संतप्त होता है, तब उष्णवेदना वेदता है। जैसे ईशानेन्द्र ने बलिचंचा राजधानी के निवासी असुरकुमारों को संतप्त कर दिया था अथवा उष्ण पुद्गलों के सम्पर्क से भी वे उष्णवेदना वेदते हैं। जब शरीर के विभिन्न अवयवों में एक साथ शीत और उष्ण पुद्गलों का सम्पर्क होता है, तब वे शीतोष्णवेदना वेदते हैं। पृथ्वीकायिकों से लेकर मनुष्य पर्यन्त बर्फ आदि पड़ने पर शीतवेदना वेदते हैं, अग्नि आदि का सम्पर्क होने पर उष्णवेदना वेदते हैं तथा विभिन्न अवयवों में दोनों प्रकार के पुद्गलों का संयोग होने पर शीतोष्णवेदना वेदते हैं।<sup>१</sup>

## द्वितीय द्रव्यादि-वेदनाहार

२०६०. कतिविश्वा णं भंते ! वेदणा पण्णता ?

गोपमा ! चउचिवहा वेदणा पण्णता । तं जहा—द्रव्यश्चो खेतश्चो कालश्चो भावतो ।

[२०६० प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६० उ.] गौतम ! वेदना चार प्रकार की कही गई है, यथा—(१) द्रव्यतः, (२) क्षेत्रतः, (३) कालतः और (४) भावतः (वेदना) ।

२०६१. ऐरहया णं भंते ! कि द्रव्यश्चो वेदणं वेदेति जाव कि भावश्चो वेदणं वेदेति ?

गोपमा ! द्रव्यश्चो वि वेदणं वेदेति जाव भावश्चो वि वेदणं वेदेति ।

[२०६१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्या द्रव्यतः वेदना वेदते हैं यावत् भावतः वेदना वेदते हैं ?

[२०६१ उ.] गौतम ! वे द्रव्य से भी वेदना वेदते हैं, क्षेत्र से भी वेदते हैं यावत् भाव से भी वेदना वेदते हैं ।

२०६२. एवं जाव वेमाणिया ।

[२०६२] इसी प्रकार का कथन वैमानिकों पर्यन्त करना चाहिए ।

षिवेष्वन—चतुर्विध वेदना का तात्पर्य—वेदना की उत्पत्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री के निमित्त से होती है, इसलिए द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से चार प्रकार से वेदना कही है। किसी पुद्गल आदि द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाली वेदना द्रव्यवेदना कहलाती है। नारक आदि उपरातक्षेत्र आदि से होने वाली वेदना क्षेत्रवेदना कही जाती है। ऋतु, दिन-रात आदि काल के संयोग से होने वाली वेदना कालवेदना कहलाती है और वेदनीयकर्म के उदयरूप प्रधान कारण से उत्पन्न होने वाली वेदना भाववेदना कहलाती है। चौबीस ही दण्डकों के जीव पूर्वोक्त चारों प्रकार से वेदना का अनुभव करते हैं।<sup>२</sup>

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ८८६-८८७

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८८८

(ब) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, प्रभि. रो. कोष. भाग ६, पृ. १४३९

### तृतीय शारीरादि-वेदनाद्वारा

२०६३. कतिविहा णं भंते ! वेयणा पण्णता ?

गोयमा ! तिविहा वेयणा पण्णता । तं जहा—सारीरा १ माणसा २ सारीरमाणसा ३ ।

[२०६३ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६३ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही गई है । प्रथा—१. शारीरिक, २. मानसिक और ३. शारीरिक-मानसिक ।

२०६४. ऐरहया णं भंते ! कि सारीर वेदण वेदेति माणसं वेदण वेदेति सारीरमाणसं वेदण वेदेति ?

गोयमा ! सारीर पि वेयणं वेदेति, माणसं पि वेदणं वेदेति, सारीरमाणसं पि वेदणं वेदेति ।

[२०६४ प्र.] भगवन् ! नेरयिक शारीरिकवेदना वेदते हैं, मानसिकवेदना वेदते हैं प्रथा शारीरिक-मानसिकवेदना वेदते हैं ?

[२०६४ उ.] गौतम ! वे शारीरिकवेदना भी वेदते हैं, मानसिकवेदना भी वेदते हैं और शारीरिक-मानसिकवेदना भी वेदते हैं ।

२०६५. एवं जाव वेमाणिया । एवं एर्गिडिय-बिगलिविया सारीर वेदणं वेदेति, जो माणसं वेदणं वेदेति जो सारीरमाणसं वेयणं वेदेति ।

[२०६५] इसी प्रकार वैमानिकों पर्यन्त कहना चाहिए । विशेष—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय केवल शारीरिकवेदना ही वेदते हैं, किन्तु मानसिकवेदना या शारीरिक-मानसिकवेदना नहीं वेदते ।

विवेशन—प्रकारान्तर से त्रिविष्ट वेदना का स्वरूप—शरीर में होने वाली वेदना शारीरिक-वेदना, मन में होने वाली वेदना मानसिक तथा शारीर और मन दोनों में होने वाली वेदना शारीरिक मानसिकवेदना कहलाती है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर शेष समस्त दण्डकवर्ती जीवों से तीनों ही प्रकार की वेदना पाई जाती है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में मानसिक और शारीर-मानसवेदना नहीं होती ।<sup>१</sup>

### चतुर्थ सातादि-वेदनाद्वारा

२०६६. कतिविहा णं भंते ! वेयणा पण्णता ?

गोयमा ! तिविहा वेयणा पण्णता । तं जहा—साया १ असाया २ साथासाया ३ ।

[२०६६ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६६ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही गई है, यथा—(१) साता, (२) असाता और (३) साता-असाता ।

१. (क) प्रज्ञापना, (प्रभेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८८९

(ख) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अधि. रा. कोष, भा. ६, पृ. १४४०

२०६७. गेरइया यं भंते ! कि सायं वेदणं वेदेति असायं वेदणं वेदेति सायासायं वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! तिविहुं पि वेयणं वेदेति ।

[२०६७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्या सातावेदना वेदते हैं, असातावेदना वेदते हैं, अथवा साता-असातावेदना वेदते हैं ?

[२०६७ उ.] गौतम ! तीनों प्रकार की वेदना वेदते हैं ।

२०६८. एवं सब्बजीवा जाव वेमाणिया ।

[२०६८] इसी प्रकार वैमानिकों तक सभी जीवों की वेदना के विषय में (जानना चाहिए ।)

विवेचन सातादि श्रिविध वेदना—सुखरूप वेदना को सातावेदना, दुःखरूप वेदना को असातावेदना और सुख-दुःखरूप वेदना को उभयरूप वेदना कहते हैं । नारक से वैमानिकदेव पर्यन्त तीनों प्रकार की वेदना वेदते हैं । नारकजीव तीर्थकर के जन्मदिवस आदि के अवसर पर साता और अन्य समयों में असाता वेदते हैं । पूर्वसांगतिक देवों या असुरों के मधुर-मधुर आलापरूपी अमृत की वर्षा होने पर मन में सातावेदना और क्षेत्र के प्रभाव से, असुर के कठोर व्यवहार से असातावेदना होती है । इन दोनों की अपेक्षा से साता-असातारूप वेदना होती है । सभी जीवों को श्रिविध वेदना होती है । पृथ्वीकार्यिक आदि को जब कोई उपद्रव नहीं होता, तब वे सातावेदना का अनुभव करते हैं । उपद्रव होने पर असाता का तथा जब एकदेश से उपद्रव होता है, तब साता-असाता—उभयरूप वेदना का अनुभव होता है । देवों को सुखानुभव के समय सातावेदना, च्यवनादि के समय असातावेदना तथा दूसरे देव के वंशव को देखकर मात्सर्य होने से असातावेदना, साथ ही अपनी प्रिय देवी के साथ मधुरालापादि करते समय सातावेदना; यों दोनों प्रकार की वेदना होती है ।<sup>१</sup>

### पंचम दुःखादि-वेदनाद्वारा

२०६९. कतिविहा यं भंते ! वेयणा पण्णता ?

गोयमा ! तिविहा वेयणा पण्णता । तं जहा—दुःखा सुहा अदुःखसुहा ।

[२०६९ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६९ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही गई है, यथा—(१) सुखा, (२) दुःखा और (३) अदुःख-सुखा ।

२०७०. गेरइया यं भंते ! कि दुःखं वेदणं वेदेति० पुच्छा ।

गोयमा ! दुःखं पि वेदणं वेदेति, सुहं पि वेदणं वेदेति, अदुःखसुहं पि वेदणं वेदेति ।

[२०७० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव दुःखवेदना वेदते हैं, सुखवेदना वेदते हैं अथवा अदुःख-असुखवेदना वेदते हैं ?

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग. ५, पृ. ८९३-८९४

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५६

[ २०७० उ.] गौतम ! वे दुःखवेदना भी वेदते हैं, सुखवेदना भी वेदते हैं और अदुःख-असुखवेदना भी वेदते हैं ।

२०७१. एवं जात्व वेमाणिया ।

[ २०७१ ] इसी प्रकार वैमानिकों पर्यन्त कहना चाहिए ।

विवेचन—दुःखादि विविध वेदना का स्वरूप—जिसमें दुःख का वेदन हो वह दुःखा, जिसमें सुख का वेदन हो वह सुखा और जिसमें सुख भी विद्यमान हो और जिसे दुःखरूप भी न कहा जा सके, ऐसी वेदना अदुःख-असुखरूपा कहलाती है ।

साता, असाता और सुख, दुःख में अन्तर—स्वयं उदय में आए हुए वेदनीयकर्म के कारण जो अनुकूल और प्रतिकूल वेदन होता है, उसे क्रमशः साता और असाता कहते हैं तथा दूसरे के द्वारा उदीरित (उत्पादित) साता और असाता को सुख और दुःख कहते हैं, यही इन दोनों में अन्तर है । सभी जीव इन तीनों प्रकार की वेदना को वेदते हैं ।

छठा आध्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदनाहार

२०७२. कृतिविहा णं भंते । वेदणा पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा वेदणा पण्णता । तं जहा—अब्भोवगमिया य ओवकमिया य ।

[ २०७२ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[ २०७२ उ.] गौतम ! वेदना दो प्रकार की कही गई है । यथा—आध्युपगमिकी और औपक्रमिकी ।

२०७३. णेरह्या णं भंते ! कि अब्भोवगमियं वेदणं वेदेति ओवकमियं वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! णो अब्भोवगमियं वेदणं वेदेति, ओवकमियं वेदणं वेदेति ।

[ २०७३. प्र.] भगवन् ! तेरयिक आध्युपगमिकी वेदना वेदते हैं या औपक्रमिकी वेदना वेदते हैं ?

[ २०७३ उ.] गौतम ! वे आध्युपगमिकी वेदना नहीं वेदते, औपक्रमिकी वेदना वेदते हैं ।

२०७४. एवं जात्व चउर्निविया ।

[ २०७४ ] इसी प्रकार चतुर्निद्रियों तक कहना चाहिए ।

२०७५. पञ्चेवियतिरिक्खज्ञोणिया मणूसा य दुविहं पि वेदणं वेदेति ।

[ २०७५ ] पञ्चेन्द्रियतिर्यज्ञ और मनुष्य दोनों प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं ।

२०७६. वाणमन्तर-ओइसिय-वेमाणिया जहा णेरह्या (सु. २०७३) ।

[ २०७६ ] वाणमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में (सु. २०७३ में उक्त) तेरयिकों के समान कहना चाहिए ।

१. (क) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८९३-८९४

(ख) प्रजापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५७

**विवेचन**—इस प्रकार की विशिष्ट वेदना : स्वरूप और अधिकारी —स्वेच्छापूर्वक अंगीकार की जाने वाली वेदना आभ्युपगमिकी कहलाती है। जैसे—साधुगण केशलोच, तप, आतापना आदि से होने वाली शारीरिक पीड़ा स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। जो वेदना स्वयमेव उदय को प्राप्त यथा उदीरित वेदनीयकर्म से उत्पन्न होती है, वह औपक्रमिकी कहलाती है, जैसे नारक आदि की वेदना।

नारकों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक की वेदना औपक्रमिकी होती है, इसी तरह बाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक की वेदना भी औपक्रमिकी होती है। पञ्चन्द्रियतिर्यचों और मनुष्यों की वेदना दोनों हो प्रकार की होती है।<sup>१</sup>

### सप्तम निदा-अनिदा-वेदना-द्वार

२०७५. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णता ?

गोयमा ! दुविहा वेयणा पण्णसा । तं जहा—णिदा य अणिदा य ।

[२०७७ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०७७ उ.] गौतम ! वेदना दो प्रकार की कही गई है, यथा - निदा और अनिदा ।

२०७८. ऐरह्या णं भंते ! कि णिदायं वेदणं खेदेति अणिदायं वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! णिदायं पि वेदणं वेदेति अणिदायं पि वेदणं वेदेति ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुच्छति जेरह्या णिदायं पि वेदणं वेदेति अणिदायं पि वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! जेरह्या दुविहा पण्णता, तं जहा—सण्णभूया य असण्णभूया य । तथ्य णं जे से सण्णभूया से णं निदायं वेदणं खेदेति, तथ्य णं जे ते असण्णभूया ते णं अणिदायं वेदणं वेदेति, से तेणट्ठेण गोयमा । एवं बुच्छति जेरह्या णिदायं पि वेदणं वेदेति अणिदायं पि वेदणं वेदेति ।

[२०७८ प्र.] भगवन् ! नारक निदावेदना वेदते हैं, या अनिदावेदना वेदते हैं ?

[२०७८ उ.] गौतम ! नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! नारक दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत । उनमें जो संज्ञीभूत नारक होते हैं, वे निदावेदना को वेदते हैं और जो असंज्ञीभूत नारक होते हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं । इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ।

२०७९. एवं जाव थणियकुमारा ।

[२०७९] इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त कहना चाहिए ।

१. (क) प्रजापता, (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ९०१-९०२

(ख) प्रजापता, मलयवृत्ति, पत्र ५५७

२०८०. पुढिकाङ्गाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जो निदायं वेदणं वेदेति, अणिदायं वेदणं वेदेति ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुच्चति पुढिकाङ्गा जो णिदायं वेदणं वेदेति अणिदायं वेयणं वेदेति ?

गोयमा ! पुढिकाङ्गा सबे असण्णी असण्णीभूतं अणिदायं वेदणं वेदेति, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चति पुढिकाङ्गा जो णिदायं वेयणं वेदेति, अणिदायं वेदणं वेदेति ।

[२०८० प्र.] भगवन् ! पृच्छा है—पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना वेदते हैं या अनिदावेदना वेदते हैं ?

[२०८० उ.] गौतम ! वे निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से यह कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी और असंज्ञीभूत होते हैं, इसलिए अनिदावेदना वेदते हैं, (निदा नहीं), इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ।

२०८१. एवं जाथ चउर्दिविया ।

[२०८१] इसी प्रकार चतुर्दिविय पर्यन्त (कहना चाहिए ।)

२०८२. पञ्चेवियतिरिक्खजोणिया मणूसा वाणमन्तरा जहा जेरहया (सु. २०७८) ।

[२०८२] पञ्चेत्वियतिरिक्खजोणिया, मनुष्य और वाणमन्तर देवों का कथन (सु. २०७८ में उक्त) तैरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए ।

२०८३. जोइसियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णिदायं पि वेदणं वेदेति अणिदायं पि वेदणं वेदेति ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुच्चति जोइसिया णिदायं पि वेदणं वेदेति अणिदायं पि वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! जोइसिया तुविहा पश्चत्ता, तं जहा—माइमिच्छद्वित्तुववण्णगा य अमाङ्गसम्म-हित्तुववण्णगा य, तत्य एं जे ते माइमिच्छद्वित्तुववण्णगा ते एं अणिदायं वेदणं वेदेति, तत्थ एं जे ते अमाङ्गसम्मद्वित्तुववण्णगा ते एं णिदायं वेदणं वेदेति, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चति जोतिसिया तुविहं पि वेदणं वेदेति ।

[२०८३ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कदेव निदावेदना वेदते हैं या अनिदावेदना वेदते हैं ?

[२०८३ उ.] गौतम ! वे निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि ज्योतिष्कदेव निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! ज्योतिष्क देव दो प्रकार के कहे हैं, यथा—मायिमिथ्यादृष्टिउपपत्तक और अमायिसम्यग्दृष्टिउपपत्तक । उनमें से जो मायिमिथ्यादृष्टिउपपत्तक हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं और जो अमायिसम्यग्दृष्टिउपपत्तक हैं, वे निदावेदना वेदते हैं । इस कारण से हे गौतम ! यह कहा जाता है कि ज्योतिष्क देव दोनों प्रकार की वेदना वेदते हैं ।

२०८४. एवं वेमाणिया चि ।

[२०८४] र्षमानिक देवों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहना चाहिए ।

॥ पण्डवणाए भगवतीय पंचतीसइम् वेदनापयं समर्त ॥

**विवेचन**—निशा और अनिशा : स्वरूप और अधिकारी—जिसमें पूर्ण रूप से चित्त लगा हो, जिसका भलीभांति छ्यान हो, उसे निदा वेदना कहते हैं, जो इससे बिलकुल भिन्न हो, अर्थात्—जिसकी और चित्त बिलकुल न हो, वह अनिदावेदना कहलाती है ।

जो संज्ञी जीव मर कर नारक हुए हों, वे संज्ञीभूत नारक और जो असंज्ञी जीव मरकर नारक हुए हों, वे असंज्ञीभूत नारक कहलाते हैं । इनमें से संज्ञीभूत नारक निदावेदना और असंज्ञीभूत नारक अनिदावेदना वेदते हैं । इसी प्रकार पञ्चान्द्रियतियंक्त्व, मनुष्य और वाणव्यन्तर देवों का कथन है । ज्योतिष्क देवों में जो मायिमिथ्यादृष्टि हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं और जो अमायिसम्यग्दृष्टि हैं, वे निदावेदना वेदते हैं । पृथ्वीकायिक से लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त सभी अनिदावेदना वेदते हैं, निदावेदना नहीं, क्योंकि असंज्ञी होने से इनके मन नहीं होता, इस कारण ये अनिदावेदना ही वेदते हैं । असंज्ञी जीवों को जन्मान्तर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का अथवा वैर आदि का स्मरण नहीं होता । तथा यह है कि केवल तीव्र अध्यवसाय से किये गए कर्मों का ही स्मरण होता है, किन्तु पहले के असंज्ञीभव में पृथ्वीकायिकादि का अध्यवसाय तीव्र नहीं था, क्योंकि वे द्रव्यमन से रहित थे । इस कारण असंज्ञी नारक पूर्वभवसम्बन्धी विषयों का स्मरण करने में कुशलचित्त नहीं होता, जबकि संज्ञी नारक पूर्वभवसम्बन्धी कर्म या वैर-विरोध का स्मरण करते हैं । इस कारण वे निदावेदना वेदते हैं । सभी पृथ्वीकायिक आदि जीव असंज्ञी होने से विवेकहीन अनिदावेदना वेदते हैं ।<sup>१</sup>

॥ प्रज्ञापना भगवती का पंतीसवाँ वेदनापय लम्पत्त ॥



१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ९०३ से ९०५ तक

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, भाग ५५७

# छत्तीसाङ्गमं समुद्घातपय

## छत्तीसवाँ समुद्घातपद

### प्रायोगिक

- ❖ प्रज्ञापनासूत्र का यह छत्तीसवाँ समुद्घातपद है ।
- ❖ इसमें समुद्घात, उसके प्रकार तथा चौबीस दण्डकों में से किसमें कौन-सा समुद्घात होता है, इसकी विचारणा की गई है ।
- ❖ 'समुद्घात' जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ शब्दशास्त्रानुसार होता है । एकीभावपूर्वक प्रबलता से वेदनादि पर धात—चोट करना । इसकी व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—वेदना आदि के अनुभवरूप परिणामों में साथ आत्मा का उत्कृष्ट एकीभाव । इसका फलितार्थ यह है कि तदितरपरिणामों से विरत होकर वेदनीयादि उन-उन कर्मों के बहुत-से प्रदेशों की उदीरणा के द्वारा शीघ्र उदय में लाकर, भोग कर उसकी निर्जेरा करना—यानी आत्मप्रदेशों से उनको पृथक् करना, भाँड़ डालना ।<sup>१</sup>
- ❖ वस्तुतः देखा जाए तो समुद्घात का कर्मों के साथ बनिष्ठ सम्बन्ध है । आत्मा पर लगे हुए ऐसे कर्म, जो चिरकाल बाद भोगे जाकर शीघ्र होने वाले हों, उन्हें उदीरणा करके उदयावलिका में लाकर वेदनादि के साथ एकीभूत होकर निर्जेर्ण कर देना—प्रबलता से उन कर्मों पर चोट करना समुद्घात है । जैनदर्शन आत्मा पर लगे हुए कर्मों को क्षय किये बिना आत्मा का विकास नहीं मानता । आत्मा की शुद्धि एवं विकासशीलता समुद्घात के द्वारा कर्मनिर्जेरा करने से शीघ्र हो सकती है । इसलिए समुद्घात एक ऐसा आध्यात्मिक शस्त्र है, जिसके द्वारा साधक जाग्रत रह कर कर्मफल का समभावपूर्वक वेदन कर सकता है, कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर सकता है । इसी कारण समुद्घात सात प्रकार का बताया गया है—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कथायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तेजससमुद्घात (६) आहारकसमुद्घात और (७) केवलिसमुद्घात ।
- ❖ वृत्तिकार ने बताया है कि कौन-सा समुद्घात किस कर्म के आश्रित है ? यथा—वेदनासमुद्घात असातावेदनीय-कर्माश्रित है, कथायसमुद्घात चारित्रमोहनीय-कर्माश्रित है, मारणान्तिक-समुद्घात आयुष्य-कर्माश्रित है, वैक्रियसमुद्घात वैक्रियशरीरनाम-कर्माश्रित है, तेजस समुद्घात तेजसशरीरनाम-कर्माश्रित है, आहारकसमुद्घात आहारकशरीरनाम-कर्माश्रित है और केवलिसमुद्घात शुभ-अशुभनामकर्म, साता-असातावेदनीय तथा उच्च-नीचगोत्र-कर्माश्रित है ।<sup>२</sup>

१. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ५५९

२. (क) पण्णवणासुतं भा. १, पृ. ४२८

(ख) प्रज्ञापना, म. वृत्ति, पत्र ५५९

- ❖ इसके पश्चात् इन सातों समुद्घातों में से कौन-से समुद्घात की प्रक्रिया क्या है और उसके परिणामस्वरूप उस समुद्घात से सम्बन्धित कर्म की निर्जरा आदि कैसे होती है, इसका संक्षेप में निरूपण है।
- ❖ तदनन्तर वेदनासमुद्घात आदि सातों में से कौन-सा समुद्घात कितने समय का है, इसकी चर्चा है। इनमें केवलिसमुद्घात द समय का है, शेष समुद्घात असंख्यात समय के अन्तमुँहूर्त-काल के हैं।
- ❖ इसके पश्चात् यह स्पष्टीकरण किया गया है कि सात समुद्घातों में से किस जीव में कितने समुद्घात पाये जाते हैं?
- ❖ तदनन्तर यह चर्चा विस्तार से की गई है कि एक-एक जीव में, उन-उन दण्डकों के विभिन्न जीवों में अतीतकाल में कितनी संख्या में कौन-कौन से समुद्घात होते हैं तथा भविष्य में कितनी संख्या में होते हैं?
- ❖ उसके बाद बताया गया है कि एक-एक दण्डक के जीव को तथा उन-उन दण्डकों के जीवों को (स्वस्थान में) उस-उस रूप में और अन्य दण्डक के जीवरूप (परस्थान) में अतीत-अनागत काल में कितने समुद्घात संभव हैं?
- ❖ इसके पश्चात् समुद्घात की अपेक्षा से जीवों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।
- ❖ तत्पश्चात् कषायसमुद्घात चार प्रकार के बताकर उनकी अपेक्षा से भूत-भविष्यकाल के समुद्घातों की विचारणा की गई है। इसमें भी स्वस्थान-परस्थान की अपेक्षा से अतीत-अनागत कषायसमुद्घातों की एवं अल्पबहुत्व की विचारण की गई है।
- ❖ इसके पश्चात् वेदना आदि समुद्घातों का अवगाहन और स्फर्णों को दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें यह बताया गया है कि उस-उस जीव की अवगाहना (क्षेत्र) तथा (काल) स्पर्शना कितनी कितने काल की होती है तथा किस समुद्घात के समय उस जीव को कितनी कियाएँ जगती हैं? १
- ❖ अन्त में केवलिसमुद्घात सम्बन्धी चर्चा विभिन्न पहलुओं से की गई है। सयोगी केवली जब तक मन-बचन-काय-योग का निरोध करके अयोग्यिदशा प्राप्त नहीं करता तब तक सिद्ध नहीं होता। साथ ही सिद्धत्व-प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। अन्त में सिद्धों के स्वरूप का निरूपण किया गया है।<sup>२</sup>



१. (क) प्रश्नापना, मलयवृत्ति, पत्र ५९०  
 (ख) पण्वणासुतं भा. २, पृ. १५१-१५२  
 २. पण्वणासुतं भा. १, पृ. ४४६

## चत्तीसाङ्गमं समुद्घायपर्यं

### चत्तीसवाँ समुद्घासपद

#### समुद्घात-भेद-प्ररूपणा

२०८५. वेयण १ कसाय २ मरणे ३ वेउचिक्य ४ तेयए य ५ आहारे ६ ।

केवलिए चेद भवे ७ जीव-मणुष्याण सत्तेव ॥ २२७ ॥

[२०८५ संग्रहणी गाथार्थ] जीवों और मनुष्यों के ये सात ही समुद्घात होते हैं—(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मरण (मारणान्तिक), (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहार (आहारक) और (७) कैवलिक ।

२०८६. कति ण भंसे । समुद्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुद्घाया पण्णत्ता । तं चहा—वेदनासमुद्घाए १ कसायसमुद्घाए २ मारण-तियसमुद्घाए ३ वेउचिक्यसमुद्घाए ४ तेयासमुद्घाए ५ आहारगसमुद्घाए ६ केवलिसमुद्घाए ७ ।

[२०८६ प्र.] भगवन् ! समुद्घात कितने कहे गए हैं ?

[२०८६ उ.] गीतम ! समुद्घात सात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषाय-समुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात, (६) आहारक-समुद्घात और (७) केवलिसमुद्घात ।

**विवेचन—समुद्घात :** स्वरूप और प्रकार—समुद्घात में सम + उद्द + घात, ये तीन शब्द हैं । इनका व्याकरणानुसार अर्थ होता है—सम—एकीभावपूर्वक, उद्द—प्रबलता से, घात—घात करना । तात्पर्य यह हुआ कि एकाप्रतापूर्वक प्रबलता के साथ घात करना । भावार्थ यह है कि वेदना आदि के साथ उत्कृष्टरूप से एकीभूत हो जाना । फलितार्थ यह हुआ कि वेदना आदि समुद्घात के समय आत्मा वेदनादिजानरूप में परिणत हो जाता है, उसे अन्य कोई भान नहीं रहता । जब जीव वेदनादि समुद्घातों में परिणत होता है, तब कालान्तर में अनुभव करने योग्य वेदनीयादि कर्मों के प्रदेशों को उद्दीरणाकरण के द्वारा खींचकर, उदयावलिका में डालकर, उनका अनुभव करके निर्जीर्ण कर डालता है, अर्थात्—आत्मप्रदेशों से पृथक् कर देता है । यही घात की प्रबलता है । पूर्वकृत कर्मों का झड़ जाना, आत्मा से पृथक् हो जाना ही निर्जीरा है ।

समुद्घात सात प्रकार के हैं—(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मारणान्तिक, (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहारक और (७) केवली ।

**कौन समुद्घात किस कर्म के आश्रित है ?**—इनमें से वेदनासमुद्घात असातावेदनीय-कर्मशीय है, कषायसमुद्घात चारित्रमोहनीय-कर्मशीय है, मारणान्तिकसमुद्घात अन्तमुहूर्त शेष आयुष्य-कर्मशीय है, वैक्रियसमुद्घात वैक्रियशरीरनाम-कर्मशीय है, तैजससमुद्घात तैजसशरीरनाम-कर्मशीय है,

आहारकसमुद्धात् आहारकशरीरनाम-कर्मश्रिय है और केवलिसमुद्धात् साता-असातावेदनीय, णुभ-अणुभनामकर्म और उच्च-तीव्रगोप्त-कर्मश्रिय है।

**१. वेदनासमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**वेदनासमुद्धात् करने वाला जीव असाता-वेदनीय कर्म के पुद्गलों की परिशाटना (निर्जंरा) करता है। आशय यह है कि वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों से व्याप्त अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और मुख एवं उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि के अपान्तरालों (बीच के रिक्त स्थानों) को परिपूरित करके, लम्बाई और विस्तार में शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त करके अन्तमुँहूर्त तक रहता है। उस अन्तमुँहूर्त में वह बहुत-से असातावेदनीयकर्म के पुद्गलों को निर्जीर्ण कर डालता है।

**२. कषायसमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**कषायसमुद्धात् करने वाला जीव कषायचारित्रमोहनीयकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है—कषाय के उदय से युक्त जीव अपने प्रदेशों को बाहर निकालता है। उन प्रदेशों से मुख, उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूरित करता है। लम्बाई तथा विस्तार से शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है। ऐसा करके वह बहुत-से कषायकर्मपुद्गलों का परिशाटन करता है—भाङ देता है।

**३. मारणान्तिकसमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**मारणान्तिकसमुद्धात् करने वाला जीव आयुकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है। इस समुद्धात् में यह विशेषता है कि मारणान्तिकसमुद्धात् करने वाला जीव अपने प्रदेशों को बाहर निकाल कर मुख तथा उदर आदि के छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूरित करके विस्तार और मोटाई में अपने शरीरप्रमाण होकर किन्तु लम्बाई में अपने शरीर के अतिरिक्त जघन्य अगुल के भ्रसंख्यात्वे भाग तक और उत्कृष्ट असंख्यात् योजन तक एक दिशा के क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है।

**४. वैक्रियसमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**वैक्रियसमुद्धात् करने वाला जीव अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर शरीर के विस्तार और मोटाई के बराबर तथा लम्बाई में संख्यात्योजनप्रमाण दण्ड निकालता है। फिर यथासम्भव वैक्रियशरीरनामकर्म के स्थूल पुद्गलों का परिशाटन करता है।

**५. तैजससमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**तैजससमुद्धात् करने वाला जीव तेजोलेश्या के निकालने के समय तैजसशरीरनामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

**६. आहारकसमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**आहारकसमुद्धात् करने वाला आहारकशरीरनामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

**७. केवलिसमुद्धात् की प्रक्रिया और परिणाम—**केवलिसमुद्धात् करने वाला जीव साता-असातावेदनीय आदि कर्मों के पुद्गलों का परिशाटन करता है। केवली ही केवलिसमुद्धात् करता है। इसमें आठ समय लगते हैं। केवलिसमुद्धात् करने वाला केवली प्रथम समय में मोटाई में अपने शरीरप्रमाण आत्मप्रदेशों का दण्ड ऊपर और नीचे लोकान्त तक रचता है। दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में कपाट की रचना करता है। तीसरे समय में मन्थान (मथानी) की रचना करता है। चौथे समय में अवकाशान्तरों को पूरित करता (भरता) है। पांचवें समय में उन अवका-

शान्तरों को सिकोड़ता है, छठे समय में मन्यान को सिकोड़ता है, सातवें समय में कपाट को संकुचित करता है और आठवें समय में दण्ड का संकोच करके आत्मस्थ हो जाता है ।<sup>१</sup>

### समुद्घात-काल-प्ररूपणा

२०८७. [ १ ] वेदणासमुद्घाए णं भंते ! कतिसमइए पण्णते ?

गोयमा ! असंख्यसमइए वंतोमुहुत्तिए पण्णते ।

[ २०८७-१ प्र. ] भगवन् ! वेदनासमुद्घात कितने समय का कहा गया है ?

[ २०८७-१ उ. ] गोतम ! वह असंख्यात समयों वाले अन्तमुहूर्त का कहा है ।

[ २ ] एवं जाव आहारगसमुद्घाए ।

[ २०८७-२ ] इसी प्रकार आहारकसमुद्घात पर्यन्त कथन करना चाहिए ।

२०८८. केवलिसमुद्घाए णं भंते ! कतिसमइए पण्णते ?

गोयमा ! अटुसमइए पण्णते ।

[ २०८८ प्र. ] भगवन् ! केवलिसमुद्घात कितने समय का कहा है ?

[ २०८८ उ. ] गोतम ! वह आठ समय का कहा है ।

दिवेचन—निष्कर्ष—वेदनासमुद्घात से लेकर आहारकसमुद्घात तक समुद्घातकाल अन्तमुहूर्त का है, किन्तु वह अन्तमुहूर्त असंख्यात समयों का समझना चाहिए । केवलिसमुद्घात का काल आठ समय का है ।<sup>२</sup>

### चौदोसवी वर्णकों में समुद्घात-संख्या-प्ररूपणा

२०८९. ओरह्याणं भंते ! कति समुद्घाया पण्णता ?

गोयमा ! वसारि समुद्घाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुद्घाए १ कसायसमुद्घाए २ भारणंतियसमुद्घाए ३ वेदविवियसमुद्घाए ४ ।

[ २०८९ प्र. ] भगवन् ! नैरयिकों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[ २०८९ उ. ] गोतम ! उनके बार समुद्घात कहे हैं । यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कसायसमुद्घात, (३) भारणान्तिकसमुद्घात एवं (४) वेदविवियसमुद्घात ।

२०९०. [ १ ] असुरकुमाराणं भंते ! कति समुद्घाया पण्णता ?

गोयमा ! एवं समुद्घाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुद्घाए १ कसायसमुद्घाए २ भारणंतियसमुद्घाए ३ वेदविवियसमुद्घाए ४ लेयासमुद्घाए ५ ।

[ २०९० प्र. ] भगवन् असुरकुमारों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

१. प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९१३-९१४

२. प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९१९-९२०

[२०९०-१ उ.] गौतम ! उनके पांच समुद्घात कहे हैं । यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजससमुद्घात ।

[२] एवं जाव अणियकुमाराणं ।

[२०९०-२] इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त कहना चाहिए ।

२०९१. [१] पुढ़विककाइयाणं भंते । कति समुद्घाया पण्णता ?

गोयमा । तिण्ण समुद्घाया पण्णता । तं जहा—बेवणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणतियसमुग्धाए ३ ।

[२०९१-१ उ.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२०९१-१ उ.] गौतम ! उनके तीन समुद्घात कहे हैं । यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात और (३) मारणान्तिकसमुद्घात ।

[२] एवं जाव चउर्दियाणं । णवरं वाउककाइयाणं स्तारि समुद्घाया पण्णता, सं जहा—बेवणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणतियसमुग्धाए ३ बेउविक्षयसमुग्धाए ४ ।

[२०९१-२] इसी प्रकार चतुर्दियों पर्यन्त जानना चाहिए । विशेष यह है कि वायुकायिक जीवों के चार समुद्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और (४) वैक्रियसमुद्घात ।

२०९२. पंचेवियतिरिक्षजोणियाणं जाव वेमाणियाणं भंते । कति समुद्घाया पण्णता ?

गोयमा । पंच समुद्घाया पण्णता । तं जहा—बेवणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणतियसमुग्धाए ३ बेउविक्षयसमुग्धाए ४ तेयासमुग्धाए ५ । णवरं भृणूसाणं सत्त्विहे समुग्धाए पण्णते, सं जहा—बेवणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणतियसमुग्धाए ३ बेउविक्षयसमुग्धाए ४ तेयासमुग्धाए ५ आहारणसमुग्धाए ६ केवलिसमुग्धाए ७ ।

[२०९२ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यक्षों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२०९२ उ.] गौतम ! उनके पांच समुद्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजससमुद्घात । विशेष यह है कि मनुष्यों के सात समुद्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात, (६) आहारकसमुद्घात और (७) केवलिसमुद्घात ।

**विवेधन—समुद्घात :** किसमें किसने और क्यों ? नारकों में आदि के ४ रामुद्घात होते हैं, क्योंकि नारकों में तेजोलब्धि, आहारकलब्धि और केवलित्व का अभाव होने से तैजस, आहारक और केवलसमुद्घात नहीं होते । असुरकुमारादि दस भवनवासी देवों में प्रारम्भ के चार और पांचवाँ तैजससमुद्घात भी हो सकता है । पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावरों में प्रारम्भ के तीन समुद्घात होते हैं, किन्तु वायुकायिक जीवों में पहले के तीन और एक वैक्रियसमुद्घात, यों चार समुद्घात होते हैं । पंचेन्द्रियतिर्यक्षों से लेकर वैमानिकों तक प्रारम्भ के पांच समुद्घात पाये जाते हैं । किन्तु मनुष्यों में सातों

ही समुद्घात पाये जाते हैं। तिर्यङ्गवर्षचेतिद्वयों से लेकर वैमानिकों तक पांच समुद्घात इसलिए पाये जाते हैं कि तिर्यङ्गवर्षचेतिद्वयों आदि में आहारकलब्धि और केवलित्व नहीं होते। अतः अन्तिम दो समुद्घात उन्हें नहीं जाते जाते।

### चौबीस दण्डकों में एकत्वरूप से अतीतादि-समुद्घात-प्ररूपणा

२०९३. [१] एगमेगस्स णं भंते । णेरइयस्स केवतिया वेदनासमुद्घाया अतीता ?

गोयमा ! अण्ठता ।

केवतिया पुरेषखडा ?

गोयमा ! कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सअतिथ जहृणेण एको वा दो वा तिष्ण वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अण्ठता वा ।

[२०९३-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के कितने वेदनासमुद्घात अतीत—व्यतीत हुए हैं ?

[२०९३-१ ड.] हे गीतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! वे भविष्य में (आगे) कितने होने वाले हैं ?

[ड.] गीतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके जधन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं ।

[२] एवं असुरकुमारस्स वि, णिरंतरं जाव वेमाप्यियस्स ।

[२०९३-२] इसी प्रकार असुरकुमार के विषय में भी जानना चाहिए। यहाँ से लगातार वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार कहना चाहिए।

२०९४. [१] एवं जाव तेयगस्समुद्घाए ।

[२०९४-१] इसी प्रकार तेजस्ससमुद्घात तक (जानना चाहिए ।)

[२] एवं एते पञ्च चतुर्बीसा दंडगा ।

[२०९४-२] इसी प्रकार ये पांचों समुद्घात (वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तेजस) भी छोबीस दण्डकों के क्रम से समझ लेने चाहिए।

२०९५. [१] एगमेगस्स णं भंते । णेरइयस्स केवतिया आहारगस्समुद्घाया अतीता ?

गोयमा ! कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सअतिथ जहृणेण एको वा दो वा, उक्कोसेण तिष्ण ।

केवतिया पुरेषखडा ?

कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सअतिथ जहृणेण एको वा दो वा तिष्ण वा, उक्कोसेण खत्तारि ।

[२०९५-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के अतीत आहारकस्समुद्घात कितने हैं ?

[२०९५-१ उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके (अतीत आहारकसमुद्घात) होते हैं, उसके भी जघन्य एक या दो होते हैं और उत्कृष्ट तीन होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के भावी समुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार समुद्घात होते हैं ।

[२] एवं णिरंतरं जाव वेमाणियस्स । नवरं मणूसस्स अतीता वि पुरेक्षणा वि जहा नेरइयस्स पुरेक्षणा ।

[२०९५-२] इसी प्रकार (मसुरकुमारों से लेकर) लगातार वेमानिक पर्यन्त कहना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्य के अतीत और अनागत नारक के (अतीत और अनागत आहारक-समुद्घात के) समान हैं ।

२०९६. [१] एगमेगास ण भंते ! नेरइयस्स केवतिया केवलिसमुद्घाता अतीया ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्षणा ?

गोयमा ! कस्सइ अतिथ कस्सइ णत्थि, जस्सङ्गति एकको ।

[२०९६-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के अतीत केवलिसमुद्घात कितने हुए हैं ?

[२०९६-१ उ.] गौतम ! (एक भी नारक के एक भी अतीत केवलिसमुद्घात) नहीं हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (एक-एक नारक के) भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी (नारक) के (भावी केवलिसमुद्घात) होता है, किसी के नहीं होता । जिसके होता है, उसके एक ही होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणियस्स । णवरं मणूसस्स अतीता कस्सइ अतिथ कस्सइ णत्थि । जस्सङ्गति एकको । एवं पुरेक्षणा वि ।

[२०९६-२] इसी प्रकार वेमानिक पर्यन्त (अतीत और अनागत केवलिसमुद्घात-विषयक कथन करना चाहिए ।) विशेष यह है कि किसी मनुष्य के अतीत केवलिसमुद्घात होता है, किसी के नहीं होता । जिसके होता है, उसके एक ही होता है । इसी प्रकार (अतीत केवलिसमुद्घात के समान मनुष्य के) भावी (केवलिसमुद्घात) का भी (कथन जात लेना चाहिए) ।

विवेचन—एक-एक जीव के अतीत-अनागत समुद्घात कितने ?—प्रस्तुत प्रकरण में एक-एक जीव के कितने वेदनादि समुद्घात अतीत हो चुके हैं और कितने भविष्य में होने वाले हैं ?, इसका चौबीस दण्डकों के क्रम से निरूपण किया गया है ।

(१) वेदनासमुद्घात एक-एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं, क्योंकि नारकादि स्थान अनन्त हैं । एक-एक नारक-स्थान को अनन्तवार प्राप्त किया है और एक बार नारक-स्थान की प्राप्ति के समय एक नारक के अनेक बार वेदनासमुद्घात हुए हैं । यह कथन बाहुल्य को अपेक्षा से समझना चाहिए । बहुत-से जीवों को अव्यवहार-राशि से निकले अनन्तकाल

व्यतीत हो चुका है। उनकी अपेक्षा से एक -एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्धात् अतीत कहे गए हैं। जिन जीवों को व्यवहारराशि से निकले अल्पसमय व्यतीत हुआ है, उनकी अपेक्षा से यथासम्भव संख्यात् या असंख्यात् वेदनासमुद्धात् व्यतीत हुए समझने चाहिए।

एक-एक नारक के भावी समुद्धात् के विषय में कहा गया है कि किसी नारक के भावी-समुद्धात् होते हैं, किसी के नहीं होते। तात्पर्य यह है कि जीव पृच्छा के समय के पश्चात् वेदनासमुद्धात् के बिना ही नरक से निकल कर अनन्तर मनुष्यभव प्राप्त करके वेदनासमुद्धात् किये बिना ही सिद्धि प्राप्त करेगा, उसकी अपेक्षा से एक भी वेदनासमुद्धात् नहीं है। जो इस पृच्छा के समय के पश्चात् आयु शेष होने के कारण कुछ काल तक नरक में स्थित रह कर फिर मनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध होगा, उसके एक, दो या तीन वेदनासमुद्धात् सम्भव हैं। संख्यात्काल तक संसार में रहने वाले नारक के संख्यात् तथा असंख्यात्काल तक संसार में रहने वाले के असंख्यात् और अनन्तकाल तक संसार में रहने वाले के अनन्त भावी समुद्धात् होते हैं। नारकों के समान ही असुरकुमारादि भवनवासियों, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग्चों, मनुष्यों, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं दैमानिकों के भी अनन्त वेदनासमुद्धात् अतीत हुए हैं तथा भावी-वेदनासमुद्धात् किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, वे जघन्य एक, दो या तीन होते हैं, उत्कृष्ट संख्यात् असंख्यात् या अनन्त होते हैं।<sup>१</sup>

[ २-३-४-५ ] वेदनासमुद्धात् की तरह कषाय, मारुणान्तिक, वैक्रिय एवं तंजस-समुद्धात्-विषयक कथन चौबीस दण्डकों के क्रम से समझ लेना चाहिए।<sup>२</sup>

(६) आहारकसमुद्धात्—एक-एक नारक के अतीत आहारक-समुद्धात् के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आहारकसमुद्धात् किसी-किसी का होता है, किसी का नहीं होता। जिस नारक के अतीत आहारकसमुद्धात् होता है, उसके भी जघन्य एक या दो होते हैं और उत्कृष्ट तीन होते हैं। जिस नारक ने पहले मनुष्यभव प्राप्त करके अनुकूल सामग्री के अभाव में चौदह पूर्वों का अध्ययन नहीं किया अथवा चौदह पूर्वों का अध्ययन होने पर भी आहारकलब्धि के अभाव में या दैसा कोई विशिष्ट प्रयोजन न होने से आहारकशरीर का निर्माण नहीं किया, उसके अतोत आहारक-समुद्धात् नहीं होते। उससे भिन्न प्रकार के नारक के जघन्य एक या दो और उत्कृष्ट तीन आहारक-समुद्धात् होते हैं। चार नहीं हो सकते, क्योंकि चार बार आहारकशरीर का निर्माण करने वाला जीव नरक में नहीं जा सकता।

भावी आहारकसमुद्धात् भी किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिनके होते हैं, उनके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट चार होते हैं। जो नारक मनुष्यभव को प्राप्त करके अनुकूल सामग्री न मिलने से चौदह पूर्वों का अध्ययन नहीं करेगा या अध्ययन करके भी आहारक-समुद्धात् नहीं करेगा और सिद्ध हो जाएगा, उसके भावी आहारकसमुद्धात् नहीं होते। इससे

१. (क) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९२७ से ९२९ तक

(ख) प्रज्ञापना, मलयवुत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ७, पृ. ४३७

२. (क) वही, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३७

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९३०

भिज्ञ नारक के जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार भावी आहारकसमुद्घात होते हैं। इससे अधिक भावी आहारकसमुद्घात नहीं हो सकते, क्योंकि तदनन्तर वह जीव नियम से किसी दूसरी गति में नहीं जाता और आहारकसमुद्घात किये बिना ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार असुरकुमारादि भवनवासियों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात के विषय में समझ ऐसा चाहिए, कि अन्त मनुष्य के अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात नारक के अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात के समान हैं। नारक के अतीत और अनागत जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार हैं, इसी प्रकार मनुष्य के हैं।<sup>१</sup>

(७) केवलिसमुद्घात—एक-एक नारक के अतीत केवलिसमुद्घात एक भी नहीं है, क्योंकि केवलिसमुद्घात के पश्चात् नियम से अन्तमुहूर्त में ही जीव को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है। फिर उसका नरक में जाना और नारक होना सम्भव नहीं है। अतएव किसी भी नारक के अतीत केवलिसमुद्घात सम्भव नहीं है। अब रहा नारक के भावी केवलिसमुद्घात का प्रश्न—यह किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिस नारक के होता है, उसके एक ही केवलिसमुद्घात होता है। एक से अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि एक केवलिसमुद्घात के द्वारा ही चारों अधातिक कर्मों की स्थिति समान करके केवलों अन्तमुहूर्त में ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। फिर दूसरी बार किसी को भी केवलिसमुद्घात की आवश्यकता नहीं होती। जो नारक भवध्यमण करके मुक्तिपद प्राप्त करने का अवसर पायेगा, उस समय उसके अधातिकर्मों की स्थिति विषय होगी तो उसे सम करने के लिए वह केवलिसमुद्घात करेगा। यह उसका भावी केवलिसमुद्घात होगा। जो नारक केवलिसमुद्घात के बिना ही मुक्ति प्राप्त करेगा अथवा जो (अभव्य) कभी मुक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकेगा, उसकी अपेक्षा से भावी केवलिसमुद्घात नहीं होता।

मनुष्य के अतिरिक्त भवनवासी, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वंशानिक देव के भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होता। भावी केवलिसमुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, एक ही होता है। युक्ति पूर्वान्त समझना चाहिये। किसी मनुष्य के अतीत केवलिसमुद्घात होता है, किसी के नहीं। केवलिसमुद्घात जिसके होता है, एक ही होता है। जो मनुष्य केवलिसमुद्घात कर चुका है और अभी तक मुक्त नहीं हुआ है—अन्तमुहूर्त में मुक्त होने वाला है, उसकी अपेक्षा से अतीत केवलिसमुद्घात है; किन्तु जिस मनुष्य ने केवलिसमुद्घात नहीं किया है, उसकी अपेक्षा से नहीं है।

अतीन केवलिसमुद्घात के समान मनुष्य के भावी केवलिसमुद्घात का कथन भी जान लेना चाहिए। अतीत की तरह भावी केवलिसमुद्घात भी किसी का होता है, किसी का नहीं। जिसका होता है, उसका एक ही होता है, अधिक नहीं।<sup>२</sup>

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ९३० से ९३२ तक

(ख) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३८

२. (क) बही, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३८

(ख) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९३३ से ९३५ तक

चौबीस दण्डकों में बहुत्व की अपेक्षा से अतीत-अनागत-समुद्धात-प्ररूपण।

२०९७. [ १ ] णेरहयाण भंते ! केवतिया वेदनासमुद्धाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेकछडा ?

गोतमा ! अणंता ।

[ २०९७-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने वेदनासमुद्धात अतीत हुए हैं ?

[ २०९७-१ उ.] गोतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! (उनके) भावी वेदनासमुद्धात कितने होते हैं ?

[ उ.] गोतम ! वे भी अनन्त होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियाण ।

[ २०९७-२ ] इसी प्रकार वैमानिकों (के वेदनासमुद्धात) तक (के विषय में जानना चाहिए) ।

२०९८. [ १ ] एवं जाव लेयगसमुद्धाए ।

[ २०९८-१ ] इसी प्रकार (वेदनासमुद्धात के समान) तैजससमुद्धात पर्यन्त समझना चाहिए ।

[ २ ] एवं एते वि पञ्च चउबीसा दंडगा ।

[ २०९८-२ ] इस प्रकार इन (वेदना से लेकर तैजस तक) पांचों समुद्धातों का (कथन) चौबीसों दण्डकों में (बहुवचन के रूप में समझ लेना चाहिए) ।

२०९९. [ १ ] णेरहयाण भंते ! केवतिया आहारगसमुद्धाया अतीया ?

गोयमा ! असंखेजा ।

केवतिया पुरेकछडा ?

गोयमा ! असंखेजा ।

[ २०९९-१ प्र.] भगवान् ! नारकों के कितने आहारकसमुद्धात अतीत हुए हैं ?

[ २०९९-१ उ.] गोतम ! वे असंख्यात हुए हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! उनके आगामी आहारकसमुद्धात कितने होते हैं ?

[ उ.] गोतम ! वे भी असंख्यात होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियाण णवरं दणससइकाइयाणं मणूसाण य इमं णाणतं ।

दणससइकाइयाणं भंते ! केवतिया आहारगसमुद्धाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

मणूसाणं भंते ! केवतिया आहारगसमुद्धाया अतीता ?

गोयमा ! सिय संखेजा सिय असंखेजा । एवं पुरेकछडा थि ।

[२०९९-२] इसी प्रकार (नारकों के समान) वैमानिकों तक का कथन समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि बनस्पतिकायिकों और मनुष्यों की बक्तव्यता में इनसे भिन्नता है, यथा—

[प्र.] भगवन् ! बनस्पतिकायिक जीवों के कितने आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके) अनन्त (आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं)।

[प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके आहारकसमुद्घात) कर्थचित् संख्यात और कर्थचित् असंख्यात (हुए हैं)।

इसी प्रकार उनके भावी आहारकसमुद्घात भी समझ लेने चाहिए।

२१००. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुद्घाया अतीया ?

गोयमा ! णत्यि ।

केवतिया पुरेक्षणा ?

गोयमा ! असंख्यजा ।

[२१००-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१००-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! नारकों हे कितने केवलिसमुद्घात आयाए हैं ?

[उ.] गौतम ! वे असंख्यात हैं।

[२] एवं जाव वैमाणियाणं । णवरं वणस्पतिकाइय-मनूसेषु इमं णाणसं ।

वणस्पतिकाइयाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुद्घाया अतीता ?

गोयमा ! णत्यि ।

केवतिया पुरेक्षणा ?

गोयमा ! अप्तंता ।

मणूसाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुद्घाया अतीया ?

गोयमा ! सिय अत्यि सिय णत्यि । जबि अत्यि जहणेण एकको वा वो वा तिण्य वा, उष्कोसेण सयपुहत्तं ।

केवलिया पुरेक्षणा ?

गोयमा ! सिय संख्यजा सिय असंख्यजा ।

[२१००-२ प्र.] इसी प्रकार वैमानिकों तक समझना चाहिए। विशेष यह है कि बनस्पति-कायिकों और मनुष्यों में ( केवलिसमुद्घात के विषय में पूर्वकथन से ) भिन्नता है, यथा—

[प्र.] भगवन् ! बनस्पतिकायिकों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हैं ?

[उ.] गौतम ! (इनके केवलिसमुद्घात अतीत) नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! इनके कितने भावी केवलिसमुद्घात हैं ?

[उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं ।

[प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हैं ?

[उ.] गौतम ! कथचिच्चत् हैं और कथचिच्चत् नहीं हैं । यदि हैं तो जब्त्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व हैं ।

[प्र.] भगवन् ! उनके भावी केवलिसमुद्घात कितने कहे हैं ?

[उ.] गौतम ! कथचिच्चत् गंखात हैं और कथचिच्चत् गंखात हैं ।

**विवेचन**—नारकादि में बहुत्व की अपेक्षा से वेदनासमुद्घात आदि का निरूपण—नारकों के वेदनासमुद्घात अनन्त अतीत हुए हैं, क्योंकि बहुत-से नारकों को व्यवहारराशि से निकले अनन्तकाल हो चुका है । इनके भावी समुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि बहुत से नारक अनन्तकाल तक संसार में स्थित रहेंगे ।

असुरकुमारादि भवनवासियों, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों, तिर्यक्त्वपञ्चेन्द्रियों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के भी वेदनासमुद्घात अतीत और अनागत (भावी) में अनन्त होते हैं ।

वेदनासमुद्घात की भाँति कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस समुद्घात की वक्तव्यता भी समझ लेनी चाहिए ।<sup>१</sup>

इन सबका निरूपण चौबीस दण्डकों में बहुवचन के रूप में करना चाहिए ।

**आहारकसमुद्घात**—नारकों के अतीत आहारकसमुद्घात असंख्यात हैं । इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सभी नारक असंख्यात हैं, तथापि उनमें भी कुछ असंख्यात नारक ऐसे होते हैं, जो पहले आहारकसमुद्घात कर चुके हैं, उनकी अपेक्षा से नारकों के अतीत आहारकसमुद्घात असंख्यात कहे हैं । इसी प्रकार नारकों के भावी आहारकसमुद्घात भी पूर्वोक्त युक्ति से असंख्यात समझ लेने चाहिए ।

वनस्पतिकायिकों और मनुष्यों को छोड़कर शेष दण्डकों में वैमानिक पर्यन्त अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात पूर्ववत् असंख्यात हैं ।

वनस्पतिकायिकों के अतीत आहारकसमुद्घात—बहुवचन की अपेक्षा से अनन्त हैं, क्योंकि ऐसे वनस्पतिकायिक जीव अनन्त हैं, जिन्होंने चौदह पूर्वों का ज्ञान भूतकाल में किया था, किन्तु प्रमाद के बशीभूत होकर संसार की वृद्धि करके वनस्पतिकायिकों में विद्धमान हैं । वनस्पतिकायिकों के भावी आहारकसमुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि पृच्छा के समय जो जीव वनस्पतिकाय में है, उनमें से अनन्त जीव वनस्पतिकायिकों में से निकल कर मनुष्यभव पाकर चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करके आहारकसमुद्घात करके सिद्धिगमन करेंगे ।

**मनुष्यों के अतीत-अनागत आहारकसमुद्घात**—बहुवचन की अपेक्षा से कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात हैं । तात्पर्य यह है कि संभूच्छम और गर्भज मनुष्य मिलाकर उत्कृष्ट संख्या में अंगुलमात्र क्षेत्र में जितने प्रदेशों की राशि है, उसके प्रथम वर्गमूल का तृतीय वर्गमूल से गुणाकार

१. प्रकापना. मलयनृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३८

करने पर जो परिमाण आता है, उतने प्रदेशोंवाले खण्ड-घनीकृत लोक की एकप्रदेश वाली श्रेणी में जितने मनुष्य होते हैं, उनमें से एक कम करने पर जितने मनुष्य हों, उतने ही हैं। ये मनुष्य नारक आदि अन्य जीवराशियों की अपेक्षा कम हैं। उनमें भी ऐसे मनुष्य कम हैं, जिन्होंने पूर्वभवों में आहारकशरीर बनाया हो, इस कारण वे कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों के भावी आहारकसमुद्घात भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात समझने चाहिए।<sup>१</sup>

**केवलिसमुद्घात-** नारकों के अतीत केवलिसमुद्घात एक भी नहीं होता, क्योंकि जिन जीवों ने केवलिसमुद्घात किया है, उनका नारक में जाना और नारक होना सम्भव नहीं है। नारकों के भावी केवलिसमुद्घात असंख्यात हैं, क्योंकि पृच्छा के समय सदैव भविष्य में केवलिसमुद्घात करने वाले नारक असंख्यात ही होते हैं। केवलज्ञान से ऐसा हो जाना जाता है।

नारकों के समान ही वनस्पतिकायिकों एवं मनुष्यों को छोड़कर असुरकुमारादि भवनदायियों से लेकर वैमानिकों तक भी इसी प्रकार समझना चाहिए। इनके भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होते और भावी केवलिसमुद्घात असंख्यात होते हैं।

वनस्पतिकायिकों के अतीत केवलिसमुद्घात पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं होते। इनमें भावी-केवलिसमुद्घात अनन्त होते हैं, क्योंकि वनस्पतिकायिकों में अनन्त जीव ऐसे होते हैं, जो भविष्यत्काल में केवली होकर केवलिसमुद्घात करेंगे।

मनुष्यों के अतीत केवलिसमुद्घात कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते। पृच्छा के समय अगर केवलिसमुद्घात से निवृत्त कोई मनुष्य (केवली) विद्यमान हों तो अतीत केवलिसमुद्घात होते हैं, अन्य समय में नहीं होते। यदि अतीत केवलिसमुद्घात हों तो वे जघन्यतः एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्टतः शतपृथक्त्व अर्थात् दो सौ से लेकर तीन सौ तक होते हैं।

मनुष्यों के भावी केवलिसमुद्घात कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं। समूच्छिम और गर्भज मनुष्यों में पृच्छा के समय बहुत से अभव्य भी होते हैं, जिनके भावी केवलिसमुद्घात सम्भव नहीं, इस अपेक्षा से भावी केवलिसमुद्घात संख्यात होते हैं। कदाचित् वे असंख्यात भी होते हैं, क्योंकि उस समय भविष्य में केवलिसमुद्घात करने वाले मनुष्य बहुत होते हैं।<sup>२</sup>

**चौबीस दण्डकों की चौबीस दण्डक पर्यायों में एकत्व की अपेक्षा से अतीतादि समुद्घात-प्रलृपणा**

२१०१. [१] एगमेगस्स र्ण भंते । णेरद्यस्स णेरद्यस्से केवतिया षेद्यासमुद्घाया अतीया ?

गोवमा । अर्णता ।

केवतिया पुरेद्यजा ?

गोवमा । कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सउतिथ जहूण्णेण एक्को वा दो वा तिणि वा, उबकोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अर्णता वा ।

१. प्रजापना, मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३९

२. वही, मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३९

[२१०१-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक के नारकत्व में (अर्थात्—नारक-पर्याय में रहते हुए) कितने वेदनासमुद्रघात अतीत हुए हैं ।

[२१०१-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (एक-एक नारक के नारकत्व में) कितने भावी (वेदनासमुद्रघात) होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात् असंख्यात् अथवा अनन्त होते हैं ।

[२] एवं असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियते ।

[२१०१-२] इसी प्रकार एक-एक नारक के असुरकुमारत्व यावत् वेमाणिकत्व में रहते हुए पूर्ववत् अतीत और अनागत वेदनासमुद्रघात समझने चाहिए ।

२१०२. एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स णेरइयत्ते केवतिया वेदणासमुद्राया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्षडा ?

गोयमा ! कस्सइ अतिथि कस्सइ णेतिथि, जस्सइत्थि तस्स सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०२ प्र.] भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के नारकत्व में (रहते हुए) कितने वेदनासमुद्रघात अतीत हुए हैं ?

[२१०२ उ.] गौतम ! वे अनन्त हो चुके हैं ।

[प्र.] भगवन् ! भावी वेदनासमुद्रघात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते हैं, जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात्, कदाचित् असंख्यात् और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२१०३. [१] एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवतिया वेदणासमुद्राया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्षडा ?

गोयमा ! कस्सइ अतिथि कस्सइ णेतिथि, जस्सइत्थि जहणेण एको वा दो वा तिणि वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[२१०३-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के असुरकुमारपर्याय में कितने वेदनासमुद्रघात अतीत हुए हैं ?

[२१०३-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! उनके भावी वेदनासमुद्रघात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते हैं, जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात्, असंख्यात् अथवा अनन्त होते हैं ।

[२] एवं णागकुमारत्ते वि जाव वेमाणियसे ।

[२१०३-२] इसी प्रकार नागकुमारपर्याय यावत् वैमानिकपर्याय में रहते हुए भ्रतीत और अनागत वेदनासमुद्घात समझने चाहिए ।

२१०४. [१] एवं जहा वेदणासमुद्घाएणं असुरकुमारे षेरइयादि-वेमाणियपञ्जवसाणेसु भणिए तहा णागकुमारादीया अध्यसेसेसु सद्गुण-परद्गुणेसु भणियज्ञा जाव वेमाणियस्स वेमाणियते ।

[२१०४-१] जिस प्रकार असुरकुमार के नारकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय पर्यन्त वेदनासमुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार नागकुमार आदि से लेकर शेष सब स्वस्थानों और परस्थानों में वेदनासमुद्घात यावत् वैमानिक के वैमानिकपर्याय पर्यन्त कहने चाहिए ।

[२] एवमेते चउच्छीसं चउच्छीसा वंडगा भवंति ।

[२१०४-२] इसी प्रकार चौबीस दण्डकों में से प्रत्येक के चौबीस दण्डक होते हैं ।

२१०५. एगमेगस्स णं भंते ! षेरइयस्स षेरइयत्ते केबतिया कसायसमुद्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केबतिया पुरेकखडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्यि कस्सइ णत्यि, जस्सअत्यि एगुत्तरियाए जाव अणंता ।

[२१०५ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के नारकपर्याय (नारकत्व) में कितने कषायसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१०५ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! भावी कषायसमुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके एक से लेकर यावत् अनन्त हैं ।

२१०६. एगमेगस्स णं भंते । नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केबतिया कसायसमुद्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केबतिया पुरेकखडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्यि कस्सइ णत्यि, जस्सअत्यि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०६ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के असुरकुमारपर्याय में कितने कषायसमुद्घात अतीत होते हैं ?

[२१०६ उ.] गौतम ! अनन्त होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (उसके) भावी (कषायसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२१०७. एवं जाव गोरहयस्त थणियकुमारसे । पुरेक्खडा इयसे एगुत्तरियाए षेषब्दं, एवं जाव समूसते । वाणवन्तरते जहा असुरकुमारते (सु. २१०६) । ज्योतिसियसे अतीया अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ । जस्तात्तिथ सिय असंखेज्जा सिय अणंता । एवं वेमाणियसे वि सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०८] इसी प्रकार नारक का यावत् स्तनितकुमारपर्याय में (अतीत-अनागत कषाय-समुद्घात समझना चाहिए ।) नारक का पृथ्वीकायिकपर्याय में एक से लेकर जानना चाहिए । इसी प्रकार यावत् मनुष्यपर्याय में समझना चाहिए । वाणवन्तरपर्याय में नारक के असुरकुमारत्व (सु. २१०६ में उक्त) के समान जानना । ज्योतिष्कदेवपर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी का होता है, किसी का नहीं होता । जिसका होता, उसका कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होता है । इसी प्रकार वेमानिकपर्याय में भी कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त (भावी कषायसमुद्घात) होते हैं ।

२१०८. असुरकुमारस्त गोरहयसे अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ । जस्तात्तिथ सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०९] असुरकुमार के भैरविकपर्याय देवतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं । भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२१०९. असुरकुमारस्त असुरकुमारते अतीया अणंता । पुरेक्खडा एगुत्तरिया ।

[२११०] असुरकुमार के असुरकुमारपर्याय में अतीत (कषायसमुद्घात) अनन्त हैं और भावी (कषायसमुद्घात) एक से लेकर कहने चाहिए ।

२११०. एवं नागकुमारसे निरंतर जाव वेमाणियसे जहा गोरहयस्त भणियं (सु. २१०७) तहेव माणियञ्चं ।

[२११०] इसी प्रकार नागकुमारत्व से लेकर लगातार वेमानिकत्व तक जैसे (२१०७ सूत्र में) नैरविक के लिए कहा है, वैसे ही कहना चाहिए ।

२१११. एवं जाव थणियकुमारस्त वि [जाव] वेमाणियसे । एवं सब्बेसि सट्टाणे एगुत्तरिए परट्टाणे जहेव असुरकुमारस्त (सु. २१०८-१०) ।

[२१११] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक भी यावत् वेमानिकत्व में पूर्ववत् कथन समझना चाहिए । विशेष यह है कि इन सबके स्वस्थान में भावी कषायसमुद्घात एक से लगा कर (उत्तरोत्तर अनन्त तक) हैं और परस्थान में (सु. २१०८-१० के अनुसार) असुरकुमार के (भावी कषायसमुद्घात के) समान हैं ।

२११२. पुढिकाइयस्स णेरइयत्ते जाव थणियकुमाररत्ते अतीता अणंता । पुरेकछडा कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सइतिथ सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२११२] पृथ्वीकायिक जीव के नारकपर्याय में यावत् स्तनितकुमारपर्याय में अनन्त (कषायसमुद्घात) अतीत हुए हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त नहीं होते हैं, जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२११३. पुढिकाइयस्स पुढिकाइयत्ते जाव मणूसत्ते अतीता अणंता । पुरेकछडा कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सइतिथ एगुत्तरिया । वाणमंतरत्ते जहर णेरइयसे (सु. २११२) । जोतिसिय-बेमाणियत्ते अतीया अणंता, पुरेकछडा कस्सइ अतिथ कस्सइ णतिथ, जस्सइतिथ सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२११३] पृथ्वीकायिक के पृथ्वीकायिक अवस्था में यावत् मनुष्य-अवस्था में (कषायसमुद्घात) अतीत अनन्त है । इसके भावी (कषायसमुद्घात) किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके एक से लगा कर अनन्त होते हैं । वाणव्यन्तर-अवस्था में (सु. २११२ में उक्त) नारक-अवस्था के समान जानना चाहिए । ज्योतिष्क और वैमानिक-अवस्था में (कषायसमुद्घात) अनन्त अतीत हुए हैं । (उसके) भावी (कषायसमुद्घात) किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२११४. एवं जाव मणूसे वि योग्यवं ।

[२११४] इसी प्रकार (पृथ्वीकायिक के समान) मनुष्यत्व तक में भी जान लेना चाहिए ।

२११५. [१] वाणमंतर-जोतिसिय-बेमाणिया जहा असुरकुमारे (सु. २१०८-१०) । जवरं सट्टाणे एगुत्तरियाए भाणियव्वा जाव बेमाणियस्स बेमाणियत्ते ।

[२११५-१] वाणव्यन्तरी, ज्योतिष्कों और वैमानिकों की वक्तव्यता (सु. २१०८-१० में उक्त) असुरकुमारों की वक्तव्यता के समान समझना चाहिए । विशेष बात यह है कि स्वस्थान में (सर्वत्र) एक से लेकर समझना तथा वैमानिकत्व पर्यन्त कहना चाहिए ।

[२] एवं एते चउबीसं चउबीसा दंडगा ।

[२११५-२] इस प्रकार ये सब पूर्वोक्त चौबीसों दण्डक चौबीसों दण्डकों में कहने चाहिए ।

२११६. [१] मारणतियसमुद्घातो सट्टाणे वि परट्टाणे वि एगुत्तरियाए नेयब्बो जाव बेमाणियस्स बेमाणियत्ते ।

[२११६-१] मारणान्तिकसमुद्घात स्वस्थान में भी और परस्थान में भी पूर्वोक्त एकोत्तरिका से (अर्थात्—एक से लगाकर) समझ लेना चाहिए; यावत् वैमानिक का वैमानिकपर्याय में (यद्या तक श्रन्तिम दण्डक कहना चाहिए ।

[२] एवमेते चउबीसं चउबीसा दंडगा भाणियव्वा ।

इसी प्रकार ये चौबीस दण्डक चौबीसों दण्डकों में कह देना चाहिए ।

२११७. [ १ ] वेउत्तियसमुद्घात्रो जहा कसायसमुद्घात्रो (सु. २१०५-१५) तहा णिरबसेसो भाणियड्बो । णवरं जस्त णतिथ तस्त ण चुच्चति ।

[ २११७-१ ] वेक्षियसमुद्रधात को समग्र वक्तव्यता कषायसमुद्रधात (सु. २१०५ से २११५ तक में उक्त) के समान कहनी चाहिए । विशेष यह है कि जिसके (वेक्षियसमुद्रधात) नहीं होता, उसके विषय में कथन नहीं करना चाहिए ।

[ २ ] एत्थ वि चउबीसं चउबीसा दंडगा भाणियड्बा ।

[ २११७-२ ] यहाँ भी चौबीस दण्डक चौबीस दण्डकों में कहने चाहिए ।

२११८. [ १ ] तेयागसमुद्घात्रो जहा मारण्तियसमुद्घात्रो (सु. २११६) । णवरं जस्त णतिथ ।

[ २११८-१ ] तेजससमुद्रधात का कथन (सु. २११६ में उक्त) मारणान्तियसमुद्रधात के समान कहना चाहिए । विशेष यह है कि जिसके वह होता है, (उसी के कहना चाहिए) ।

[ २ ] एवं एसे वि चउबीसं चउबीसा दंडगा भाणियड्बा ।

[ २११८-२ ] इस प्रकार ये भी चौबीसों दण्डकों में घटित करना चाहिए ।

२११९. [ १ ] एगमेगस्स णं भंते ! जेरइयस्स जेरइयत्ते केवतिया आहारगसमुद्घाता अतीया ?

गोयगा ! णतिथ ।

केवतिया पुरेकछडा ?

गोयमा ! णतिथ ।

[ २११९-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के नारक-अवस्था में कितने आहारकसमुद्रधात अतोत द्वाए हैं ?

[ २११९-१ ] गोतम ! (नारक के नारकपर्याय में अतीत आहारकसमुद्रधात) नहीं होते हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! उसके भावी आहारकसमुद्रधात कितने होते हैं ?

[ उ.] गोतम ! (भावी आहारकसमुद्रधात भी) नहीं होते ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियत्ते । णवरं भणूसत्ते अतीया कस्तइ णतिथ, कस्तइ णतिथ, जस्तइ णतिथ जहण्णेण एक्को वा दो वा, उक्कोसेण तिण्ण ।

केवतिया पुरेकछडा ?

गोयमा ! कस्तइ णतिथ कस्तइ णतिथ, जस्तइ णतिथ जहण्णेण एक्की वा दो वा तिण्ण वा, उक्कोसेण चत्तारि ।

[ २११९-२ ] इसी प्रकार (नारक के) यावत् वेमानिक-अवस्था में (अतीत और अनागत आहारकसमुद्रधात का कथन समझना चाहिए) । विशेष यह है कि (नारक के) मनुष्यपर्याय में

अतीत (आहारकसमुद्घात) किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके जघन्य एक अथवा दो और उत्कृष्ट तीन होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! (नारक के मनुष्यपर्याय में) भावी (आहारकसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार होते हैं।

[३] एवं सब्बजीवाणं मणूसेसु भाणियत्वं ।

[२११९-३] इसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्यों के (अतीत और भावी आहारक-समुद्घात के विषय में जानना चाहिए ।)

[४] मणूसस्स मणूसते अतीया कस्सइ अस्ति, कस्सइ णस्ति, अस्सऽत्त्वि जहणेण एको वा दो वा त्रिणि वा, उक्कोसेण चत्तारि । एवं पुरेकषडा वि ।

[२११९-४] मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत आहारकसमुद्घात किसी के हुए हैं, किसी के नहीं हुए। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या दोनों और उत्कृष्ट चार होते हैं। इसी द्वारा भावी (आहारकसमुद्घात) जानने चाहिए।

[५] एवमेते वि चउबीसं चउबीसा वंडगा जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते ।

[२११९-५] इस प्रकार ये चौबीस दण्डक चौबीसों दण्डकों में यावत् वैमानिकपर्याय में (आहारकसमुद्घात तक) कहना चाहिए।

२१२०. [१] एगमेगस्स णं भंते । णेरह्यस्स णेरह्यसे केवतिया केवलिसमुद्घाया अतीया ? गोयमा । णस्ति ।

केवतिया पुरेकषडा ?

गोयमा ! णस्ति ।

[२१२०-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरायिक के नारकत्वपर्याय में कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१२०-१ उ.] गौतम ! नहीं हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! इसके भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे भी नहीं होते।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते । णवरं मणूसते अतीया णस्ति, पुरेकषडा कस्सइ अस्ति कस्सइ णस्ति, अस्सऽत्त्वि एको ।

[२१२०-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्याय तक में (केवलिसमुद्घात कहना चाहिए।) विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होता। भावी (केवलिसमुद्घात) किसी के होता है, किसी के नहीं होता है। जिसके होता है, उसके एक होता है।

[३] मणूसस्स मणूसते अतीया कस्सइ अस्ति कस्सइ णस्ति, अस्सऽत्त्वि एको । एवं पुरेकषडा वि ।

[ २१२०-३ ] मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत केवलिसमुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके एक होता है। इसी प्रकार भावी (केवलिसमुद्घात के विषय में भी कहना चाहिए ।)

[ ४ ] एवमेते चउबीसं चउबीसा दंडगा ।

[ २१२०-४ ] इस प्रकार ये चौबीसों दण्डक चौबीसों दण्डकों में (जानना चाहिए ।)

**विवेचन**—एक-एक जीव के नारकस्थावि पर्याय में अतीत-अनागत-समुद्घात-प्ररूपण—पहले यह प्रश्न किया गया था कि नारक के अतीत समुद्घात कितने हैं? यहाँ यह प्रश्न किया जा रहा है कि नारक ने नारक-अवस्था में रहते हुए कितने वेदनासमुद्घात किए? अर्थात्— पहले नारकजीव के द्वारा चौबीस दण्डकों में से किसी भी दण्डक में किए हुए वेदनासमुद्घातों की गणना विवक्षित थी, जबकि यहाँ पर केवल नारकपर्याय में किए हुए वेदनासमुद्घातों की गणना विवक्षित है। वर्तमान में जो नारकजीव है, उसने नरकेतरपर्यायों में जो वेदनासमुद्घात किये, वे यहाँ विवक्षित नहीं। इसी प्रकार परस्थानों में भी एक-एक पर्याय ही विवक्षित है। पथा नारक ने असुरकुमार-अवस्था में जो वेदनासमुद्घात किये, उन्हीं की गणना की जाएगी, अन्य अवस्थाओं में किये हुए वेदनासमुद्घात विवक्षित नहीं होंगे। इस प्रकरण में सर्वश्र यह विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए।

( १ ) **वेदनासमुद्घात**— नारकपर्याय में रहे हुए एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्घात हुए हैं, क्योंकि उसने अनन्त बार नारकपर्याय प्राप्त की है और एक-एक नारकभव में भी कम से कम संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। साथ ही किसी एक नारक के मोक्षपर्यान्त अनागतकाल की अपेक्षा से नारकपर्याय में भावी वेदनासमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते। जिस नारक की मृत्यु निकट है, वह कदाचित् वेदनासमुद्घात किये बिना ही, मारणान्तिकसमुद्घात के द्वारा नरक से उद्वर्तन करके मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जाता है, उस नारक को नारकपर्यायिसम्बन्धी भावी वेदनासमुद्घात नहीं होता। जिस नारक के नारकपर्यायिसम्बन्धी भावी समुद्घात हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। जैसे नारकों के नरकपर्यायिसम्बन्धी वेदनासमुद्घातों का निरूपण किया गया, उसी प्रकार नारक के असुरकुमारपर्यायों में स्तनितकुमार पर्यन्त भवन-वासोदेवपर्याय में, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रियपर्याय में, विकवेन्द्रियपर्याय में, पञ्चेन्द्रियपर्याय में, मनुष्य-पर्याय में, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकपर्याय में भी सम्पूर्ण अतीतकाल की अपेक्षा अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत होते हैं। भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। इनमें से जिनकी शेष आयु क्षीण हो गई है और जो उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं, उनकी अपेक्षा से एक, दो या तीन भावी वेदनासमुद्घात कहे गए हैं। जो जीव पुनः नरक में उत्पन्न होने वाला होता है, उसके जघन्यरूप से भी संख्यात भावी वेदनासमुद्घात होते हैं। ये संख्यात समुद्घात भी उसी नारक के समझने चाहिए, जो एक ही बार और वह भी जघन्य स्थिति वाले नरक में उत्पन्न होने वाला हो। जो अनेक बार और दीर्घस्थितिकरूप में उत्पन्न होने वाला हो, उसके भावी वेदनासमुद्घात असंख्यात होते हैं, जो अनन्तबार उत्पन्न होने वाला हो उसके अनन्त होते हैं।

एक-एक असुरकुमार के नैरयिक-अवस्था में अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं, क्योंकि उसने अतीतकाल में अनन्त बार नारक-अवस्था प्राप्त की है और एक-एक नारकभव में संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। एक-एक असुरकुमार के नारक-अवस्था में भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त वेदनासमुद्घात होते हैं। जो असुरकुमार के भव से निकल कर नरकभव में कभी जन्म नहीं लेगा, किन्तु अनन्तर भव में या फिर परम्परा से भनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध हो जाएगा, उसके नारकपर्यायभावी आगामी वेदनासमुद्घात नहीं होते, क्योंकि उसे नारकपर्याय ही प्राप्त होने वाला नहीं है। जो असुरकुमार उस भव के पश्चात् परम्परा से नरक में जाएगा, उसके भावी वेदनासमुद्घात होते हैं तथा उनमें से जो एक बार जघन्य स्थिति वाले नरक में उत्पन्न होगा, उस असुरकुमार के जघन्य भी संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। क्योंकि नरक में वेदना की बहुलता होती है। कई बार जघन्यस्थिति वाले नरक में जाने पर असंख्यात वेदनासमुद्घात होंगे और अनन्त बार नरक में जाए तो अनन्त वेदनासमुद्घात होंगे।

एक-एक असुरकुमार के असुरकुमारावस्था में अतीतकाल में (यानी जब वह असुरकुमारपर्याय में था, तब) अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं तथा इसी अवस्था में भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी वेदनासमुद्घात होते हैं। इनमें से जो असुरकुमार संख्यात्वार, असंख्यात्वार या अनन्तवार पुनः-पुनः असुरकुमाररूप में उत्पन्न होगा, उसके भावी वेदनासमुद्घात क्रमशः संख्यात, असंख्यात या अनन्त होंगे।

जैसे असुरकुमार के असुरकुमारावस्था में वेदनासमुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार असुरकुमार के नागकुमारावस्था में भी यावत् वैमानिक अवस्था में अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं। भावी समुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन तथा उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। युक्ति पूर्ववत् समझनी चाहिए।

जिस प्रकार असुरकुमार के नारक-अवस्था से लेकर वैमानिक अवस्था तक में वेदनासमुद्घात का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार नागकुमार आदि के वेदनासमुद्घात का प्ररूपण भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असुरकुमार के असुरकुमाररूप स्वस्थान में कितने अतीत-अनागत वेदनासमुद्घात हैं? तथा नारक आदि परस्थानों में कितने वेदनासमुद्घात अतीत अनागत हैं? इस विषय में जैसे ऊपर बतलाया गया है, उसी प्रकार नागकुमार आदि से लेकर वैमानिकों तक भी स्वस्थानों में वेदनासमुद्घात समझ लेने चाहिए।

इस प्रकार चौबीस दण्डकों में से प्रत्येक दण्डक का २४ दण्डकों को लेकर कथन करने पर १०५६ आलापक होते हैं, क्योंकि २४ को २४ से गुणा करने पर १०५६ संख्या होती है।<sup>१</sup>

**कषायसमुद्घात—**एक-एक नारक के नारकावस्था में अनन्त कषायसमुद्घात सम्पूर्ण अतीत-काल की अपेक्षा से व्यतीत हुए हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं।

१. प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ५, पृ. ४८०

जिसके होता है, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त हैं। प्रश्न के समय में जो नारक अपने भव के अद्वितम काल में वर्तमान है, वह अपनी नरकायु का क्षय करके कषाय-समुद्घात किये बिना हो नरकभव से निकलकर अनन्तर मनुष्यभव या परम्परा से मनुष्यभव पाकर भोक्ता प्राप्त करेगा, अर्थात् पुनः कदापि नरकभव में नहीं आएगा, उस नारक के नारकपर्याय-सम्बन्धी भावी कषायसमुद्घात नहीं है। जो नारक ऐसा नहीं है, अर्थात् जिसे नरकभव में दीर्घकाल तक रहना है, अथवा जो पुनः कभी नरकभव को प्राप्त करेगा, उसके भावी कषायसमुद्घात होते हैं। उनमें भी जिनको लम्बी नरकायु व्यतीत हो चुको है, केवल योड़ी-सी शेष है, उनके एक, दो या तीन कषायसमुद्घात होते हैं, किन्तु जिनकी आयु संख्यातवर्ष की या असंख्यातवर्ष की शेष है, या जो पुनः नरकभव में उत्पन्न होने वाले हैं, उनके क्रमशः संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी कषायसमुद्घात समझने चाहिए।

एक-एक नारक के असुरकुमारपर्याय में अनन्त कषायसमुद्घात अतीत हुए हैं। जो नारक भविष्य में असुरकुमार में उत्पन्न होगा, उस नारक के असुरकुमारपर्याय सम्बन्धी भावी कषायसमुद्घात हैं और जो नहीं उत्पन्न होगा, उसके नहीं हैं। जिसके हैं, उसके कदाचित् संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी कषायसमुद्घात होते हैं। जो नारक भविष्य में जघन्य स्थिति वाला असुरकुमार होगा, उसकी अपेक्षा से संख्यात कषायसमुद्घात जानने चाहिए, क्योंकि जघन्य स्थिति में संख्यात समुद्घात ही होते हैं, इसका कारण यह है कि उसमें लोभादि कषाय का बाहुल्य पाया जाता है। असंख्यात कषायसमुद्घात उस असुरकुमार की अपेक्षा से कहे हैं, जो एक बार दीर्घकालिकरूप में अथवा कई बार जघन्य स्थिति के रूप में उत्पन्न होगा। जो नारक भविष्य में अनन्तबार असुरकुमारपर्याय में उत्पन्न होगा, उसकी अपेक्षा से अनन्त कषायसमुद्घात समझना चाहिए।

जैसे नारक के असुरकुमारपने में भावी कषायसमुद्घात कहे हैं, वैसे ही नागकुमार से स्तनित-कुमारपर्याय तक में अनन्त अतीत कषायसमुद्घात कहने चाहिए। भावी जिसके हो, उसके जघन्य संख्यात, उत्कृष्ट असंख्यात या अनन्त समझने चाहिए।

नारक के पृथ्वीकायिकपर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी के हैं, किसी के नहीं हैं। पूर्ववत् एक से लगाकर हैं। अर्थात् जघन्य एक, दो या तीन हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त हैं। जो नारक नरक से निकल कर पृथ्वीकायिक होगा, उसके इस प्रकार से भावी कषाय समुद्घात होंगे, यथा—जो पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चभव से, मनुष्यभव से अथवा देवभव से कषायसमुद्घात को प्राप्त होकर एक ही बार पृथ्वीकायिकभव में गमन करेगा, उसका एक, दो बार गमन करने वाले के दो, तीन बार गमन करने वाले के तीन, संख्यात बार जाने वाले के संख्यात, असंख्यात बार गमन करने वाले के असंख्यात और अनन्त बार गमन करने वाले के अनन्त भावी कषायसमुद्घात समझने चाहिए। जो नारक नरकभव से निकल कर पुनः कभी पृथ्वीकायिक का भव ग्रहण नहीं करेगा, उसके भावी कषायसमुद्घात नहीं होते।

जैसे नारक के पृथ्वीकायिकरूप में कषायसमुद्घात कहे, उसी प्रकार नारक के ग्राह्यिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य के रूप में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं।

युक्ति पूर्ववत् है। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं।

नारक के असुरकुमारपर्याय में जैसे अतीत-अनागत कषायसमुद्घातों का प्रतिपादन किया है, वैसे हो यहाँ (वाणव्यन्तर-अवस्था में) कहना चाहिए। नारक के ज्योतिष्क और वैमानिक पर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं और भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

यहाँ तक नारक जीव के चौबीस दण्डकों के रूप में अतीत और अनागत काल की अपेक्षा से कषायसमुद्घात का निरूपण किया गया। असुरकुमार के नारकपने में सकल अतीतकाल की अपेक्षा अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं, भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिस असुरकुमार को नारकरूप में भावी कषायसमुद्घात है, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त हैं। असुरकुमार के असुरकुमाररूप में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। बर्तमान में जो जीव असुरकुमारपर्याय में है, वह भूतकाल में असुरकुमारपर्याय में अनन्तबार कषाय-समुद्घात कर चुका है। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त कहने चाहिए। इसी प्रकार नागकुमारपर्याय में यावत् लगातार वैमानिकपर्याय में जैसे नारक के कषायसमुद्घात कहे हैं, वैसे ही असुरकुमार के भी कहने चाहिए। असुरकुमार के अतीत और भावी कषायसमुद्घात के समान नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के भी नारकपने से लेकर वैमानिकपने तक चौबीस दण्डकों में अतीत और भावी कषायसमुद्घात जानने चाहिए। विशेष यह है कि इन सबके स्वस्थानों में भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो, तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त कहने चाहिए। उदाहरणार्थ—असुरकुमारों का असुरकुमारपर्याय और नागकुमारों का नागकुमारपर्याय स्वस्थान है। शेष तीईस दण्डक परस्थान हैं।

पृथ्वीकायिक के असुरकुमारपर्याय में यावत् स्तनितकुमारपर्याय में सकल अतीतकाल की अपेक्षा से अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं। पृथ्वीकायिक के पृथ्वीकायिकपर्याय में यावत् अप्कायिकत्व, तेजस्कायिकत्व, बायुकायिकत्व, वनस्पति-कायिकत्व से मनुष्यपर्याय तक में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं। पृथ्वीकायिक के वाणव्यन्तरपन में अतीत और अनागत कषायसमुद्घात उनने ही समझने चाहिए, जितने नारकपन में कहे हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक पर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं तथा भावी किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते हैं। जिस पृथ्वी-कायिक के होते हैं, उसके जघन्य असंख्यात और उत्कृष्ट अनन्त होते हैं। पृथ्वीकायिक की तरह यावत् अप्कायिक के नारकपन में, भवनवासीपन में, विकलेन्द्रियपन में, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चपन में और मनुष्यपन में भी जान लेना चाहिए।

वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों की कषायसमुद्घातसम्बन्धी वक्तव्यता असुरकुमारों के समान समझनी चाहिए। विशेषता यही है कि स्वस्थान में सर्वत्र एक से लेकर कहना चाहिए।

अथवा किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो अथवा तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होते हैं। इसी प्रकार तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यच्च से लेकर वैमानिकपर्यन्त के नारकपन से लेकर यावत् वैमानिकपन तक में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं और भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो या तीन हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं।

इस प्रकार ये सब पूर्वोक्त चौबीसों दण्डक चौबीसों दण्डकों में घटाये जाते हैं। अतः सब मिलकर १०५६ दण्डक होते हैं।<sup>१</sup>

मारणान्तिकसमुद्घात स्वस्थान में शीर परस्थान में भी पूर्वोक्त एकोत्तरिका से समझने चाहिए। चौबीस दण्डकों के बाच्य नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के नारकपन आदि स्वस्थानों में और असुरकुमारपन आदि परस्थानों में अतीत मारणान्तिकसमुद्घात अनन्त हैं। तात्पर्य यह है कि नारक के स्वस्थान नारकपर्याय और परस्थान असुरकुमारादि पर्याय में अथवा वैमानिक तक के सभी स्थानों में अतीत मारणान्तिक समुद्घात अनन्त होते हैं। भावी मारणान्तिकसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अनन्त होते हैं।

जैसे नारक के नारकत्व आदि चौबीस स्व-परस्थानों में अतीत और अनागत मारणान्तिक समुद्घात का कथन किया है, उसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक चौबीस दण्डकों के क्रम से स्व-परस्थानों में, अतीत-अनागत-कालिक मारणान्तिकसमुद्घात का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इस प्रकार कुल मिलाकर ये १०५६ आलापक होते हैं।<sup>२</sup>

वैक्रियसमुद्घात का कथन पूर्णरूप से कषायसमुद्घात के समान ही समझना चाहिए। इसमें विशेष व्यात यह है कि जिस जीव में वैक्रियलब्धि न होने से वैक्रियसमुद्घात नहीं होता उसको वैक्रियसमुद्घात नहीं कहना चाहिए। जिन जीवों में वह सम्भव है, उन्हीं में कहना चाहिए। इस प्रकार वायुकायिकों के सिवाय पृथ्वीकायिक आदि चार एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में वैक्रिय-समुद्घात नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इनमें वैक्रियलब्धि नहीं होती। अतएव इनके अतिरिक्त नारकों, भवनपतियों, वायुकायिकों, पंचेन्द्रियतिर्यकों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में वैक्रियसमुद्घात कहना चाहिए। इसी दृष्टि से यहीं कहा गया है - एत्य वि खड्बीसं खड्बीसा खड्गम भाणिवद्या। वैक्रियसमुद्घात में भी चौबीसों दण्डकों की चौबीसों दण्डकों में प्ररूपण करनी चाहिए। इस प्रकार कुल मिला कर १०५६ आलापक होते हैं।<sup>३</sup>

१. (क) अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४१

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५

२. (क) वही, भा. ५

(ख) प्रज्ञापना, मलयदुत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४३

३. (क) वही, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४३

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५

तैजससमुद्घात की प्ररूपणा भारणात्तिकसमुद्घात के सदृश जानना चाहिए। किन्तु इसमें भी विशेषता यह है कि जिस जीव में तैजससमुद्घात हो, उसी का कथन करना चाहिए। जिसमें तैजससमुद्घात सम्भव ही न हो, उसका कथन नहीं करना चाहिए। नारकों, पृथ्वीकायिकादि पांच एकेन्द्रियों एवं विकलेन्द्रियों में तैजससमुद्घात सम्भव ही नहीं है, अतएव उनमें कथन नहीं करना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से किसी दण्डक में विधिरूप से किसी में निषेधरूप से आलापक कहने से कुल १०५६ आलापक होते हैं। ये आलापक चौबीस दण्डकों के क्रम से चौबीसों दण्डकों के कथन के हैं।

**आहारकसमुद्घात-** नारक के नारकपर्याय में आहारकसमुद्घात का सम्भव न होने से अतीत आहारकसमुद्घात नहीं होता। इसी प्रकार भावी आहारकसमुद्घात भी नहीं होता, क्योंकि नारकपर्याय में जीव को आहारकलब्धि नहीं हो सकती और उसके अभाव में आहारकसमुद्घात भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार असुरकुमारादि भवनपतिपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रियपर्याय, दैनेन्द्रियतिर्यङ्गपर्याय में तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक पर्याय में भी भावी आहारकसमुद्घात नहीं होते, क्योंकि इन सबपर्यायों में आहारकसमुद्घात का निषेध है। विशेष यह है कि जब कोई नारक पूर्वकाल में मनुष्यपर्याय में रहा, उस पर्याय की अपेक्षा किसी के आहारकसमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक या दो और उत्कृष्ट तीन होते हैं।

किसी नारक के मनुष्यपर्याय में भावी आहारकसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार होते हैं। जिस प्रकार नारक के मनुष्यपर्याय में आहारकसमुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार असुरकुमार आदि सभी जीवों के अतीत एवं भावी मनुष्यपर्याय में भी कहना चाहिए। किन्तु मनुष्यपर्याय में किसी मनुष्य के अतीत आहारकसमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार आहारकसमुद्घात होते हैं। अतीत आहारकसमुद्घात की तरह भावी आहारकसमुद्घात भी किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार आहारकसमुद्घात होते हैं। इस प्रकार इन २४ दण्डकों में से प्रत्येक को चौबीस दण्डकों में क्रमशः वित्त करके कहना चाहिए। ये सब मिलकर १०५६ आलापक होते हैं। यह ध्यान रहे कि मनुष्य के सिवाय किसी में भी आहारकसमुद्घात नहीं होता है।<sup>१</sup>

**केवलिसमुद्घात-** नारक के नारकपर्याय में अतीत अथवा अनागत केवलिसमुद्घात नहीं होता, क्योंकि नारक केवलिसमुद्घात कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय में वैमानिक के अतीत और अनागत केवलिसमुद्घात का अभाव है, क्योंकि इनमें केवलिसमुद्घात का होना कदापि सम्भव नहीं है। हाँ, नारक प्रादि के मनुष्यपर्याय में केवलिसमुद्घात होता है, किन्तु उसमें भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होता। भावी केवलिसमुद्घात किसी नारक के मनुष्यपर्याय में होता है, किसी के नहीं होता है। जिसके होता है, उसके एक ही होता है। मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत और भावी केवलिसमुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं होता है। जिसके होता है, एक ही होता है। इस प्रकार मनुष्यपर्याय के सिवाय सभी स्व-पर-स्थानों में केवलिसमुद्घात का अभाव कहना

१. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, था. ७, पृ. ४४३

चाहिए। इस प्रकार केवलिसमुद्धात सम्बन्धी चौबीस दण्डकों में से प्रत्येक में चौबीस दण्डक घटित किए गए हैं। ये सब विधिनिषेध के कुल आलापक १०५६ हैं।<sup>१</sup>

**चौबीस दण्डकों को चौबीस दण्डक-पर्यायों में बहुत्व की अपेक्षा से अतीतादि समुद्धात-प्ररूपणा**  
२१२१- [ १ ] णेरहयाणं भंते । णेरहयते केवतिया वेदणासमुग्धाया अतीया ?

गोयमा ! अण्णता :

केवतिया पुरेकछडा ?

गोयमा ! अण्णता । एवं जाव वेमाणियते ।

[ २१२१-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए कितने वेदना-समुद्धात प्रतीत हुए हैं ?

[ २१२१-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! (नारकों के) भावी (वेदनासमुद्धात) कितने होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! अनन्त होते हैं । इसी प्रकार वेमानिकपर्याय तक में (भी अतीत और अनागत अनन्त होते हैं ।)

[ २ ] एवं सब्बजीवाणं भाणियत्वं जाव वेमाणियाणं वेमाणियते ।

[ २१२१-२ ] इसी प्रकार सर्वं जीवों के (अतीत और अनागत वेदनासमुद्धात) यावत् वेमानिकों के वेमानिकपर्याय में (कहने चाहिए ।)

२१२२. एवं जाव तेयगसमुग्धायाऽमो । णवरं उवउज्जिञ्चण णेयत्वं जस्सत्यि वेत्तिष्ठ-तेयगा ।

[ २१२२ ] इसी प्रकार तैजससमुद्धात पर्यन्त कहना चाहिए । विशेष उपयोग लगा कर गमभ लेना चाहिए कि जिनके वैकिय और तैजससमुद्धात सम्भव हैं, (उसी के कहना चाहिए ।)

२१२३ [ १ ] णेरहयाणं भंते । णेरहयते केवतिया आहारगसमुग्धाता अतीया ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेकछडा ?

गोयमा ! नत्थि ।

[ २१२३-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए कितने आहारक-समुद्धात अतीत हुए हैं ?

[ २१२३-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं हुआ है ।

[ प्र.] भगवन् ! (नारकों के) भावी (आहारकसमुद्धात) कितने होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! नहीं होते ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियते । णवरं भृत्यते अतीया असंखेजा, पुरेकछडा असंखेजा ।

[ २१२३-२ ] इसी प्रकार यावत् वेमानिकपर्याय में (अतीत अनागत आहारकसमुद्धात का कथन करना चाहिए ।) विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में असंख्यात अतीत और असंख्यात भावी (आहारकसमुद्धात होते हैं ।)

[३] एवं जाव वेमाणियार्ण । यत्वरं वणस्सइकाइयार्ण मणूसत्ते अतीया अर्णता, पुरेक्खडा अर्णता । मणूसार्ण मणूसत्ते अतीया सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि । सेसा सब्दे जहा षेरइया ।

[२१२३-३] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (कहना चाहिए ।) विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अतीत और अनन्त भावी (आहारकसमुद्घात) होते हैं । मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात अतीत (आहारक समुद्घात) होते हैं । इसी प्रकार भावी (आहारकसमुद्घात भी समझने चाहिए ।) शेष सब नारकों के (कथन के) समान (समझना चाहिए) ।

[४] एवं एते चउबीसं चउबीसा दंडगा ।

[२१२३-४] इस प्रकार इन चौबीसों के चौबीस दण्डक होते हैं ।

२१२४. [१] षेरइयार्ण भर्ते ! षेरइयत्ते केवतिया केवलिसमुख्याया अतीया ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! णत्थि ।

[२१२४-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के नारकपर्याय में यहो दुए कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१२४-१ उ.] गौतम ! नहीं हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! कितने भावी (केवलिसमुद्घात) होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे भी नहीं होते हैं ।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते । यत्वरं मणूसत्ते अतीता णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा ।

[२१२४-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्याय पर्यन्त कहना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होते, किन्तु भावी असंख्यात होते हैं ।

[३] एवं जाव वेमाणिया । यत्वरं वणस्सइकाइयार्ण मणूसत्ते अतीया णत्थि, पुरेक्खडा अर्णता । मणूसार्ण मणूसत्ते अतीया सिय अतिथि सिय णत्थि । जदि अतिथि जहुण्येण एकको वा दो वा तिथिण वा, उक्कोसेण सयपुहर्तं ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा ।

[२१२४-३] इसी प्रकार वैमानिकों तक (समझना चाहिए ।) विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होते । भावी अनन्त होते हैं । मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते । जिसके होता है, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (मनुष्यों के) भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गीतम् ! वे कदाचित् संख्यात् और कदाचित् असंख्यात् होते हैं ।

[४] एवं एते चत्तबीलं चत्तबोसा दंडगा सङ्खे पुच्छाए भाणिष्ठवा जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते ।

[२१२४-४] इस प्रकार इन चौबीस दण्डकों में चौबीस दण्डक बटित करके पृथ्वी के अनुसार वैमानिकों के वैमानिकपर्याय में, यहाँ तक कहने चाहिए ।

**विवेचन—** बहुत्व की अपेक्षा से धर्मोत्तमागत वेदनासमुद्घात लिङ्गपण ... इससे पूर्व एक-एक नैरविक ग्रादि के नैरविकादि पर्याय में अतीत-अनागत वेदनादि समुद्घातों का निरूपण किया गया था । अब बहुत्व की अपेक्षा से नारकादि के उस-उस पर्याय में रहते हुए अतीत-अनागत वेदनादि समुद्घातों का निरूपण किया गया है ।

(१) वेदनादि पांच समुद्घात—नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए अतीत वेदनासमुद्घात अनन्त हुए हैं, क्योंकि अनेक नारकों को अव्यवहारराशि से निकले अनन्तकाल अतीत हो चुका है । इसी प्रकार उनके भावों वेदनासमुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि वर्तमानकाल में जो नारक हैं, उनमें से बहुत-से नारक अनन्तवार पुनः नारक में उत्पन्न होंगे । नारकों के नारकपर्याय में वेदनासमुद्घात कहे हैं, वैसे ही असुरकुमारादि भवनवासीपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रिय-पर्याय में, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वपर्याय में, मनुष्यपर्याय में, वाणव्यन्तरपर्याय में, ज्योतिष्कपर्याय में और वैमानिकपर्याय में, अर्थात् इन सभी पर्यायों में रहते हुए नारकों के अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात अनन्त हैं ।

नारकों के समान नारकपर्याय से वैमानिकपर्याय तक में रहे हुए असुरकुमारादि भवनवासियों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत-अनागत वेदनासमुद्घात का कथन करना चाहिए । अर्थात् नारकों के समान ही वैमानिकों तक सभी जीवों के स्वस्थान और परस्थान में (चौबीस दण्डकों में) अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात कहने चाहिए ।

इस प्रकार बहुत्व वेदनासमुद्घात के आलापक भी कुल मिलाकर १०५६ होते हैं ।

वेदनासमुद्घात के समान अतीत और अनागत कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस समुद्घात भी नारकों से लेकर वैमानिकों तक तथा नारकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय तक चौबीस दण्डकों में कहना चाहिए । इस प्रकार कषायसमुद्घात ग्रादि के भी प्रत्येक के १०५६ आलापक होते हैं ।

**विशेष सूचना** उपर्योग लगाकर अर्थात् ध्यान रखकर जो समुद्घात जिसमें (जहाँ) सम्भव है, उसमें (वहाँ) वे ही अतीत अनागत समुद्घात कहने चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ जिसमें जो समुद्घात सम्भव न हों, वहाँ उसमें वे समुद्घात नहीं कहने चाहिए । इसी का स्पष्टी-करण करते हुए कहा गया है—उवउजिज्ञाण गोयर्व, जस्सत्त्व्य वेदविवरन्तेयगा—अर्थात् जिन नारकादि में वैक्रिय और तैजस समुद्घात सम्भव हैं, उन्हीं में उनका कथन करना चाहिए । उनके अतिरिक्त पृथ्वीकायिकादि में नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनमें वे सम्भव नहीं हैं । अतीत और अनागत

कषायसमुद्घात् एवं मारणान्तिकसमुद्घात् का कथन वेदनासमुद्घात् की तरह सर्वत्र समानरूप से कहना चाहिए।<sup>१</sup>

**आहारकसमुद्घात्**—नारकों के नारक-अवस्था में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात् नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि आहारकसमुद्घात् आहारकशरीर से ही होता है और आहारकशरीर आहारकलब्धि की विद्यमानता में ही होता है। आहारकलब्धि चतुर्दशपूर्वधर भुनियों को ही प्राप्त होती है, जोदह पूर्वों का ज्ञान मनुष्यपर्याय में ही हो सकता है, अन्य पर्याय में नहीं। इस कारण मनुष्येतर पर्यायों में सर्वत्र अतीत अनागत आहारकसमुद्घात् का अभाव है।

जैसे नारकों के नारक पर्याय में आहारकसमुद्घात् सम्भव नहीं है, उसी प्रकार नारकों के असुरकुमारादि भवनवासीपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रियपर्याय में, सिर्यञ्च-पचेन्द्रियपर्याय में, वाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकपर्याय में भी नारकों के अतीत और भावी आहारकसमुद्घात् भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं हैं।

**विशेष**—(नारकों के) मनुष्यपर्याय में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात् असंख्यात हैं, क्योंकि पृच्छा के समय जो नारक विद्यमान हैं, उनमें से असंख्यात नारक ऐसे हैं, जिन्होंने पूर्वकाल में कभी-न-कभी मनुष्यपर्याय प्राप्त की थी, जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे और जिन्होंने एक बार या दो-तीन बार आहारकसमुद्घात् भी किया था। इस कारण नारकों के मनुष्यावस्था में असंख्यात अतीत आहारकसमुद्घात् कहे गए हैं। इसी प्रकार पृच्छा के समय विद्यमान नारकों में से असंख्यात ऐसे हैं, जो नरक से निकल कर अन्तरभव में या परम्परा से मनुष्यभव प्राप्त करके चौदह पूर्वों के धारक होंगे और आहारकलब्धि प्राप्त करके आहारकसमुद्घात् करेंगे। इसी कारण नारकों के मनुष्यपर्याय में भावी समुद्घात् असंख्यात् कहे गए हैं।

नारकों के समान असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक चौकीसों दण्डकों के कम से स्व-परस्थानों में आहारकसमुद्घातों का (मनुष्यपर्याय को छोड़कर) निषेध करना चाहिए। विशेषता यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात् अनन्त कहना चाहिए, क्योंकि अनन्त जीव ऐसे हैं, जिन्होंने मनुष्यभव में चौदह पूर्वों का अध्ययन किया था और यथासम्भव एक, दो या तीन बार आहारकसमुद्घात् भी किया था, किन्तु अब वे वनस्पतिकायिक अवस्था में हैं। अनन्त जीव ऐसे भी हैं, जो वनस्पतिकाय से निकल कर मनुष्यभव धारण करके भविष्य में आहारकसमुद्घात् करेंगे। मनुष्यों के मनुष्यावस्था में पृच्छा-समय से पूर्व अतीत समुद्घात् कदाचित् संख्यात हैं और कदाचित् असंख्यात हैं। इसी प्रकार मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में रहते हुए भावों आहारकसमुद्घात् कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं, क्योंकि वे पृच्छा के समय उत्कृष्टरूप से भी सबसे कम शेषी के असंख्यातवे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं। इस कारण प्रश्न के समय कदाचित् असंख्यात समझा चाहिए तथा प्रत्येक ने यथासम्भव एक, दो या तीन बार आहारकसमुद्घात् किया है, या करेंगे, इस दृष्टि से कदाचित् संख्यात भी हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त शेष सब अगुरकुमारों आदि का कथन नारकों के समान समझा चाहिए।

१. (क) प्रजापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, प. १९२-१९३

(घ) प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, प. ४८४

इस प्रकार यहीं चौबोसों दण्डकों में से प्रत्येक को चौबीस ही दण्डकों पर घटित करना चाहिए। सब मिलकर १०५६ आलापक होते हैं।<sup>१</sup>

**केवलिसमुद्धात्—**नारकों के नारकपर्याय में अतीत और भावी केवलिसमुद्धात् नहीं होता, क्योंकि केवलिसमुद्धात् केवल मनुष्यावस्था में ही हो सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य श्रवस्था में वह सम्भव हो नहीं है। जो जीव केवलिसमुद्धात् कर चुका हो, वह संसार-परिभ्रमण नहीं करता, क्योंकि केवलिसमुद्धात् के पश्चात् मन्त्रमूर्हते में ही नियम से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव नारकों के मनुष्य से भिन्न श्रवस्था में अतीत और अनागत केवलिसमुद्धात् ही नहीं है। इसी प्रकार असुरकुमारादि से लेकर (मनुष्यपर्याय के सिवाय) वैमानिक श्रवस्था में भी अतीत केवलिसमुद्धात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य केवलिसमुद्धात् कर चुके हों, उनका नरक में गमन नहीं होता। अतः मनुष्यावस्था में भी अतीत केवलिसमुद्धात् सम्भव नहीं है। पृच्छा के समय में जो नारक विद्यमान हों, उनमें से असंख्यात् ऐसे हैं, जो मोक्षगमन के योग्य हैं। इस दृष्टि से भावी केवलिसमुद्धात् असंख्यात् कहे गए हैं। इसी प्रकार असुरकुमार आदि भवनवासियों के पृथक्कायिक आदि चार एकेन्द्रियों (वनस्पतियों के सिवाय), तीन विकलेन्द्रियों, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वों, वाण-व्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के भी मनुष्येतरपर्याय में अतीत अथवा अनागत केवलिसमुद्धात् पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं हो सकते। वनस्पतिकायिकों के मनुष्यावस्था में अतीत केवलिसमुद्धात् तो नहीं होते, क्योंकि केवलिसमुद्धात् के पश्चात् उसी भव में मुक्ति प्राप्त हो जाती है, फिर वनस्पतिकायिकों में जन्म लेना संभव नहीं है, किन्तु भावी केवलिसमुद्धात् अनन्त है। इसका कारण यह है कि पृच्छा के समय जां वनस्पतिकायिक जीव हैं, उनमें अनन्त जीव ऐसे भी हैं, जो वनस्पतिकाय से निकल कर अनन्तरभव में या परम्परा से केवलिसमुद्धात् करके सिद्धि प्राप्त करेंगे।

मनुष्यों के मनुष्यावस्था में अतीत केवलिसमुद्धात् कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। जब कई मनुष्य केवलिसमुद्धात् कर चुके हों और मुक्त हो चुके हों और अन्य किसी केवली ने केवलिसमुद्धात् न किया हो, तब केवलिसमुद्धात् का अभाव समझना चाहिए। जब मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में केवलिसमुद्धात् होते हैं तब जबन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) होते हैं।

मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में रहते हुए भावी केवलिसमुद्धात् कदाचित् संख्यात् और कदाचित् असंख्यात् होते हैं। पृच्छा के समय में कदाचित् संख्यात् मनुष्य ऐसे हो सकते हैं, जो भविष्य में मनुष्यावस्था में केवलिसमुद्धात् करेंगे, कदाचित् असंख्यात् भी हो सकते हैं।

इस प्रकार के चौबीस-चौबीस दण्डक हैं, जिनमें अतीत और अनागत केवलिसमुद्धातों का प्रतिपादन किया गया है। से सब मिलकर १०५६ आलापक होते हैं। ये आलापक नैरायिकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय तक स्व-परस्थानों में कहने चाहिए।<sup>२</sup>

१. (क) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोप भा. ७, पृ. ४४४

(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयदोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९९५

२. (क) वही, भा. ५, पृ. ९९९ ले १००१

(ख) प्रज्ञापना, गलयवृत्ति, अभि. रा. कोप. भा. ०, पृ. ८८४

## विविध-समुद्घात-समवहत-असमवहत जीवादि के अल्पबहुत्व की प्रकृष्टिणा

२१२५. एतेसि णं भंते ! जीवाणं वेयणासमुद्घाएणं कसायसमुद्घाएणं मारणंतियसमुद्घाएणं वेउविष्यसमुद्घाएणं तेयगसमुद्घाएणं आहारगसमुद्घाएणं केवलिसमुद्घाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरे कतरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सध्यत्थोवा जीवा आहारगसमुद्घाएणं समोहया, केवलिसमुद्घाएणं समोहया, संखेजजगुणा, तेयगसमुद्घाएणं समोहया असंखेजजगुणा, वेउविष्यसमुद्घाएणं समोहया असंखेजजगुणा, मारणंतियसमुद्घाएणं समोहया अणंतगुणा, कसायसमुद्घाएणं समोहया असंखेजजगुणा, वेदणासमुद्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेजजगुणा ।

[२१२५ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्षियसमुद्घात से, तंजससमुद्घात से, आहारकसमुद्घात से और केवलिसमुद्घात से समवहत एवं असमवहत (अर्थात् जो किसी भी समुद्घात से युक्त नहीं है—सर्वसमुद्घात से रहित) जीवों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२५ उ.] गौतम ! सबसे कम आहारकसमुद्घात से समवहत जीव हैं, (उनसे) केवलिसमुद्घात से समवहत जीव संख्यातगुणा हैं, (उनसे) तंजससमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वैक्षियसमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीव अनन्तगुणा हैं, (उनसे) कषायसमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं और (इन सबसे) असमवहत जीव असंख्यातगुणा हैं ।

२१२६. एतेसि णं भंते ! जेरहयाणं वेदणासमुद्घाएणं कसायसमुद्घाएणं मारणंतियसमुद्घाएणं वेउविष्यसमुद्घाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरे कतरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सध्यत्थोवा जेरहया मारणंतियसमुद्घाएणं समोहया, वेउविष्यसमुद्घाएणं समोहया असंखेजजगुणा, कसायसमुद्घाएणं समोहया संखेजजगुणा, वेदणासमुद्घाएणं समोहया संखेजजगुणा, असमोहया संखेजजगुणा ?

[२१२६ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से एवं वैक्षियसमुद्घात से समवहत और असमवहत नैरयिकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२६ उ.] गौतम ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत नैरयिक हैं, (उनसे) वैक्षियसमुद्घात से समवहत नैरयिक असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) कषायसमुद्घात से समवहत नैरयिक संख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहत नारक संख्यातगुणा हैं और (इन सबसे) असमवहत नारक संख्यातगुणा हैं ।

२१२७. [१] एतेसि णं भंते ! असुरकुमाराणं वेदणासमुद्घाएणं कसायसमुद्घाएणं मारणंतियसमुद्घाएणं वेउविष्यसमुद्घाएणं तेयगसमुद्घाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरे कतरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा असुरकुमारा तेषां समुग्धाएणं समोहया, मारणंतियसमुग्धाएणं समोहया असंखेजजगुणा, वेदणां समुग्धाएणं समोहया असंखेजजगुणा, कषायसमुग्धाएणं समोहया संखेजजगुणा, वेदविद्यसमुग्धाएणं समोहया संखेजजगुणा, असमोहया असंखेजजगुणा ।

[ २१२७-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्रियसमुद्घात से तथा तेजससमुद्घात से समवहृत एवं असमवहृत असुरकुमारों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[ २१२७-८ उ.] गीतम् ! सबसे कम रीजहरामुद्घात से रागवहृत असुरकुमार हैं, (उनसे) मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत असुरकुमार असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहृत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं, (उनसे) वैक्रियसमुद्घात से समवहृत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं और (इन सबसे) असंख्यातगुणा अधिक हैं—असमवहृत असुरकुमार ।

## [ २ ] एवं जाव वणियकुमारा ।

[ २१२७-२ ] इसी प्रकार (का कथन नागकुमार से लेकर) स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

२१२८. [ १ ] एतेषि णं भंते ! पुढविककाइयाणं वेदणां समुग्धाएणं कसायसमुग्धाएणं मारणंतियसमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य क्यरे ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा पुढविककाइया मारणंतियसमुग्धाएणं समोहया, कसायसमुग्धाएणं समोहया संखेजजगुणा, वेदणां समुग्धाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेजजगुणा ।

[ २१२८-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से एवं मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत तथा असमवहृत पृथ्वीकायिकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[ २१२८-१ उ.] गीतम् ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत पृथ्वीकायिक हैं, उनसे कषायसमुद्घात से समवहृत पृथ्वीकायिक संख्यातगुणा हैं, उनसे वेदनासमुद्घात से समवहृत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और इन सबसे असमवहृत पृथ्वीकायिक असंख्यातगुणा हैं ।

[ २ ] एवं जाव वणस्पदकाइया । यदर् सब्बत्थोवा वाडककाइया वेदविद्यसमुग्धाएणं समोहया, मारणंतियसमुग्धाएणं समोहया असंखेजजगुणा, कसायसमुग्धाएणं समोहया असंखेजजगुणा, वेदणां समुग्धाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेजजगुणा ।

[ २१२८-२ ] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) वनस्पतिकायिक तक पृथ्वीकायिक वहृत समझना चाहिए । विशेष यह है कि वायुकायिक जीवों में सबसे कम वैक्रियसमुद्घात से समवहृत वायुकायिक है, उनसे मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत वायुकायिक असंख्यातगुणा है, उनसे कषायवायुकायिक है, उनसे मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत वायुकायिक असंख्यातगुणा है, उनसे कषाय-

समुद्धात से समवहृत वायुकायिक असंख्यातगुणा हैं और उनसे वेदनासमुद्धात से समवहृत वायुकायिक विशेषाधिक हैं तथा (इन सबसे) असंख्यातगुणा अधिक हैं असमवहृत वायुकायिक जीव ।

२१२९. [१] वेदान्दियाणं भंते । वेदणासमुग्धाएणं कसायसमुग्धाएणं मारण्तियसमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरेहितो अप्या वा ४ ?

गोवया ! सबवत्योवा वेदान्दिया मारण्तियसमुग्धाएणं समोहया, वेदणासमुग्धाएणं समोहया असंख्यातगुणा, कसायसमुग्धाएणं समोहया संखेजजगुणा, असमोहया संखेजजगुणा ।

[२१२९-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्धात से, कषायसमुद्धात से तथा मारणान्तिक-समुद्धात से समवहृत एवं असमवहृत द्वीन्द्रिय जीवों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२९-१ उ.] गीतम ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्धात से समवहृत द्वीन्द्रिय जीव हैं । उनसे वेदनासमुद्धात से समवहृत द्वीन्द्रिय असंख्यातगुणा हैं, उनसे कषायसमुद्धात से समवहृत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणा और इन सबसे असमवहृत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणा अधिक हैं ।

[२] एवं जाव चउर्दिया ।

[२१२९-२] इसी प्रकार (द्वीन्द्रिय और) वावत् चतुर्तिन्द्रिय तक (का अल्पबहुत्व जानना चाहिए) ।

२१३०. पञ्चेदियतिरिक्खजोणियाणं भंते । वेदणासमुग्धाएणं कसायसमुग्धाएणं मारण्तियसमुग्धाएणं वेदविद्यसमुग्धाएणं तेयासमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरे कतरेहितो अप्या वा ४ ?

गोवना ! सबवत्योवा पञ्चेदियतिरिक्खजोणिया लेयातसमुग्धाएण समोहया, वेदविद्यसमुग्धाएणं समोहया असंख्यातगुणा, मारण्तियसमुग्धाएणं समोहया असंख्यातगुणा, वेदणासमुग्धाएणं समोहया असंख्यातगुणा, कसायसमुग्धाएणं समोहया संखेजजगुणा, असमोहया संखेजजगुणा ।

[२१३० प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्धात से, कषायसमुद्धात से, मारणान्तिकसमुद्धात से, वेक्रियसमुद्धात से तथा तजससमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंचों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक होते हैं ?

[२१३० उ.] गीतम ! सबसे कम तैजससमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच हैं, उनसे वेक्रियसमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच असंख्यातगुणा हैं, उनसे मारणान्तिकसमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच असंख्यातगुणा है, उनसे वेदनासमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच असंख्यातगुणा हैं तथा उनसे कषायसमुद्धात से समवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच संख्यातगुणा हैं और इन सबसे संख्यातगुणा अधिक हैं, असमवहृत पञ्चेन्द्रियतिर्थंच ।

२१३१. मणुस्साणं भंते । वेदणासमुग्धाएणं कसायसमुग्धाएणं मारण्तियसमुग्धाएणं वेदविद्यसमुग्धाएणं तेयासमुग्धाएणं आहारगसमुग्धाएणं केवलिसमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाणं य कतरे कतरेहितो अप्या वा ४ ?

गोवमा ! सब्बत्योदा मणूसा आहारगसमुद्धाएण समोहया, केवलिसमुद्धाएण समोहया संखेजगुणा, तेयगसमुद्धाएण समोहया संखेजगुणा, वेऽविक्रियसमुद्धाएण समोहया संखेजगुणा, मारणंतियसमुद्धाएण समोहया असंखेजगुणा, वेयणासमुद्धाएण समोहया असंखेजगुणा, कसायसमुद्धा-एवं समोहया संखेजगुणा, असमोहया असंखेजगुणा ।

[ २१३१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्धात से, कषायसमुद्धात से, मारणान्तिकसमुद्धात से, वैक्रियसमुद्धात से, तंजससमुद्धात से, आहारकसमुद्धात से तथा केवलिसमुद्धात से समवहृत एवं असमवहृत मनुष्यों में कौन किससे ग्रल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[ २१३१ उ.] गीतम ! सबसे कम आहारकसमुद्धात से समवहृत मनुष्य हैं, उनसे केवलि-समुद्धात से समवहृत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे तंजससमुद्धात से समवहृत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे वैक्रियसमुद्धात से समवहृत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे मारणान्तिकसमुद्धात से समवहृत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं, उनसे वेदनासमुद्धात से समवहृत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं तथा उनसे कषाय-समुद्धात से समवहृत मनुष्य संख्यातगुणा हैं और इन सबसे असमवहृत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं ।

### २१३२. वाणव्यन्तर-ज्योतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

[ २१३२ ] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के (समुद्धात विषयक अल्पबहुत्व की वक्तव्यता) असुरकुमारों के समान (समझनी चाहिए ।)

विवेचन - समवहृत जीवों की न्यूनाधिकता का कारण - आहारकसमुद्धात किए हुए जीव सबसे कम इसलिए हैं कि लोक में आहारकशरीरधारकों का विरहकाल छह मास का बताया गया है । अतएव किसी समय नहीं भी होते हैं । जब होते हैं, तब भी जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार तक) ही होते हैं । फिर आहारकसमुद्धात आहारक-शरीर के प्रारम्भकाल में ही होता है, अन्य समय में नहीं, इस कारण आहारकसमुद्धात से समवहृत जीव भी थोड़े ही कहे गए हैं ।

आहारकसमुद्धातवालों की अपेक्षा केवलिसमुद्धात से समवहृत जीव संख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि वे एक साथ शतपृथक्त्व की संख्या में उपलब्ध होते हैं ।

उनकी अपेक्षा तंजससमुद्धातयुक्त जीव असंख्यातगुणा होते हैं, क्योंकि पचेन्द्रियतिर्थक्षेत्रों, मनुष्यों और चारों जाति के देवों में तंजससमुद्धात पाया जाता है ।

उनको अपेक्षा वैक्रियसमुद्धात समवहृत जीव असंख्यातगुणा होते हैं, क्योंकि वैक्रियसमुद्धात मारकों, वायुकायिकों, तिर्यञ्चरपचेन्द्रियों, मनुष्यों और देवों में भी पाया जाता है । वैक्रियलब्धि से युक्त वायुकायिकजीव देवों से भी असंख्यातगुणा हैं और वादरपर्याय वायुकायिक स्थलचर पचेन्द्रियों की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा हैं, स्थलचरपचेन्द्रिय, देवों से भी असंख्यात गुण हैं । इस कारण तंजस-समुद्धात समवहृत जीवों की अपेक्षा वैक्रियसमुद्धात से समवहृत जीव असंख्यातगुणे अधिक समझने चाहिए ।

वैक्रियसमुद्घात से समवहृत जीवों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात वाले जीव अनन्तगुणा हैं, क्योंकि निगोद के अनन्तजीवों का असंख्यात्मक भाग सदा विग्रहगति की अवस्था में रहता है और ये प्रायः प्राइषान्तिकसमुद्घात से समवहृत होते हैं।

इससे कषायसमुद्घात समवहृत जीव असंख्यात्मगुणा हैं, क्योंकि विग्रहगति को प्राप्त अनन्त निगोदजीवों की अपेक्षा भी असंख्यात्मगुणा अधिक निगोदिया जीव सदैव कषायसमुद्घात से युक्त उपलब्ध होते हैं। इनसे वेदनासमुद्घात से समवहृत जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि कषायसमुद्घात-समवहृत उन अनन्त निगोदजीवों से वेदनासमुद्घात-समवहृत जीव कुछ अधिक ही होते हैं।

वेदनासमुद्घात-समवहृत जीवों की अपेक्षा असमवहृत (अर्थात् जो किसी भी समुद्घात से युक्त नहीं हों, ऐसे समुद्घात रहित) जीव असंख्यात्मगुणा होते हैं, क्योंकि वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात से समवहृत जीवों की अपेक्षा समुद्घातरहित अकेले निगोदजीव ही असंख्यात्मगुणा अधिक पाए जाते हैं।<sup>१</sup>

नारकों में समुद्घातजनित अल्पबहुत्व — सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत नारक, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात मरण के समय ही होता है और मरने वाले नारकों की संख्या, जीवित नारकों की अपेक्षा अल्प ही होती है। मरने वालों में भी मारणान्तिकसमुद्घात वाले नारक अत्यल्प ही होते हैं, सब नहीं होते। अतः मारणान्तिकसमुद्घात से समवहृत जीव सबसे कम होते हैं।

उनसे वैक्रियसमुद्घात से समवहृत नारक असंख्यात्मगुणा अधिक हैं, क्योंकि रत्नप्रभा आदि सातों नरकपृथिव्यों में से प्रत्येक में बहुत-से नारक परस्पर वेदना उत्पन्न करने के लिए निरन्तर उत्तर-वैक्रिय करते रहते हैं। वैक्रियसमुद्घात समवहृत नारकों की अपेक्षा कषायसमुद्घात वाले नारक असंख्यात्मगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि वे परस्पर कोशादि से सदैव ग्रस्त रहते हैं। कषायसमुद्घात से समवहृत नारकों की अपेक्षा वेदनासमुद्घात से समवहृत नारक संख्यात्मगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि यथासम्भव क्षेत्रजन्य वेदना, परमाधार्मिकों द्वारा उत्पन्न की हुई और परस्पर उत्पन्न की हुई वेदना के कारण प्रायः बहुत-से नारक सदा वेदनासमुद्घात से समवहृत रहते हैं। इनकी अपेक्षा भी असमवहृत नारक संख्यात्मगुणा अधिक हैं, क्योंकि बहुत-से नारक वेदनासमुद्घात के बिना भी वेदना का वेदन करते रहते हैं। इस अपेक्षा से असमवहृत नारक सर्वाधिक हैं।<sup>२</sup>

असुरकुमारादि अवनवासियों में समुद्घात की अपेक्षा अल्पबहुत्व — सबसे कम तैजससमुद्घात वाले हैं, क्योंकि अत्यन्त तीव्र कोश उत्पन्न होने पर ही कदाचित् कोई असुरकुमार तैजससमुद्घात करते हैं। उनकी अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात वाले असुरकुमारादि असंख्यात्मगुणा अधिक हैं, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात मरणकाल में होता है। उनकी अपेक्षा वेदनासमुद्घातसमवहृत असुरकुमारादि असंख्यात्मगुणा हैं, क्योंकि पारस्परिक संग्राम आदि किसी न किसी कारण से बहुत-से असुरकुमार वेदनासमुद्घात करते हैं। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात और वैक्रियसमुद्घात से समवहृत असुर-

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १०१४ से १०१६ तक

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अधि. रा. कोष, भाग ७, पृ. ४४६

२. (क) वही, मलयवृत्ति अ. रा. कोष, भाग ७, पृ. ४४६

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. १०१७ से १०१९ तक

कुमारादि ऋमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अधिक होते हैं। उनसे भी असमवहत असुरकुमारादि असंख्यातगुणा हैं। असुरकुमारों के समान ही नागकुमार आदि स्तनितकुमार पर्यन्त भवनवासी देवों का कथन समझना चाहिए।<sup>१</sup>

पृथ्वीकायिकादि चार एकेन्द्रियों का समुद्रधात की अपेक्षा अल्पबहुत्व—सबसे कम मारणान्तिक समुद्रधात-समवहत पृथ्वीकायादि (वायुकाय को छोड़कर) चार हैं, क्योंकि यह समुद्रधात मरण के समय ही होता है और वह भी किसी को होता है किसी को नहीं। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्रधात से समवहत पृथ्वीकायिक पूर्वोक्त युक्तिवश पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिए। उनकी अपेक्षा वेदनासमुद्रधात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और उनकी अपेक्षा असमवहत पृथ्वीकायिकादि असंख्यातगुणा अधिक हैं।

वायुकायिकों में समुद्रधात की अपेक्षा अल्पबहुत्व—सबसे कम वैक्रियसमुद्रधात से समवहत वायुकायिक हैं। क्योंकि वैक्रियलब्धि वाले वायुकायिक अत्यल्प ही होते हैं। उनसे मारणान्तिक-समुद्रधात-समवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्रधात पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर एवं सूक्ष्म सभी वायुकायिकों में हो सकता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्रधात से समवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा होते हैं, उनसे वेदनासमुद्रधात-समवहत वायुकायिक विशेषाधिक होते हैं, इन सबसे असमवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि सकलसमुद्रधातों वाले वायुकायिकों की अपेक्षा स्वभावस्थ वायुकायिक स्वभावतः असंख्यातगुणा पाये जाते हैं।<sup>२</sup>

द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों में सामुद्रधातिक अल्पबहुत्व—सबसे कम मारणान्तिकसमुद्रधात-समवहत द्वीन्द्रिय हैं, क्योंकि पृच्छासमय में प्रतिनियत द्वीन्द्रिय ही मारणान्तिकसमुद्रधात-समवहत पाए जाते हैं। उनसे वेदनासमुद्रधात-समवहत द्वीन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि सर्वी-गर्भी आदि के सम्पर्क से अत्यधिक द्वीन्द्रियों में वेदनासमुद्रधात होता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्रधात से समवहत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणे हैं, क्योंकि अस्थविक द्वीन्द्रिय में लोधादि कषाय के कारण कषाय-समवहत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा असमवहत द्वीन्द्रिय पूर्वोक्तयुक्ति से संख्यातगुणा हैं। द्वीन्द्रिय के समुद्रधात होता है। इन सबसे भी असमवहत द्वीन्द्रिय पूर्वोक्तयुक्ति से संख्यातगुणा हैं। द्वीन्द्रिय के समान श्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समवहत-असमवहत का अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए।<sup>३</sup>

पंचेन्द्रियतिर्यङ्गों में सामुद्रधातिक अल्पबहुत्व—सबसे कम तंजससमुद्रधात से समवहत-पंचेन्द्रियतिर्यङ्ग हैं, क्योंकि तेजोलब्धि वहुत थोड़ों में होती है। उनकी अपेक्षा वैक्रियसमुद्रधात-समवहत पंचेन्द्रियतिर्यङ्ग असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि वैक्रियलब्धि अपेक्षाकृत बहुतों में होती है। उनसे मारणान्तिकसमुद्रधात-समवहत असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि वैक्रियलब्धि से रहित सम्मुच्चित जलचर, स्थलचर और सेचर, प्रत्येक में पूर्वोक्त वैक्रियसमुद्रधातिकों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्रधात

१. प्रजापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४४६

२. (क) वही, मलयवृत्ति अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४४६

(ख) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १९२१ से १९२३ तक

३. (क) वही, भा. ५, पृ. १९२३-१९२४

(ख) प्रजापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४७

समवहत असंख्यातगुणे होते हैं। किन्हीं-किन्हीं वेक्रियलिंग से रहित या रहित गर्भज तिर्यङ्गचंपचेन्द्रिय में भी मारणान्तिकसमुद्घात पाया जाता है। उनकी अपेक्षा भी वेदनासमुद्घात से समवहत तिर्यंच-पचेन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि भरते हुए जीवों की अपेक्षा न भरते हुए असंख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा भी कषायसमुद्घात-त्रिलंबहत चेन्द्रियतिर्यंच संख्यातगुण हैं और इन सबको अपेक्षा असमवहत पचेन्द्रियतिर्यंच पूर्वोक्तयुक्ति से संख्यातगुणे हैं।<sup>१</sup>

मनुष्यों में वेदनादि-समुद्घात सम्बन्धी अल्पबहुत्व—सबसे कम आहारकसमुद्घात-समवहत मानव हैं, क्योंकि आहारकशरीर का प्रारम्भ करने वाले मनुष्य अत्यल्प ही होते हैं। केवलिसमुद्घात समवहत मनुष्य उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं क्योंकि वे शतपृथक्त्व (दो सौ से तीन सौ तक) को संख्या में पाये जाते हैं। उनकी अपेक्षा तंजससमुद्घात-समवहत, वेक्रियसमुद्घात-समवहत एवं मारणान्तिक-समुद्घात-समवहत मनुष्य उत्तरोत्तर क्रमशः संख्यातगुणा, संख्यातगुणा और असंख्यातगुण। अधिक होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात-समवहत मनुष्य इसलिये अधिक हैं कि वह सम्मूच्छिम-मनुष्यों में भी पाया जाता है। उनसे वेदनासमुद्घात-समवहत मनुष्य असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि म्रियमाण मनुष्यों की अपेक्षा अम्रियमाण संख्यातगुणा अधिक होते हैं और वेदनासमुद्घात अम्रियमाण मनुष्यों में भी होता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात-समवहत मनुष्य संख्यातगुणा अधिक होते हैं और इन सबसे असमवहत (समुद्घातों से रहित) मनुष्य असंख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि अल्पकषायवाले सम्मूच्छिम मनुष्य, उत्कट कषायवालों से सदा असंख्यातगुणा होते हैं। वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में सामुद्घातिक अल्पबहुत्व की वक्तव्यता असुरकुमारों के समान समझनी चाहिए।<sup>२</sup>

**२१३३. कति एं भंते ! कसायसमुद्घाया पण्णता ?**

**गोपमा ! चत्तारि कसायसमुद्घाया पण्णता । तं जहा—कोहसमुद्घाए १ माणासमुद्घाए, २ मायासमुद्घाए ३ लोभसमुद्घाए ४ ।**

[२१३३ प्र.] भगवन् ! कषायसमुद्घात कितने कहे हैं ?

[२१३३ उ.] गौतम ! कषायसमुद्घात चार कहे हैं, यथा—(१) क्रोधसमुद्घात, (२) मानससमुद्घात, (३) मायासमुद्घात और (४) लोभसमुद्घात ।

**२१३४. [१] ऐरइयाएं भंते ! कति कसायसमुद्घाया पण्णता ?**

**गोपमा ! चत्तारि कसायसमुद्घाया पण्णता ?**

[२१३४-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने कषायसमुद्घात कहे हैं ?

[२१३४-१ उ.] गौतम ! उनमें चारों कषायसमुद्घात कहे हैं ।

१. (क) अधि. रा. कोप, भा. ७, पृ. ४४७

(ख) प्रज्ञापना, (प्रसेवकोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १९२५७ से १९२७ तक

२. (क) वही, भा. ५, पृ. १९२७-१९२८

(ख) प्रज्ञापना, मन्त्रवृत्ति, अधि. रा. कोप, भा. ७, पृ. ४४७

[ २ ] एवं जाव वेमाणियाणं ।

[ २१३४-२ ] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) वेमानिकों तक (प्रत्येक दण्डक में चार-चार कषायसमुद्रात् कहे गये हैं) ।

२१३५. [ १ ] एवमेगस्स णं भंते । णेरहयस्स केवद्या कोहसमुग्धाथा अतीता ?

गोवमा ! श्रणंता ।

केवतिया पुरेक्षडा ?

गोवमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णस्थि, जस्सउत्थि जहृण्णेण एको वा दो वा तिणि वा, उकोसेण संखेज्जा वा छसंखेज्जा वा श्रणंता वा ।

[ २१३५-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के कितने क्रोधसमुद्रात् अतीत हुए हैं ?

[ २१३५-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! (उसके) भावी (क्रोधसमुद्रात्) कितने होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! (भावी क्रोधसमुद्रात्) किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते हैं । जिसके होते हैं, उसके जबन्य एक, दो अथवा तीन और उक्षेष्ट संख्यात्, असंख्यात् अथवा अनन्त होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियस्स ।

[ २१३५-२ ] इसी प्रकार (एक-एक असुरकुमार से लेकर एक-एक) वेमानिक तक (समझना चाहिए ।)

२१३६. एवं जाव लोभसमुग्धाए । एते चत्तारि दंडगा ।

[ २१३६ ] इसी प्रकार (क्रोधसमुद्रात् के समान) लोभसमुद्रात् तक (नारक से लेकर वेमानिक तक प्रत्येक के अतीत और अनागत का कथन करना चाहिए ।) इस प्रकार ये चार दण्डक हुए ।

२१३७. [ १ ] णेरहयाणं भंते ! केवतिया कोहसमुग्धाथा अतीया ?

गोवमा ! श्रणंता ।

केवतिया पुरेक्षडा ?

गोवमा ! श्रणंता ।

[ २१३७-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नैरयिकों के कितने क्रोधसमुद्रात् अतीत हुए हैं ?

[ २१३७-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[ प्र.] भगवन् ! उनके भावी क्रोधसमुद्रात् कितने होते हैं ?

[ उ.] गौतम ! वे भी अनन्त होते हैं ।

[ २ ] एवं जाव वेमाणियाणं ।

[ २१३७-२ ] इसी प्रकार वेमानिकों तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

२१३८. एवं जाव लोभसमुग्धाएः । एए कि चत्तारि दंडा ।

[२१३९] इसी प्रकार (कोधसमुद्घात के समान) लोभसमुद्घात तक समझना चाहिए । इस प्रकार ये भाव दंडक हुए ।

२१३९. एगमेगस्त्वं भंते । जेरद्वयस्ते केवतिया कोहृसमुग्धाया अतीया ?

गोयमा । अण्ठाः, एवं जहा वेदाणासमुग्धाष्टो भणिष्ठो (सु. २१०१—४) तहा कोहृसमुग्धाष्टो वि भाणिष्ठवो णिरवसेसं जाव वेमाणिष्ठते । मायासमुग्धाष्टो मायासमुग्धाष्टो य णिरवसेसं जहा भारणंतियसमुग्धाष्टो (सु. २११६) । लोभसमुग्धाष्टो जहा कसायसमुग्धाष्टो (सु. २१०५—१५) । णवरं सञ्चजीवा असुरादी जेरद्वयसु लोभकसाएणं एगुसरिया जेयष्ठा ।

[२१३९ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरायिक के नारकपर्याय में कितने कोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१३९ उ.] गोतम ! वे अनन्त हुए हैं । जिस प्रकार (सु. २१०१-४ में) वेदनासमुद्घात का कथन किया है, उसी प्रकार यहीं कोधसमुद्घात का भी समग्र रूप से यावत् वैमानिकपर्याय तक कथन करना चाहिए । इसी प्रकार मानसमुद्घात एवं मायासमुद्घात से विषय में समग्र कथन (सु. २११६ में उक्त) मारणान्तिकसमुद्घात के समान कहना चाहिए । लोभसमुद्घात का कथन (सु. २१०५-१५ में उक्त) कषायसमुद्घात के समान करना चाहिए । विशेष यह है कि असुरकुमार आदि सभी जीवों का नारकपर्याय में लोभकषायसमुद्घात की प्ररूपणा एक से लेकर करनी चाहिए ।

२१४०. [१] जेरद्वयस्ते केवतिया कोहृसमुग्धाया अतीया ?

गोयमा ! अण्ठाः ।

केवतिया पुरेक्खदा ?

गोयमा ! अण्ठाः ।

[२१४०-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के नारकपर्याय में कितने कोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१४०-१ उ.] गोतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! भावो (कोधसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गोतम ! वे अनन्त होते हैं ।

[२] एवं जाव वेमाणिष्ठते :

[२१४०-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्याय तक कहना चाहिए ।

२१४१. एवं सद्गुण-परद्गुणेतु सञ्चरत्य वि भाणिष्ठवा सञ्चजीवाणं चत्तारि समुग्धाया जाव लोभसमुग्धातो जाव वेमाणियाणं वेमाणिष्ठते ।

[२१४१] इसी प्रकार स्वस्थान-परस्थानों में सर्वत्र (कोधसमुद्घात से लेकर) लोभसमुद्घात तक यावत् वैमानिकों के वैमानिकपर्याय में रहते हुए सभी जीवों के चारों समुद्घात कहने\_चाहिए ।

२१४२. एतेसि चं भंते ! जीवाणं कोहृसमुग्धाएणं माणसमुग्धाएणं मायासमुग्धाएणं लोभसमुग्धाएणं च समोहयाणं अकषायसमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाण च कतरे कतरेहितो अप्या वा ४ ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा जीवा अक्षायसमुग्धाएणं समोहया, माणसमुग्धाएणं समोहया, पर्णत्तगुणा, कोहृसमुग्धाएणं समोहया विसेसाहिया, मायासमुग्धाएणं समोहया विसेसाहिया, लोभसमुग्धाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया संखेजगुणा ।

[२१४२ प्र.] भगवन् ! क्रोधसमुद्घात से, मानसमुद्घात से, मायासमुद्घात से और लोभ-समुद्घात से तथा अक्षायसमुद्घात (अर्थात्—कषायसमुद्घात से भिन्न इह समुद्घातों में से किसी भी समुद्घात) से समवहृत और असमवहृत जीवों से कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४२ उ.] गौतम ! सबसे कम अक्षायसमुद्घात से समवहृत जीव हैं, (उनसे) मानक्षाय से समवहृत जीव अनन्तगुण हैं, (उनसे) क्रोधसमुद्घात से समवहृत जीव विशेषाधिक हैं, (उनसे) मायासमुद्घात से समवहृत जीव विशेषाधिक हैं, (उनसे) लोभसमुद्घात से समवहृत जीव विशेषाधिक हैं और (इन सबसे) असमवहृत जीव संख्यातगुणा हैं ।

२१४३. एतेसि चं भंते ! जेरह्याणं कोहृसमुग्धाएणं माणसमुग्धाएणं मायासमुग्धाएणं लोभसमुग्धाएणं समोहयाणं असमोहयाण च कतरे कतरेहितो अप्या वा ४ ?

गोयमा ! सब्बत्थोवा जेरह्या लोभसमुग्धाएणं समोहया, मायासमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, माणसमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, कोहृसमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, असमोहया संखेजगुणा ।

[२१४३ प्र.] भगवन् ! इन क्रोधसमुद्घात से, मानसमुद्घात से, मायासमुद्घात से और लोभसमुद्घात से समवहृत और असमवहृत नारकों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४३ उ.] गौतम ! सबसे कम लोभसमुद्घात से समवहृत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा मायासमुद्घात से समवहृत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा मानसमुद्घात से समवहृत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा क्रोधसमुद्घात से समवहृत नारक हैं और इन सबसे संख्यातगुणा असमवहृत नारक हैं ।

२१४४. [१] असुरकुमाराणं पुच्छा ।

गोयमा ! सब्बत्थोवा असुरकुमारा कोहृसमुग्धाएणं समोहया, माणसमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, मायासमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, लोभसमुग्धाएणं समोहया संखेजगुणा, असमोहया संखेजगुणा ।

[२१४४-१ प्र.] भगवन् ! क्रोधादिसमुद्घात से समवहृत और असमवहृत असुरकुमारों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४४-१ त.] गीतम् ! सबसे थोड़े ऋषिसमुद्घात से समवहत असुरकुमार हैं, उनसे मानसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं, उनसे मायासमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं और उनसे लोभसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं तथा इन सबसे असमवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं ।

[२] एवं सर्वदेवा जाव वेमाणिया ।

[२१४४-२] इसी प्रकार वैमानिकों तक सर्वदेवों के ऋषादिसमुद्घात के अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिए ।

२१४५. [१] पुढिविककाइयाणं पुच्छा ।

गोपमा ! सर्वत्योवा पुढिविककाइया माणसमुद्घाएणं समोहया, कोहसमुद्घाएणं समोहया विसेसाहिया, मायासमुद्घाएणं समोहया विसेसाहिया, लोभसमुद्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया संखेज्जगुणा ।

[२१४५-१ प्र.] भगवन् ! ऋषादिसमुद्घात से समवहत और असमवहत पृथ्वीकायिकों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४५-१ उ.] गीतम् ! सबसे कम मानसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक हैं, उनसे कोष्ठ-समुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं, उनसे मायासमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और उनसे लोभसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं तथा इन सबसे असमवहत पृथ्वीकायिक संख्यातगुणा हैं ।

[२] एवं जाव पञ्चेदियतिरिक्षजोणिया ।

[२१४५-२] इसी प्रकार पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्क तक के अल्पबहुत्व के विषय में समझना चाहिए ।

२१४६. मणुस्ता जहा जीवा (सु. २१४२) । एवरं माणसमुद्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा ।

[२१४६] मनुष्यों की (अल्पबहुत्व-सम्बन्धी वक्तव्यता सु. २१४२ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है । विशेष यह है कि मानसमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं ।

विवेचन—निष्कर्ष—सर्वप्रथस कषायसमुद्घात के चार प्रकार तथा नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त चौबीस दण्डकों में चारों प्रकार के कपायों के अस्तित्व की प्रलृपणा की गई है । तदनन्तर चौबीस दण्डकों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा ऋषादि चारों समुद्घातों के अतीत-अनागत की प्रलृपणा की गई है । नारक से लेकर वैमानिक तक प्रत्येक में अनन्त अतीत ऋषादि समुद्घात हैं तथा प्रत्येक में भावी ऋषादि समुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते हैं । जो नारक आदि नारकादि भव के अन्तिम समय में वत्तेमान है और जो स्वभाव से ही मन्दकषायो है, वह कषायसमुद्घात किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त होकर नरक से निकल कर मनुष्यभव में उत्पन्न होने वाला है और कषाय-समुद्घात किये बिना ही सिद्ध हो जाएगा, उसके भावों कषायसमुद्घात नहीं होता । उससे भिन्न

प्रकार का जो नारक है, उसके भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं। संख्यातकाल तक संसार में रहने वाले के संख्यात, असंख्यात-काल तक संसार में रहने वाले के असंख्यात और अनन्तकाल तक संसार में रहने वाले के अनन्त भावी कषायसमुद्घात होते हैं। बहुत्व की अपेक्षा से नैरपिकों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत और अनागत क्रोधादि समुद्घात अनन्त हैं। अनागत अनन्त इसलिए है कि पृच्छा के समय बहुत-से नारकादि ऐसे होते हैं, जो अनन्तकाल तक संसार में रहेंगे। इस प्रकार एकवचन और बहुवचन से सम्बन्धित चौबीस दण्डकों के प्रत्येक के चार-चार आलापक होते हैं। यों कुल मिलकर  $24 \times 4 = 96$  आलापक होते हैं।

इसके पश्चात् चौबीस दण्डकों संबंधी नैरविक आदि स्व-परपर्यादों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अतीत अनागत क्रोधादि कषायसमुद्घात की प्रलयणा की गई है।

**विशेष—अत्यन्त तीक्ष्ण पीड़ा** में निरन्तर उद्विग्न रहने वाले नारकों में प्रायः लोभसमुद्घात होता नहीं है। होते हैं तो भी वे अल्प होते हैं।

इसके पश्चात् क्रोध, मान, माया और लोभ समुद्घात से समवहृत और अपमवहृत समुच्चय जीव एवं चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के अल्पबहुत्व की चर्चा की गई है।

**अल्पबहुत्व की चर्चा और स्पष्टीकरण—(१) समुच्चयजीव—**सबसे कम अकषायसमुद्घात से समवहृत जीव हैं। अकषायसमुद्घात का अर्थ है—कषायसमुद्घात से भिन्न या रहित छह समुद्घातों में से किसी भी एक समुद्घात से समवहृत। अकषायसमुद्घात से समवहृत जीव कदाचित् कोई-कोई हो पाए जाते हैं। वे थदि उत्कृष्ट संख्या में हों तो भी कषायसमुद्घात से समवहृत जीवों के अनन्तवें भाग ही होते हैं। उनकी अपेक्षा मानसमुद्घातों से समवहृत जीव अवन्तगुणा अधिक हैं। क्योंकि अनन्त वनस्पतिकायिक जीव पूर्वभव के संस्कारों के कारण मानसमुद्घात में वर्तमान रहते हैं। उनकी अपेक्षा क्रोधसमुद्घात से समवहृत जीव विशेषाधिक है, क्योंकि मानो जीवों की अपेक्षा क्रोधी जीव विशेषाधिक होते हैं। उनसे मायासमुद्घात-समवहृत जीव विशेषाधिक होते हैं। उनसे भी लोभसमुद्घात-समवहृत जीव विशेषाधिक होते हैं, क्योंकि मायो जीवों की अपेक्षा लोभी जीव बहुत अधिक होते हैं। उनसे भी असमवहृत जीव संख्यातगुणा हैं। क्योंकि चारों गतियों में समुद्घातयुक्त जीवों की अपेक्षा समुद्घातरहित जीव संख्यातगुणा अधिक पाये जाते हैं। सिद्ध जीव एकन्द्रियों के अनन्तवें भाग हैं, किन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नहीं की गई है।

**(२) नारकों में कषायसमुद्घातों का अल्पबहुत्व—**नारकों में लोभसमुद्घात सबसे कम है, क्योंकि नारकों को प्रिय वस्तुओं का संयोग नहीं मिलता। अतः उनमें लोभसमुद्घात, होता भी है तो भी अत्य क्रोधादि समुद्घातों से बहुत ही कम होता है। उनकी अपेक्षा मायासमुद्घात, मानसमुद्घात, क्रोधसमुद्घात कमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अधिक हैं। असमवहृत नारक इन सबसे संख्यातगुणा हैं।

**(३) असुरकुमारादि में कषायसमुद्घातों का अल्पबहुत्व—**देवों में स्वभावतः लोभ की प्रचुरता होती है। उससे मानकषाय, क्रोधकषाय एवं मायाकषाय को उत्तरोत्तर अल्पता होती है। इसलिए असुरकुमारादि भवनवासी देवों में सबसे कम क्रोध समुद्घाती, उससे उत्तरोत्तर मान, माया और लोभ से समवहृत अधिक बताए हैं और सबसे अधिक—संख्यातगुणे अधिक असमवहृत असुरकुमार हैं।

पृथ्वीकायिकों में अल्पबहुत्व—भान, क्लेष, माया और लोभ समुद्घात उत्तरोत्तर अधिक हैं। असमवहत पृथ्वीकायिक संख्यात्मक अधिक हैं।

पृथ्वीकायिकों के समान अन्य एकलेन्द्रिय के तथा विकलेन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग की भी वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए।

मनुष्यों में कषायसमुद्घात समवहत संबंधी अल्पबहुत्व—समुच्चयजीवों के समान समझना चाहिए। परन्तु एक बात विशेष है, कि अक्षयसमुद्घात से समवहत मनुष्यों की अपेक्षा मारणसमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यात्मक हैं। क्योंकि मनुष्यों में भान की प्रचुरता पाई जाती है।<sup>१</sup>

### चौबीस वण्डकों में छाड़मस्थिकसमुद्घात प्रलेपण

२१४५. कति णं भंते ! छाड़मस्थिया समुग्धाया पण्णता ?

गोयमा ! छाड़मस्थिया छ समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणंतियसमुग्धाए ३ वेदविद्यसमुग्धाए ४ तेयगसमुग्धाए ५ आहारगसमुग्धाए ६ ।

[२१४७ प्र.] भगवन् ! छाड़मस्थिकसमुद्घात कितने कहे गए हैं ?

[२१४७ उ.] गौतम ! छाड़मस्थिकसमुद्घात छह कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वेक्रियसमुद्घात, (५) तेजस-समुद्घात और (६) आहारकसमुद्घात ।

२१४८. गोरह्याणं भंते ! कति छाड़मस्थिया समुग्धाया पण्णता ?

गोयमा ! खसारि छाड़मस्थिया समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसाय-समुग्धाए २ मारणंतियसमुग्धाए ३ वेदविद्यसमुग्धाए ४ ।

[२१४८ प्र.] भगवन् ! नारकों में कितने छाड़मस्थिकसमुद्घात कहे हैं ?

[२१४८ उ.] गौतम ! नारकों में चार छाड़मस्थिकसमुद्घात कहे गए हैं, यथा—(१) वेदना-समुद्घात (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और (४) वेक्रियसमुद्घात ।

२१४९. असुरकुमाराणं पुच्छा ।

गोयमा ! पांच छाड़मस्थिया समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारणंतियसमुग्धाए ३ वेदविद्यसमुग्धाए ४ तेयगसमुग्धाए ५ ।

[२१४९ प्र.] असुरकुमारों में छाड़मस्थिकसमुद्घातों की पूर्ववत् पृष्ठा है ।

[२१४९ उ.] गौतम ! असुरकुमारों में पांच छाड़मस्थिकसमुद्घात कहे हैं यथा—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वेक्रियसमुद्घात और (५) तेजस-समुद्घात ।

१ (क) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ १०५४ तक

(ख) प्रजापना. मलयशुक्ति, अभिध. रा. कोष भा. ७, पृ ४५२

२१५०. एगिविय-विगलिदिघाणं पुच्छा ।

गोयमा ! लिङ्गि छाउमतिथ्या समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसाय-  
समुग्धाए २ मारण्तियसमुग्धाए ३ । यत्वर्व बाडकाइयां चत्तारि समुग्धाया पण्णता । तं जहा—  
वेदणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारण्तियसमुग्धाए ३ वेउधियसमुग्धाए ४ ।

[२१५० प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में कितने छायस्थिकसमुद्घात  
कहे हैं ?

[२१५० उ.] गौतम ! इनमें तीन समुद्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात,  
(२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात । किन्तु वायुकायिक जीवों में चार छायस्थिकसमु-  
द्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और  
(४) वैक्रियसमुद्घात ।

२१५१. पञ्चेन्द्रियतिरिक्तज्ञोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पञ्च समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २ मारण-  
तियसमुग्धाए ३ वेउधियसमुग्धाए ४ तेयगसमुग्धाए ५ ।

[२१५१ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रियतिरिक्तज्ञों में कितने छायस्थिकसमुद्घात होते हैं ?

[२१५१ उ.] गौतम ! इनमें पांच छायस्थिकसमुद्घात कहे हैं, यथा—(१) वेदनासमुद्घात,  
(२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तेजसमुद्घात ।

२१५२. मणूसारं भंते ! कसि छाउमस्थिया समुग्धाया पण्णता ?

गोयमा ! छ छाउमतिथ्या समुग्धाया पण्णता । तं जहा—वेदणासमुग्धाए १ कसायसमुग्धाए २  
मारण्तियसमुग्धाए ३ वेउधियसमुग्धाए ४ तेयगसमुग्धाए ५ आहारगसमुग्धाए ६ ।

[२१५२ प्र.] भगवन् ! भनुष्यों में कितने छायस्थिकसमुद्घात कहे हैं ?

[२१५२ उ.] गौतम ! इनमें छह छायस्थिकसमुद्घात कहे गए हैं, यथा—(१) वेदना-  
समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तेजस-  
समुद्घात और (६) आहारकसमुद्घात ।

विवेचन—ज्ञोबोस बण्डकों में छायस्थिकसमुद्घात—छयस्थ को होने वाले या छयस्थ  
(जिसे केवलज्ञान न हुआ हो) से सम्बन्धित समुद्घात छायस्थिकसमुद्घात कहलाते हैं । केवली-  
समुद्घात को छोड़कर शेष छहों छायस्थिकसमुद्घात हैं । नारकों में तेजोलब्धि और आहारकलब्धि  
न होने से तेजस और आहारकसमुद्घात के सिवाय शेष ४ छायस्थिकसमुद्घात पाये जाते हैं ।  
असुरकुमारादि भवनपतियों तथा शेष तोन प्रकार के देवों में पांच-पांच छायस्थिकसमुद्घात पाय-  
जाते हैं, क्योंकि देव चौदह पूर्वों के ज्ञान तथा आहारकलब्धि से रहित होते हैं अतएव उनमें आहारक-  
समुद्घात नहीं पाया जाता । पञ्चेन्द्रियतिरिक्तज्ञों में भी ये ही पांच समुद्घात पाये जाते हैं । वायु-  
कायिकों के सिवाय शेष ४ एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में वैक्रिय, तेजस और आहारक को छोड़कर

शेष ३ समुद्घात पाये जाते हैं। वायुकायिकों में वैक्रियसमुद्घात अधिक होता है। मनुष्यों में ६ ही आचरण्यिकसमुद्घात पाए जाते हैं।<sup>१</sup>

**वेदना एवं कथाद्य-समुद्घात से समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपण।**

२१५३. [१] जीवे ण भंते ! वेदणासमुग्धाएण समोहए समोहणिता जे पोगले णिच्छुभति तेहि ण भंते ! पोगलेहि केवतिए लेते अफुणे ? केवलिए लेते फुडे ?

गोयमा ! सरीरप्रमाणमेते लिलांच-बाहुल्येण णितता उद्दिति द्वित्तै लेते अफुणे एवहए लेते फुडे ।

[२१५३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से समवहत हुथा जीव समवहत होकर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, भंते ! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र परिपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ?

[२१५३-२ उ.] गीतम ! विस्तार (विष्कम्भ) और स्थूलता (बाहुल्य) की अपेक्षा शरीर-प्रमाण क्षेत्र को नियम से छहों दिशाओं में व्याप्त (परिपूर्ण) करता है। इतना क्षेत्र आपूर्ण (परिपूर्ण) और इतना ही क्षेत्र स्पृष्ट होता है ।

[२] ले ण भंते ! लेते केवइकालस्स अफुणे केवइकालस्स फुडे ?

गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्रहेण वा एवइकालस्स अफुणे एवइकालस्स फुडे ।

[२१५३-३ प्र.] भगवन् ! वह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण और कितने काल में स्पृष्ट हुआ ?

[२१५३-२ उ.] गीतम ! एक समय, दो समय अथवा तीन समय के विग्रह में (जितना काल होता है) इतने काल में आपूर्ण हुआ और इतने ही काल में स्पृष्ट होता है ।

[३] ले ण भंते ! पोगला केवइकालस्स णिच्छुभति ?

गोयमा ! अहुणेण अंतोमुहुस्तस्स, उक्कोसेण वि अंतोमुहुस्तस्स ।

[२१५३-३ प्र.] भगवन् ! (जीव) उन पुद्गलों को कितने काल में (आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है ?

[२१५३-३ उ.] गीतम ! जघन्य अन्तमुहूर्तं और उत्कृष्ट भी अन्तमुहूर्त में (वह उन पुद्गलों को बाहर निकालता है ।)

[४] ले ण भंते ! पोगला णिच्छुदा समाणा जाइं सत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहण्यति यत्तेति लेसेति संघाएति संघट्टेति परियावेति किलावेति उद्दवेति तेहितो ण भंते ! से जीवे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी दीका), भा. ५, पृ. १०५७ से १०६१

(ख) प्रज्ञापना. मलयनुवृत्ति, अभि. दा, कोण भा. ३, पृ. १३५४

[२१५३-४ प्र.] भगवन् ! वे बाहर निकले हुए पुद्गल वहाँ (स्थित) जिन प्राण, शूत, जीव और सत्त्वों का अभिवात करते हैं, आवर्त्तपतित करते (चककर खिलाते) हैं, घोड़ा-न्सा छूते हैं, संधात (एक जगह इकट्ठा) करते हैं, संधट्टित करते हैं, परिताप पहुँचाते हैं, मूर्च्छित करते हैं और घात करते हैं, हे भगवन् ! इनसे वह जीव कितनी क्रिया वाला होता है ?

[२१५३-४ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है ।

[५] ते र्ण भंते ! जीवा ताद्वा जीवाद्वा कतिकिरिया ?

गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंथकिरिया ।

[२१५३-५ प्र.] भगवन् ! वे जीव उस जीव (के निमित्त) से कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२१५३-५ उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

[६] से र्ण भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसि जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंथकिरिया वि ।

[२१५३-६ प्र.] भगवन् ! वह जीव और वे जीव अन्य जीवों का परम्परा से घात करने से कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२१५३-६ उ.] गौतम ! वे तीन क्रिया वाले भी होते हैं, चार क्रिया वाले भी होते हैं और पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

२१५४. [१] णेरहए र्ण भंते ! वेदनासमुद्घाएणं समोहए ?

एवं जहेव जीवे (सु. २१५३) । णवरं णेरहयामिलावो ।

[२१५४-१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से समवहत हुआ नारक समवहत होकर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र (छहों) प्रश्न ?

[२१५४-१ उ.] गौतम ! जैसा (सु. २१५३/१-२-३-४-५-६ में) समुच्चय जीव के विषय में कहा था, वैसा ही यहाँ कहना चाहिए । विशेष यह है कि यहाँ 'जीव' के स्थान में 'नारक' शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

[२] एवं णिरदसेसं जाव वेमाणिए ।

[२१५४-२] समुच्चय जीव सम्बन्धी वक्तव्यता के समान ही वैमानिक पर्यन्त (चौबीस दण्डकों सम्बन्धी) सामग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

२१५५. एवं कसायसमुद्घातो वि भाणिथस्त्रो ।

[२१५५] इसी प्रकार (वेदनासमुद्घात के समान) कसायसमुद्घात का भी (समग्र) कथन करना चाहिए ।

**विवेचन—** वेदना एवं कथाय समुद्घात से सम्बन्धित क्षेत्र-काल-क्रियावि की प्रखण्डणा—प्रस्तुत प्रकरण में वेदनासमुद्घात से सम्बन्धित ६ बातों की चर्चा की गई है—(१) शरीर से बाहर निकाले जाने वाले पुद्गलों से कितना क्षेत्र परिपूर्ण और स्पृष्ट (व्याप्त) होता है? (२) वह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है? (३) उन पुद्गलों को कितने काल में जीव आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है? (४) बाहर निकाले हुए वे पुद्गल उस क्षेत्र में रहे हुए प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिधातादि करते हैं, इससे वेदनासमुद्घातकर्ता जीव को कितनी क्रियाएं लगती हैं? (५) वे जीव उस जीव के निमित्त से कितनी क्रिया वाले होते हैं? तथा (६) वह जीव और वे जीव अन्य जीवों का परम्परा से घात करने से कितनी क्रिया वाले होते हैं।<sup>१</sup>

**कठिन शब्दों का भावार्थ—** गिर्छुभूति—(शरीर से बाहर) निकालता है। अफुण्णे—आपूर्ण—परिपूर्ण हुआ। फुडे—स्पृष्ट हुआ। विक्खंभ-बाहुल्लेण—विस्तार और स्थलता (मोटाई) की अपेक्षा से। अभिहण्णति—अभिहनन करते हैं—सामने से आते हुए का घात करते हैं, चोट पहुँचाते हैं। व्यवेति—आवर्त—पतित करते हैं—चक्कर खिलाते हैं। लेसेति—किञ्चित् स्पर्श करते हैं, संघारेति—परस्पर संघात (समूहरूप से इकट्ठे) कर देते हैं। संघटटेति—परस्पर मर्दन कर देते हैं। परियादेति—परितप्त करते हैं। किलादेति—यका देते हैं, या मूर्च्छित कर देते हैं। उद्वरेति—भयभीत कर देते या निष्प्राण कर देते हैं।<sup>२</sup>

**छह प्रश्नों का समाधान—** (१) वेदनासमुद्घात से समवहत हुआ जीव जिन वेदनायोग्य पुद्गलों को अपने शरीर से बाहर निकालता है, वे पुद्गल विरहात् लौह स्त्रूपता की अपेक्षा शरीरप्रमाण होते हैं, वे नियम से छहों दिशाओं को व्याप्त करते हैं। अर्थात्—शरीर का जितना विस्तार और जितनी मोटाई होती है, उतना ही क्षेत्र उन पुद्गलों से परिपूर्ण और स्पृष्ट होता है। (२) अपने शरीर प्रमाणमात्र विस्तार और मोटाई वाला क्षेत्र सतत एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से, जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है उतनी दूर तक वेदना-उत्पादक पुद्गलों से आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। आशय यह है कि अधिक से अधिक तीन समय के विग्रह द्वारा जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है, उतना क्षेत्र आत्मप्रदेशों से बाहर निकाले हुए वेदना उत्पन्न करने योग्य पुद्गलों द्वारा परिपूर्ण होता है। इतने ही काल में पूर्वोक्त क्षेत्र आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। (३) जीव उन वेदनाजनक पुद्गलों की जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त से कुछ अधिक काल में बाहर निकालता है। अभिप्राय यह है कि जैसे तीव्रतर दाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति सूक्ष्म पुद्गलों को शरीर से बाहर निकालता है, उसी प्रकार वेदनासमुद्घात-समवहत जीव भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अन्तमुहूर्त काल में वेदना से पीड़ित होकर वेदना उत्पन्न करने योग्य शरीरवर्ती पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है। (४) बाहर निकाले हुए वे पुद्गल प्राण अर्थात्—द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव, जैसे जलौक, चीटी, मक्खी आदि जीव, भूत अर्थात्—वनस्पतिकायिक जीव, जीव—अर्थात्—पंचेन्द्रिय प्राणी, जैसे—छिपकली, सर्प आदि तथा सस्व अर्थात्—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक प्राणी को आहत आदि करने के कारण वेदना-

१. (क) पण्डवणासुत्तं, भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण्यकृत) पृ. ४३९-४४०

(ख) प्रश्नापना. (प्रभेयबोधिनी टीका) भा. ५, १०६८ से १०७४ तक

२. वही, भाग. ५, पृ. १०७१

समुद्घातकर्ता जीव को कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाएँ लगती हैं। मात्राय यह है कि जब वह किसी जीव को परिताप नहीं पहुँचाता, न ही जान से मारता है, तब तीन क्रिया वाला होता है। जब किन्हीं जीवों का परितापन करता है, या मारता है, तब भी जिन्हें आवाधा नहीं पहुँचाता, उनकी अपेक्षा से तीन क्रिया वाला होता है। जब किसी को परिताप पहुँचाता है, तब चार क्रियाओं वाला होता है और जब किन्हीं जीवों का धात करता है, तो उनकी अपेक्षा से पांच क्रियाओं वाला होता है। (५) वेदनासमुद्घात करने वाले जीव के पुद्गलों से स्पृष्ट जीव वेदना-समुद्घातकर्ता जीव को अपेक्षा से कदाचित् तीन क्रियाओं वाले, कदाचित् चार क्रियाओं वाले और कदाचित् पांच क्रियाओं वाले होते हैं। जब वे समुद्घातकर्ता जीव को कोई बाधा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, तब तीन क्रियाओं वाले होते हैं। जब स्पृष्ट होकर वे उस वेदना-समवहत जीव को परिताप पहुँचाते हैं, तब चार क्रियाओं वाले होते हैं। शरीर से स्पृष्ट होने वाले बिच्छु पादि परितापजनक होते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। किन्तु वे स्पृष्ट होने वाले जीव जब उसे प्राणों से रहित कर देते हैं, तब पांच क्रियाओं वाले होते हैं। शरीर से स्पृष्ट होने वाले सर्व आदि अपने दश द्वारा प्राणघातक होते हैं, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। वे पांच क्रियाएँ ये हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी। (६) वेदनासमुद्घात करने वाले जीव के द्वारा मारे जाने वाले वेदनासमुद्घात प्राप्त जीव के द्वारा जो अन्य जीव मारे जाते हैं और अन्य जीवों द्वारा मारे जाने वाले वेदनासमुद्घात को प्राप्त वह जीव और वेदनासमुद्घात को प्राप्त जीव सम्बन्धी पुद्गलों से स्पृष्ट वे जीव, अन्य जीवों के परम्परागत आघात से, पूर्वोक्तयुक्ति के अनुसार कदाचित् तीन, कदाचित् चार एवं कदाचित् पांच क्रियाओं वाले होते हैं।<sup>१</sup>

वेदनासमुद्घातसम्बन्धी इन्हीं छह तथ्यों का समग्र कथन नैरायिक से लेकर वैमानिकपर्यन्त चौबीस दण्डकों में करना चाहिए।

कषायसमुद्घातसम्बन्धी कथन भी वेदनासमुद्घात के पूर्वोक्त कथन के समान जानना चाहिए।<sup>२</sup>

**मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्रख्यणा**

२१५६. [१] जीवे णं भंते ! मारणान्तिकसमुद्घाते णं समोहए समोहणिता जे पोगले गिच्छुभति तेहि णं भंते ! पोगलेहि केवलिए खेते अफुणे केवलिए खेते फुडे ?

गोयमा ! सरोरपमाणमेते विक्खंभ-बाहुल्लेण, ग्रायामेण जाहणेण अंगुलस्स असंखेजतिमाणं, उवकोसेण असंखेजजाहै जोयणाई एवदिसि एवहइए खेते अफुणे एवतिए खेते फुडे।

[२१५६-१ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात के द्वारा समवहत हुआ जीव, समवहत

१. (क) प्रजापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. १०६८ से १०७६ तक

(ख) प्रजापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७ पृ. ४५३

२. वणवणासुलं भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. ४४०

होकर जिन पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से पृथक् करता (बाहर निकालता) है, उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट (निरन्तर व्याप्त) होता है?

[२१५६-१ उ.] गौतम ! विस्तार और बाहल्य (मोटाई) की अपेक्षा से शरीरप्रमाण क्षेत्र तथा लम्बाई (आयाम) में जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग क्षेत्र तथा उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक का क्षेत्र एक दिशा में) आपूर्ण और व्याप्त (स्पृष्ट) होता है।) इतना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा इतना क्षेत्र (व्याप्त) होता है।

[२] से ऊं भंते ! खेते केवतिकालस्स अफुणे केवतिकालस्स फुडे ?

गोदमा ! एगसमइएण वा बुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विगहेण एवतिकालस्स अफुणे एवतिकालस्स फुडे। सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया।

[२१५६-२ प्र.] भगवन् ! वह क्षेत्र कितने काल में पुद्गलों से आपूर्ण होता है तथा कितने काल में स्पृष्ट होता है?

[२१५६-२] गौतम ! वह (उत्कृष्ट असंख्यातयोजन लम्बा क्षेत्र) एक समय, दो समय, तीन समय और चार समय के विग्रह से इतने काल में (उन पुद्गलों से) आपूर्ण और स्पृष्ट हो जाता है।

तत्पश्चात् शेष वही (पूर्वोक्त पाँच तथ्यों से युक्त) कथन (कदाचित् तीन, कदाचित् चार और) कदाचित् पाँच क्रियाएँ लगती हैं; (यहाँ तक करना चाहिए।)

२१५७. एवं णेरइए वि। यवरं आवामेण जारुण्येण सातिरेण जोवणसहस्रं उकोसेण असंखेज्जाइं जोयणाइं एगविसि एवतिए खेते अफुणे एवतिए खेते फुडे; विगहेण एगसमइएण वा बुसमइएण वा तिसमइएण वा, यवरं चउसमइएण ण भण्णति। सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि।

[२१५७] समुच्चय जीव के समान नैरयिक की भी वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए। विशेष यह है कि लम्बाई में जघन्य कुछ अधिक हजार योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन एक ही दिशा में उक्त पुद्गलों से आपूर्ण होता है तथा इतना ही क्षेत्र स्पृष्ट होता है तथा एक समय, दो समय या तीन समय के विग्रह से (उस क्षेत्र का आपूर्ण और व्याप्त होना) कहना चाहिए, चार समय के विग्रह से नहीं कहना चाहिए।

तत्पश्चात् शेष वही सब पूर्वोक्त पाँच तथ्यों वाला कथन (कदाचित् तीन, कदाचित् चार और) कदाचित् पाँच क्रियाएँ होती हैं यहाँ तक करना चाहिए।

२१५८. [१] असुरकुमारस्स जहा जीवपए (सु. २१५६)। यवरं विगहो तिसमइओ जेहा णेरइपस्स (सु. २१५७)। सेसं तं चेव।

[२१५८-१] असुरकुमार की वक्तव्यता भी (सु. २१५६ में समुच्चय) जीवपद के मारणान्तिकसमुद्घातसम्बन्धी वक्तव्यता के अनुसार समझनी चाहिए। विशेष यह है कि असुरकुमार का विग्रह (सु. २१५७ में उक्त) नारक के विग्रह के समान तीन समय का समझ लेना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् है।

[ २ ] जहा असुरकुमारे एवं जाव वेमाणिए । परबरं एन्निविए जहा जीवे विरवतेसं ।

[ २१५८-२ ] जिस प्रकार असुरकुमार के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ (मारे की सब वक्तव्यता) वैमानिक देव तक (कहनी चाहिए ।) विशेष यह है कि एकेन्द्रिय का (मारणान्तिक-समुद्धातसम्बन्धी) समग्र कथन समुच्चय जीव के समान (कहना चाहिए ।)

**विवेचन - निष्कर्ष—**मारणान्तिकसमुद्धात से समवहत होकर जीव तैजसशरीर आदि के अन्तर्गत जो पुद्गल अपने आत्मप्रदेशों से पृथक् करता है (शरीर से निकालता है), उन पुद्गलों से शरीर का जितना विष्कम्भ (विस्तार) और बाहुल्य (मोटाई) होता है, उतना क्षेत्र तथा लम्बाई में जघन्य अपने शरीर से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक का क्षेत्र एक दिशा में परिपूर्ण और व्याप्त होता है । यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उक्त क्षेत्र एक ही दिशा में आपूर्ण और व्याप्त होता है, विदिशा में नहीं, क्योंकि जीव के प्रदेश स्वभावतः दिशा में ही गमन करते हैं । जघन्य और उत्कृष्ट आत्मप्रदेशों द्वारा भी इतने ही क्षेत्र का परिपूरित होना सम्भव है । उत्कृष्टतः लम्बाई में असंख्यात योजन जितना क्षेत्र विग्रहगति की अपेक्षा उत्कृष्ट चार समयों में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है ।

इसके पश्चात् मारणान्तिकसमुद्धात से सम्बन्धित शेष सभी तथ्यों का कथन वेदना-समुद्धातगत कथन के समान करना चाहिए ।<sup>१</sup>

नारक से लेकर वैमानिक तक सभी कथन यावत् 'पांच क्रियाएं लगती हैं', यहाँ तक कहना चाहिए । इसमें विशेष अन्तर यह है - लम्बाई में जघन्य कुछ अधिक हजार योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन जितना क्षेत्र एक दिशा में आपूर्ण और व्याप्त होता है तथा चार समयों में नहीं, किन्तु अधिक से अधिक तीन समयों में विग्रहगति की अपेक्षा वह क्षेत्र आपूर्ण और स्पृष्ट होता है । असुरकुमार से लेकर वैमानिक तक समुच्चय जीवों के समान वक्तव्यता है, किन्तु विग्रहगति की अपेक्षा अधिक से अधिक तीन समयों में यह क्षेत्र आपूर्ण और व्याप्त हो जाता है, यह कहना चाहिए । नारकादि का विग्रह अधिक से अधिक तीन समय का ही होता है । जिसे कोई नारक वायव्यदिशा में और भरतक्षेत्र में वर्तमान हो तथा पूर्वदिशा में पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच अथवा मनुष्य के रूप में उत्पन्न होने वाला हो तो वह प्रथम समय में ऊपर जाता है, दूसरे समय में वायव्यदिशा से पश्चिमादिशा में जाता है और फिर पश्चिमादिशा से पूर्वदिशा में जाता है । इस तरह तीन समय का ही विग्रह होता है, जिसे वैमानिक तक समझ लेना चाहिए ।<sup>२</sup>

असुरकुमारों से लेकर ईशानदेवलोक तक के देव पृथ्वीकायिक, अप्कायिक या वनस्पतिकायिक के रूप में भी उत्पन्न होते हैं । जब कोई संक्षिलष्ट अध्यवसाय वाला असुरकुमार अपने ही कुण्डलादि के एकादेश में पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला हो और वह मारणान्तिकसमुद्धात करे तो

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०७८ से १०७९ तक

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अपि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४५४

२. (क) वही, भा. ७, पृ. ४५५

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०८१-८२

लम्बाई की अपेक्षा जबन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग-मात्र क्षेत्र को ही व्याप्त करता है। एकेश्विय की सारी वक्तव्यता समुच्चय जोव के समान समझनी चाहिए।<sup>१</sup>

**वैक्रियसमुद्घात से प्रवावहा जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्रकृष्टणा**

२१५९. [१] जोवे णं भंते ! वैक्रियसमुद्घातेण समोहए समोहणिता जे पोगले णिछुमति तेहि णं भंते ! पोगलेहि केवतिए खेते अफुणे केवतिए खेते फुडे ?

गोवमा ! सरोरपमाणमेते विवर्खंभ-बाहुलेण, आयामेण जहणेण अंगुलस्स असंख्यज्ञतिमाण उक्कोसेण संखेज्जाइ जोयणाइ एगदिसि विदिसि वा एवतिए खेते अफुणे एवतिए खेते फुडे ।

[२१५९-१ प्र.] भगवन् ! वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुआ जोव, समवहत होकर (वैक्रियोग्य शरीर के अन्दर रहे हुए) जिन पुद्गलों को बाहर निकालता है (आत्मप्रदेशों से पृथक् करता है), उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है, कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ?

[२१५९-१ उ.] गीतम ! जितना शरीर का विस्तार और बाहुल्य (स्थूलत्व) है, उतना तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग तथा उत्कृष्ट संख्यात योजन जितना क्षेत्र एक दिशा या विदिशा में आपूर्ण होता है और उतना ही क्षेत्र व्याप्त होता है ।

[२] से णं भंते ! खेते केवतिकालस्स अफुणे केवतिकालस्स फुडे ?

गोवमा ! एगसमझएण वा दुसमझएण वा तिसमझएण वा विगहेण एवतिकालस्स अफुणे एवतिकालस्स फुडे । सेसं तं खेद जाव पञ्चकिरिया वि ।

[२१५९-२ प्र.] भगवन् ! वह (पूर्वोक्त) क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण होता है और कितने काल में स्पृष्ट होता है ?

[२१५९-२ उ.] गीतम ! एक समय, दो समय या तीन समय के विप्रह से, अर्थात् इतने काल से (वह क्षेत्र) आपूर्ण और स्पृष्ट हो जाता है। शेष सब कथन पूर्ववत् 'पाँच क्रियाएँ लगती हैं', यहां तक कहना चाहिए ।

२१६०. एवं णेरहए वि । णवरं आयामेण जहणेण अंगुलस्स संखेज्जाइभागं, उक्कोसेण संखेज्जाइ जोयणाइ एगदिसि एवतिए खेते० । केवतिकालस्स० तं खेद जहा जीवपद (सु. २१५९) ।

[२१६०] इसी प्रकार नैरयिकों की (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी वक्तव्यता) भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि लम्बाई में जघन्य अंगुल के संख्यातवे भाग तथा उत्कृष्ट संख्यातयोजन जितना क्षेत्र एक दिशा में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। यह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है ?, इसके उत्तर में (सु. २१५९ में उक्त समुच्चय) जीवपद के समान कथन किया गया है ?

२१६१. एवं जहा णेरहयस्स (सु. २१६०) तहा असुरकुमारस्स । णवरं एगदिसि विदिसि वा । एवं जाव धणियकुमारस्स ।

[२१६१] जैसे नारक का वैक्रियसमुद्घातसम्बन्धी कथन किया है, वैसे ही असुरकुमार

१. प्रश्नापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, प. १०८३-८४

का समझना चाहिए। विशेष यह है कि एक दिशा या विदिशा में (उत्तरा क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।) इसी प्रकार स्तनितकुमार पर्यन्त ऐसा ही कथन समझना चाहिए।

२१६२. वाउकाहयस्स जहा जीवपदे (सु. २१५९)। नवरं एवं दिसि।

[२१६२] वायुकायिक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी) कथन समुच्चय जीवपद के समान (सु. २१५९ के प्रनुसार) समझना चाहिए। विशेष यह है कि एक ही दिशा में (उत्तर क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।)

२१६३. पञ्चेन्द्रियतिरिक्षजोणियस्स णिरबसेसं जहा णेरहयस्स (सु. २१६०)।

[२१६३] जिस प्रकार (सु. २१६० में) नेरयिक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी कथन) किया गया है, वैसे ही पञ्चेन्द्रियतिरिक्षज का समग्र कथन करता चाहिए।

२१६४. मणूस-वाणमंतर-ज्ञोतिसिय-वैभाणियस्स णिरबसेसं जहा असुरकुमारस्स (सु. २१६१)।

[२१६४] मनुष्य, नाणदग्न्यमंतर, ज्ञोतिसिय एवं वैभाणियक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी) सम्पूर्ण कथन (सु. २१६१ में उत्तर) असुरकुमार के समान कहना चाहिए।

**विक्रेष्टन-** वैक्रियसमुद्घात की क्षेत्रस्पर्शना, कालपरिणाम और क्रिया प्रलृपणा—(१) वैक्रिय-समुद्घात से समवहत जीव वैक्रिययोग्य शरीर के अन्दर रहे हुए पुद्गलों को बाहर निकालता है (अपने से पृथक् करता है), तब उन पुद्गलों से, शरीर का जितना विस्तार तथा स्थूलत्व है, उतना तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवीं भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र एक दिशा में अथवा विदिशा में आपूर्ण एवं व्याप्त (स्पृष्ट) होता है।

यही लम्बाई में जो उत्कृष्ट संख्यात योजन-प्रमाण क्षेत्र का व्याप्त होना कहा गया है, वह वायुकायिकों को छोड़ कर नारक आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि नारक आदि जब वैक्रियसमुद्घात करते हैं, तब तथाविद्य प्रयत्न विशेष से संख्यात योजन-प्रमाण आत्मप्रदेशों के दण्ड की रचना करते हैं, असंख्यात योजन-प्रमाण दण्ड की रचना नहीं करते। किन्तु वायुकायिक जीव वैक्रियसमुद्घात के समय जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवीं भाग का ही दण्ड रचते हैं। इतने प्रमाण वाले दण्ड की रचना करते हुए नारक आदि उतने प्रदेश में तैजसशरीर आदि के पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से बाहर निकालते हैं, ऐसी स्थिति में उन पुद्गलों से आपूर्ण और व्याप्त वह क्षेत्र लम्बाई में उत्कृष्ट रूप से संख्यात योजन ही होता है। क्षेत्र का यह प्रमाण केवल वैक्रियसमुद्घात से उत्पन्न प्रयत्न की अपेक्षा से कहा गया है।<sup>१</sup>

जब वैक्रियसमुद्घात प्राप्त कीई जीव मारणान्तिकसमुद्घात को प्राप्त होता है और फिर तीव्रतर प्रयत्न के बल से उत्कृष्ट देश में तीन समय के विश्रह से उत्पत्तिस्थान में आता है, उस समय असंख्यात योजन लम्बा क्षेत्र समझना चाहिए। यह असंख्यात योजन-प्रमाण क्षेत्र को आपूर्ण करना मारणान्तिकसमुद्घात-जन्य होने से यहाँ विवक्षित नहीं है। इसी कारण वैक्रियसमुद्घात-जन्य क्षेत्र

१. प्रशापना, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४५६

को संख्यात योजन ही कहा गया है। इसी प्रकार नारक, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच एवं वायुकायिक की अपेक्षा से पूर्वोक्त प्रमाणयुक्त लम्बे क्षेत्र का आपूर्ण होना नियमतः एक दिशा में ही समझना चाहिए। नारक जीव पराधीन और अल्पशृद्धिमान् होते हैं। पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गच भी अल्पशृद्धिमान् होते हैं और वायुकायिक जीव विशिष्ट चेतना से विकल होते हैं। ऐसी स्थिति में जब वे वैकियसमुद्घात का प्रारम्भ करते हैं, तब स्वभावतः ही आत्मप्रदेशों का दण्ड निकलता है और आत्मप्रदेशों से पूर्थक होकर स्वभावतः पुद्गलों का गमन श्रेणी के अनुसार होता है, विशेषी में गमन नहीं होता। इस कारण नारकों, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गचों और वायुकायिकों का पूर्वोक्त आयाम क्षेत्र एक दिशा में ही समझना चाहिए, विदिशा में नहीं, किन्तु भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव तथा मनुष्य स्वेच्छापूर्वक विहार करने वाले हैं—स्वच्छन्द हैं और विशिष्टलक्ष्य से समझ भी होते हैं, प्रतः वे विशिष्ट प्रयत्न द्वारा विदिशा में भी आत्मप्रदेशों का दण्ड निकालते हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है—‘ण्वरं एगद्विसि विविसि चा’ अर्थात्—अमुरकुमारादि भवनवासी आदि चारों निकायों के देव और मनुष्य एक दिशा में भी पूर्वोक्त क्षेत्र को आपूर्ण और व्याप्त करते हैं।<sup>१</sup>

(२) पूर्वोक्त प्रमाण वाला क्षेत्र, विश्रहगति से उत्पत्तिदेश पर्यन्त एक समय, दो समय अथवा तीन समय में विश्रहगति से आपूर्ण एवं व्याप्त होता है। इस प्रकार विश्रहगति की अपेक्षा से मरण-समय से लेकर उत्पत्तिदेश पर्यन्त पूर्वोक्त प्रमाण क्षेत्र का आपूरण से अधिक से अधिक तीन समय में हो जाता है, उसके बीच समय नहीं लगता। वैकियसमुद्घातगत वायुकायिक भी प्रायः त्रिसनाडी में उत्पन्न होता है और त्रिसनाडी की विश्रहगति अधिक से अधिक तीन समय की होती है। इसलिए यहाँ कहा गया है, कि इतने (एक, दो या तीन) समय में पूर्वोक्त प्रमाण वाला क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।<sup>२</sup>

(३-४-५-६) इसके पश्चात् क्रियासम्बन्धी चार तथ्यों का प्ररूपण वेदनासमुद्घात सम्बन्धी कथन के समान ही समझना चाहिए।

### तैजससमुद्घात-समवहृत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१६५. जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्धाएणं समोहृद् समोहृणिता जे पोगले णिच्छुभइ तेहि णं भंते ! पोगलेहि केवतिए खेते अफुणो० ? एवं जहेव वेदव्यिष्यसमुग्धाए (सू. २१५९-६४) तहेव। णवरं आयामेणं जहण्णेण अंगूलस्स असंख्यज्ञतिभागं, सेसं तं चेव। एवं जाय वैमाणियस्स, णवरं पञ्चेन्द्रियतिरिक्षणजोणियस्स एगद्विसि एवतिए खेते अफुण्णे० ?

[२१६५ प्र.] भगवन् ! तैजससमुद्घात से समवहृत जीव समवहृत होकर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, भगवन् ! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण और कितना क्षेत्र स्पृष्ट (व्याप्त) होता है ?

[२१६५ उ.] गीतम ! जैसे (सू. २१५९-६४ में) वैकियसमुद्घात के विषय में कहा है, उसी प्रकार तैजससमुद्घात के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि तैजससमुद्घात निर्गत

१. [क] प्रजापना, मलयवृत्ति, प्र. रा, कोष, भा. ७, प. ४५२

[ख] प्रजापना, (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, प. १०९३-१०९४

२. पञ्चवणासुत्रं (भूलपाठ-टिप्पणी) भा. १, प. ४४१

पुद्गलों से लम्बाई में जघन्यतः अंगुल का असंख्यातवर्भ भाग क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है। (तैजस-समुद्घातसम्बन्धी) शेष वक्तव्यता वैक्रियसमुद्घात की वक्तव्यता के समान है।

इस प्रकार वैमानिक पर्यन्त वक्तव्यता समझनी चाहिए। विशेष यह है कि पंचेन्द्रियतिर्थंच एक हो दिशा में पूर्वोक्त क्षेत्र को आपूर्ण एवं व्याप्त करते हैं।

**विवेचन—तैजससमुद्घात—**तैजससमुद्घात चारों प्रकार के देवनिकायों, पंचेन्द्रियतिर्थंचों और मनुष्यों में ही होता है। इसके अतिरिक्त नारक तथा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में नहीं होता। देवनिकाय आदि तीनों अतीव प्रयत्नशील होते हैं। अतः जब वे तैजससमुद्घात प्रारम्भ करते हैं, तब जघन्यतः लम्बाई में अंगुल का असंख्यातवर्भ भाग क्षेत्र आपूर्ण एवं व्याप्त होता है, संख्यातवर्भ भाग नहीं। पूर्वोक्त प्रमाण क्षेत्र पंचेन्द्रियतिर्थंचों को छोड़कर दिशा या विदिशा में आपूर्ण होता है। पंचेन्द्रियतिर्थंच द्वारा केवल एक दिशा में पूर्वोक्त क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है। शेष सब कथन वैक्रियसमुद्घात के कथन के समान समझना चाहिए।<sup>१</sup>

**आहारकसमुद्घात-समवहृत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया को प्रलेपणा**

२१६६. [१] जीवे णं भंते ! आहारगसमुद्धाएणं समोहृए समोहणिता जे पोगले णिच्छुभृति तेहि णं भंते ! पोगलेहि केवतिए खेते अफुणे केवतिए खेते फुडे ।

गोयमा ! सरीरप्रमाणमेते विकर्षंभ-आहुलेण, आद्यामेण, जहणेण अंगुलस्स असंख्यजिभागं उक्कोसेण संखेउजाइं जोयणाइं एगदिर्सि एवहृए खेते ॥<sup>२</sup>

एगसमहृएण वा दुसमहृएण वा तिसमहृएण वा विगाहेण एवतिकालस्स अफुणे एवतिकालस्स फुडे ।

[२१६६-१ प्र.] भगवन् ! आहारकसमुद्घात से समवहृत जीव समवहृत होकर जिन (आहारकयोभ्य) पुद्गलों को (अपने शरीर से) बाहर निकालता है, भगवन् ! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट (व्याप्त) होता है ?

[२१६६-१ उ.] गीतम ! विष्कम्भ और बाह्ल्य से शरीरप्रमाण मात्र (क्षेत्र) तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवर्भ भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र एक दिशा में (उन पुद्गलों से) आपूर्ण और स्पृष्ट होता है।

[२] से णं भंते ! पोगला केवतिकालस्स णिच्छुभृति ?

गोयमा ! जहणेण वि उक्कोसेण वि अंतोभुहुलस्स ।

[२१६६-२ प्र.] भगवन् ! (आहारकसमुद्घाती जीव) उन पुद्गलों को कितने समय में बाहर निकालता है ?

१. (क) प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११००-११०१

(ख) प्रजापना. मलयवृत्ति, अभिधान. रा. कोष भा. ७, पृ. ४५६

२. पूरक पाठ—‘अफुणे एवहृए खेते फुडे ।

[प्र.] से णं भंते ! केवहृकालस्स अफुणे, केवहृकालस्स फुडे ?

[उ.] गोयमा ! .....

[२१६६-२ उ.] गीतम् ! जचन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुद्दूर्ते में (वह उन पुद्गलों को) बाहर निकालता है।

[३] ते ण भंते ! पोगला णिछ्छूडा समाणा जाइं तत्य पाणाईं भूयाईं जीवाईं सत्ताईं अभिहण्णति जाव उद्देवेति तथो ण भंते ! जीवे कतिकिरिए ?

गोपमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

ते ण भंते ! जीवा तातो जीवामो कतिकिरिया ?

गोपमा ! एवं चेव ।

[२१६६-३ प्र.] भगवन् ! बाहर निकाले हुए वे पुद्गल वहीं जिन प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिघात करते हैं, यावत् उन्हें प्राणरहित कर देते हैं, भगवन् ! उनसे (समुद्धातकर्ता) जीव को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[२१६६-३ उ.] (ऐसी स्थिति में) वह कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ।

[प्र.] भगवन् ! वे आहारकसमुद्धात द्वारा बाहर निकाले हुए पुद्गलों से स्पृष्ट हुए जीव आहारकसमुद्धात करने वाले जीव के निमित्त से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गीतम् ! इसी प्रकार समझना चाहिए ।

[४] से ण भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसि जीवाणं परंपराद्वाएऽं कतिकिरिया ?

गोपमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि ।

[२१६६-४ प्र.] (आहारकसमुद्धातकर्ता) वह जीव तथा (आहारकसमुद्धातगत पुद्गलों से स्पृष्ट) वे जीव, अन्य जीवों का परम्परा से घात करने के कारण कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[२१६६-४ उ.] गीतम् ! (पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार) वे तीन क्रिया वाले, चार क्रिया वाले अथवा पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

२१६७. एवं मणूसे वि ।

[२१६७] इसी प्रकार मनुष्य के आहारकसमुद्धात की वक्तव्यता समझलेनी चाहिए ।

विवेचन—आहारकसमुद्धात सम्बन्धी वक्तव्यता—शरीर के विस्तार और स्थील्य जितना क्षेत्र विष्कम्भ और बाहर्य की अपेक्षा आपूर्ण और स्पृष्ट होता है । लम्बाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवौ भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र उन पुद्गलों से एक दिशा में आपूर्ण स्पृष्ट होता है । वे पुद्गल विदिशा में क्षेत्र को आपूर्ण या व्याप्त नहीं करते ।

विग्रह की अपेक्षा से पूर्वोक्त क्षेत्र एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है ।

आहारकसमुद्धात मनुष्यों में ही हो सकता है । मनुष्यों में भी उन्हीं को होता है, जो चौदह पूर्वों का अध्ययन कर चुके हों । चौदह पूर्वों के अध्येताओं में भी उन्हीं मुनियों को होता है, जो

आहारकलब्धि के धारक हों। अतएव चौदह पूर्वी के पाठक और आहारकलब्धि के धारक मुनिवर जब आहारकसमुद्रधातु करते हैं, तब जघन्य और उत्कृष्ट रूप से पूर्वोक्त क्षेत्र को आत्मप्रदेशों से पृथक् किये पुद्गलों से एक दिशा में आपूर्ण और स्पृष्ट करते हैं, विदिशा में नहीं। विदिशा में जो आपूर्ण स्पृष्ट होता है, उसके लिए दूसरे प्रयत्न की आवश्यकता होती है, किन्तु आहारकलब्धि के धारक तथा आहारकसमुद्रधातु करने वाले मुनि इतने गम्भीर होते हैं कि उन्हें वैसा कोई प्रयोजन नहीं होता। अतः वे दूसरा प्रयत्न नहीं करते।

इसी प्रकार आहारकसमुद्रधातुगति कोई जीव मृत्यु को प्राप्त होता है और विग्रहगति से उत्पन्न होता है, और वह विग्रह अधिक से अधिक तीन समय का होता है।

अन्य सब आहारकसमुद्रधातुविषयक कथन वेदनासमुद्रधातु के समान जानना चाहिए।<sup>१</sup>

दण्डकक्रम से आहारकसमुद्रधातु की वक्तव्यता क्यों? —यद्यपि आहारकसमुद्रधातु मनुष्यों को ही होता है, अतएव समुच्चय जीवपद में जो आहारकसमुद्रधातु को प्रेरणा की गई है, उसमें मनुष्य का अन्तर्भाव हो ही जाता है, तथापि दण्डकक्रम से विशेषरूप से प्राप्त मनुष्य के आहारकसमुद्रधातु का भी उल्लेख किया गया है। इस कारण यहाँ पुनरुक्तिदोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए।<sup>२</sup>

**केवलिसमुद्रधातु-समवहृत अनगार के निर्जीर्ण अन्तिम पुद्गलों की सोकव्यापिता**

२१६८. अणगारस्त णं भंते! भाविताप्यणो केवलिसमुद्रधातुर्णं समोह्यस्त जे चरिता णिङ्गरापोगला सुहुमा णं ते पोगला पणत्ता समणाउसो! सब्बलोगं दिय णं ते फुसित्ता णं छिट्ठंति?

हुंता गोयमा! अणगारस्त भाविताप्यणो केवलिसमुद्रधातुर्णं समोह्यस्त जे चरिता णिङ्गरापोगला सुहुमा णं ते पोगला पणत्ता समणाउसो! सब्बलोगं दिय णं ते फुसित्ता णं छिट्ठंति।

[२१६८ प्र.] भगवन्! केवलिसमुद्रधातु से समवहृत भावितात्मा अनगार के जो चरम (अन्तिम) निर्जीरा-पुद्गल हैं, हे आयुष्मन् श्रमणप्रवर! क्या वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं? क्या वे समस्त लोक को स्पर्श करके रहते हैं?

[२१६८ उ.] हाँ, गौतम! केवलिसमुद्रधातु से समवहृत भावितात्मा अनगार के जो चरम निर्जीरा-पुद्गल होते हैं, हे आयुष्मन् श्रमण! वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं तथा वे समस्त लोक को स्पर्श करके रहते हैं।

२१६९. छड्यमस्ये णं भंते! अणूसे तेसि णिङ्गरापोगलाणं किञ्चि बण्णेण वर्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेण वा फासं जाणति पासति?

१. (क) प्रजापना. मलयवृत्ति. अभि. रा. कोष. भा. ७, पृ. ४५६

(ख) प्रजापना (प्रमेयबोधिनी दीका) भा. ५, पृ. ११०२ - ११०३

२. (क) वही, भा. ७, पृ. ११०७

(ख) प्रजापना. मलयवृत्ति. अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ४५६

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं बुच्चति छुच्चमत्थे णं मणूसे तेसि णिज्जरापोग्गलाणं णो किञ्चि विवरणेण वर्णं गंधेण गंधं रसेण रसं फासेण फासं जाणति पासति ?

गोयमा ! ग्रायणं जंबुदीवे दोवे सव्ववदीव-समुद्राणं सव्ववभंतराए सव्वखुड़डाए बट्टे तेलतापूय-संठाणसंठिए बट्टे रहयक्कवालसंठाणसंठिए बट्टे पुष्करकण्णयासंठाणसंठिते बट्टे पढ़िपुण्णसंब-संठाणसंठिए एगं जोयणसयसहसं आयाम-विक्षुभेण, तिण्णि य जोयणसयसहसाइं सोलस य सहस्राहं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणससे तिण्णि य कोसे अटुदीवीसं च धनुसतं तेरस य अंगुलाइं अङ्गुलं च किञ्चि विसेसाहिए परिवलेवेण पण्णते । देवे णं महिन्द्रीए जाव महासोवे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्रयं गहाय तं अवदालेति, तं महं एगं सविलेवणं गंधसमुग्रयं अवदालेता इणामेव कट्टु केवलकण्णं जंबुदीवं दीवं तिहि अच्छराणिवालेहि तिसत्तखुतो अणुपरियद्विसा णं हृष्वमागच्छेऽजा से णूणं गोयमा ! से केवलकण्णे जंबुदीवे वीवे तेर्हि धाणपोग्गलेहि फुडे ?

हंता फ़डे ।

छउमत्थे णं गोतमा ! मणूसे तेसि धाणपोग्गलाणं किञ्चि वर्णेण वर्णं गंधेण गंधं रसेण रसं फासेण फासं जाणति पासति ?

भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चति छुच्चमत्थे णं मणूसे तेसि णिज्जरापोग्गलाणं णो किञ्चि वर्णेण वर्णं गंधेण गंधं रसेण रसं फासेण फासं जाणति पासति,, एसुहुमा णं ते घोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ।

[२१६९ प्र.] भगवन् ! क्या छ्यस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के चक्षु-इन्द्रिय (वर्ण) से किञ्चित् वर्ण को, व्याणेन्द्रिय (गन्ध) को रसनेन्द्रिय (रस) से रस को, अथवा स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श को जानता-देखता है ?

[२१६९ उ.] गोतम ! यह अर्थं (बात) शक्य (समर्थ) नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण ऐसा कहते हैं कि छ्यस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के चक्षु-इन्द्रिय से वर्ण को, व्याणेन्द्रिय से गन्ध को, रसनेन्द्रिय से रस को तथा स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श को किञ्चित् भी नहीं जानता-देखता ?

[उ.] गोतम ! यह जम्बूदीप नामक द्वीप समस्त द्वीप-समुद्रों के बीच में है, सबसे छोटा है, वृत्ताकार (गोल) है, तेल के पूए के भाकार का है, रथ के पहिये (चक्र) के आकार-सा गोल है, कमल की कणिका के आकार-सा गोल है, परिपूर्ण चन्द्रमा के आकार सा गोल है। लम्बाई और चौड़ाई (आयाम एवं विष्कम्भ) में एक लाख योजन है। तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक-सौ अटुदाईस धनुष, साढ़े तेरह अंगुल से कुछ विशेषाधिक परिधि से युक्त कहा है। एक महद्विक यावत् महासौख्यसम्पन्न देव विलेपन सहित सुगन्ध की एक बड़ी डिबिया को (हाथ में लेकर) उसे खोलता है। फिर विलेपनयुक्त सुगन्ध की खुली हड्डी उस बड़ी डिबिया को, इस प्रकार

हाथ में ले करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप नामक द्वीप को तीन चुटकियों में इककीस बार घूम कर बाषप स शीघ्र आ जाय, तो हे गौतम ! (यह बताओ कि) क्या वास्तव में उन गन्ध के पुद्गलों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप सृष्ट हो जाता है ?

[उ.] हाँ, भर्ते ! स्पृष्ट (व्याप्त) हो जाता है ।

[प्र.] भगवन् ! क्या छ्यस्थ मनुष्य (समग्र जम्बूद्वीप में व्याप्त) उन द्वाण-पुद्गलों के बर्णों को चक्षु से, गन्ध को नासिका से, रस को रसेन्द्रिय से और स्पर्श को स्पर्शेन्द्रिय से किंचित् जान-देख पाता है ?

[उ.] हे गौतम ! यह अथे समर्थ (शक्य) नहीं है । (भगवान्—) इसी कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि छ्यस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के बर्ण को नेत्र से, गन्ध को नाक से, रस को जिह्वा से और स्पर्श को स्पर्शेन्द्रिय से किंचित् भी नहीं जान-देख पाता । हे आयुष्मन् अमण ! वे (निर्जरा-) पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं तथा वे समग्र लोक को स्पर्श करके रहे हुए हैं ।

**विवेचन—**केवलिसमुद्रधात-समवहृत भावितात्मा अनगार के चरम-निर्जरा-पुद्गल—प्रस्तुत केवलिसमुद्रधात प्रकरण में दो बातों को स्पृष्ट किया गया है—(१) यह बात यथार्थ है कि केवलि-समुद्रधात से समवहृत भावितात्मा अनगार के चरम (चतुर्थ) समवर्ती निर्जरा-पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं तथा वे समग्र लोक को व्याप्त करके रहते हैं । (२) छ्यस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के बर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को किंचित् भी नहीं जान-देख सकते, क्योंकि एक तो वे पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, दूसरे वे पुद्गल समग्र लोक में व्याप्त हैं, कहीं भी कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ वे न हों और समग्र लोक तो बहुत ही बड़ा है । लोक का एक भाग जम्बूद्वीप है, जो समस्त द्वीप-समुद्रों के बीच में है, और सबसे छोटा है, क्योंकि जम्बूद्वीप से लेकर सभी द्वीप-समुद्रों का विस्तार दुगुना-दुगुना है । अर्थात् जम्बूद्वीप से आगे के लबणसमुद्र और धातकीखण्ड प्रादि द्वीप, अपने से पहले वाले द्वीप-समुद्रों से लम्बाई-चौड़ाई में दुगुने और परिधि में बहुत बढ़े हैं । तेल में पकाये हुए पूए के समान या रथ के चक्र के समान अथवा कमलकणिका के समान आकार का या पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल जम्बूद्वीप भी लम्बाई-चौड़ाई में एक लाख योजन का है । तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा १३३ अंगुल से कुछ अधिक की उसकी परिधि है । कोई महर्द्धिक एवं यावत् महासुखी, महाबली देव विलेपन द्रव्यों से आच्छादित एवं गन्धद्रव्यों से परिपूर्ण एक डिबिया को लेकर उसे खोले श्रीर फिर उसे लेफर सारे जम्बूद्वीप के, तीन चुटकियाँ बजाने जितने समय में इककीस बार चक्कर लगा कर आ जाए, इतने समय में ही सारा जम्बूद्वीप उन गंध-द्रव्यों (पुद्गलों) से व्याप्त हो जाता है । सारे लोक में व्याप्त को तो दूर रहा, लोक के एक प्रदेश—जम्बूद्वीप में व्याप्त गन्धपुद्गलों को भी जैसे छ्यस्थ मनुष्य पांचों इन्द्रियों से जान-देख नहीं सकता ; इसी प्रकार छ्यस्थ मनुष्य केवलिसमुद्रधात-समवहृत केवली भगवान् द्वारा निर्जीर्ण अन्तिम पुद्गलों को नहीं जान-देख सकता, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं तथा सर्वत्र फैले हुए हैं ।<sup>१</sup>

**कठिन शब्दों का मावार्थ—**चरमा णिज्जरत्योग्यला—केवलिसमुद्रधात के चीथे समय के निर्जीर्ण पुद्गल । वर्णणेण—वर्णग्राहक नेत्रेन्द्रिय से । धाणेण—गन्धग्राहक नासिका—द्वाणेन्द्रिय—से

रसेण—रसग्राहक रसनेन्द्रिय से । कातेण—स्पर्शग्राहक स्पर्शेन्द्रिय से । सञ्चयन्तराए—सब के बीच में । सञ्चयन्त्राए—सबसे छोटे । तेलापृथसंठाणसंठिए—तेल के मालपूए के समान आकार का । रहचक्रकदालसंठाणसंठिए—रथ के चक्र के समान गोलाकार । परिक्षेपेण—परिष्वि से युक्त । केवल-कण्ठ—सम्पूर्ण । अच्छरा-णिवातेहि—चुटकियाँ बजा कर । अणपरियद्वित्ता—चक्र कर लगाकर या चूमकर । फुडे—स्पृष्ट है—व्याप्त है ।<sup>१</sup>

आशय—इस प्रकरण को इस प्रकार से प्रारम्भ करने का आशय यह है कि केवलिसमुद्घात से समवहत मुनि के केवलिसमुद्घात के समय शरीर से बाहर निकाले हुए चरमनिर्जरा-पुद्गलों के द्वारा समग्र लोक व्याप्त है । जिसे केवलि ही जान-देख नहीं है, वह उत्तम मनुष्य नहीं । छद्यस्थ मनुष्य सामान्य या विशेष किसी भी रूप में उन्हें जान-देख नहीं सकता ।<sup>२</sup>

### केवलिसमुद्घात का प्रयोजन

२१७०. [१] कम्हा णं भंते ! केवली समुद्घायं गच्छति ?

गोयमा ! केवलिसस चत्तारि कम्मंसा अक्षीणा अवेदिया अणिलिजणा भवंति । तं जहा-देयणिज्जे १ आउए २ णामे ३ गोए ४ । सञ्चयन्त्राएसे से वेदणिज्जे कम्मे भ ति, सञ्चयत्थोवे से आउए कम्मे भवति ।

विसमं सम करेति बंधणेहि छितीहि य ।

विसमसमीकरणयाए बंधणेहि छितीहि य ॥ २२८ ॥

एवं खलु केवली समोहण्णति, एवं खलु समुद्घायं गच्छति ।

[२१७०-१ प्र.] भगवन् ! किस प्रयोजन से केवली समुद्घात करते हैं ?

[२१७०-१ उ.] गोतम ! केवली के चार कर्माण क्षीण नहीं हुए हैं, वेदन नहीं किये (भोगे नहीं गए) हैं, निर्जरा को प्राप्त नहीं हुए हैं, (चार कर्म) इस प्रकार है—(१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र । उनका वेदनीयकर्म सबसे अधिक प्रदेशों वाला होता है । उनका सबसे कम (प्रदेशों वाला) आयुकम्मे होता है ।

[गाथार्थ—] वे बन्धनों और स्थितियों से विषम (कर्म) को सम करते हैं । (वस्तुतः) बन्धनों और स्थितियों के विषम कर्मों का समीकरण करने के लिए केवली केवलिसमुद्घात करते हैं तथा इसी प्रकार केवलिसमुद्घात को प्राप्त होते हैं ।

[२] सञ्चे वि णं भंते ! केवली समोहण्णति ? सञ्चे वि णं भंते ! केवली समुद्घायं गच्छति ?

गोयमा ! पो इणट्ठे समट्ठे,

जस्साऽऽउएण सुत्त्वाइं बंधणेहि छितीहि य ।

अशोकगात्रकम्माइं समुद्घायं से ण गच्छति ॥ २२९ ॥

१. प्रज्ञापना. (प्रभेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १११४ से १११६ तक

२. एणवणासुत्ता भा. १, पृ. ४४३

अगंतूणं समुद्धाय अणता केवली जिषा ।  
जर-मरणविष्यमुक्ता सिद्धि वर्गात् गता ॥ २३० ॥

[ २१७०-२ प्र.] मगवन् ! क्या सभी केवली भगवान् समुद्धात करते हैं ? तथा क्या सब केवली समुद्धात को प्राप्त होते हैं ?

[ २१७०-२ उ.] गीतम् ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[ गाथार्थ— ] जिसके भवोपग्राही कर्म बन्धन एवं स्थिति से आयुष्यकर्म के तुल्य होते हैं, वह केवली केवलिसमुद्धात नहीं करता ।

समुद्धात किये बिना ही अनन्त केवलज्ञानी जिनेन्द्र जरा और मरण से सर्वथा रहित हुए हैं तथा शेष सिद्धिगति को प्राप्त हुए हैं ।

**विवेचन**—केवली द्वारा केवलिसमुद्धात क्यों और क्यों नहीं ?—प्रश्न का आशय यह है कि केवली तो कृतकृत्य तथा अनन्तज्ञानादि से परिपूर्ण होते हैं, उनका प्रयोजन शेष नहीं रहता, फिर उन्हें केवलिसमुद्धात करने की क्या आवश्यकता ?

इसका समाधान स्वयं गाथाकान्त करते हैं कि केवली वजीर्ण इष से कृतकृत्य, आठों कर्मों से रहित, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हुए, उनके भी चार अधातीकर्म शेष हैं, जो कि भवोपग्राही कर्म होते हैं । अतएव केवली के चार प्रकार के कर्म क्षीण नहीं हुए, क्योंकि उनका पूर्णतः वेदन नहीं हुआ । कहा भी है—‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म ।’ कर्मों का क्षय तो निषम से तभी होता है, जब उनका प्रदेशों से या विपाक से वेदन कर लिया जाए, भोग लिया जाए । कहा भी है—“सर्वं च पएसतया भूम्जाइ कम्भमण्डावशो भद्रयं” अर्थात् सभी कर्म प्रदेशों से भोगे जाते हैं, विपाक से भोगने की भजना है । केवली के ४ कर्म, जिन्हें भोगना बाकी है, ये हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र । चूंकि इन चारों कर्मों का वेदन नहीं हुआ, इसलिए उनकी निर्जरा नहीं हुई । अर्थात् वे आत्मप्रदेशों से पृथक् नहीं हुए । इन चारों में वेदनीयकर्म सर्वाधिक प्रदेशों वाला होता है । नाम और गोत्र भी अधिक प्रदेशों वाला है, परन्तु आयुष्यकर्म के बराबर नहीं । आयुष्यकर्म सबसे कम प्रदेशों वाला होता है । केवली के आयुष्यकर्म के बराबर शेष तीन कर्म न हों तो वे उन विषम स्थिति एवं बन्ध वाले कर्मों को आयुकर्म के बराबर करके सम करते हैं । ऐसे सम करने वाले केवली केवलिसमुद्धात करते हैं । वे विषम कर्मों को, जो कि बन्ध से और स्थिति से सम नहीं हैं, उन्हें सम करते हैं, ताकि चारों कर्मों का एक साथ क्षय हो सके । योग (सन, वचन, काया का अयापार) के निमित्त से जो कर्म बंधते हैं, अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होते हैं, उन्हें बन्धन कहते हैं और कर्मों के वेदन के काल को स्थिति कहते हैं । बन्धन और स्थिति, इन दोनों से केवली वेदनीयादि कर्मों को आयुष्यकर्म के बराबर करते हैं । कर्म द्रव्यबन्धन कहलाते हैं, जबकि वेदनकाल को स्थिति कहते हैं । यही केवलिसमुद्धात का प्रयोजन है । जिन केवलियों का आयुष्यकर्म बन्धन और स्थिति से भवोपग्राही अन्य कर्मों के तुल्य होता है, वे केवलिसमुद्धात नहीं करते, वे केवलिसमुद्धात किये बिना ही सर्व कर्म मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध एवं सर्वज्ञरा-मूल्य से मुक्त हो जाते हैं । ऐसे अनन्त सिद्ध हुए हैं । समुद्धात वे ही केवली करते हैं, जिनकी आयु कर्म होती है और वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति एवं प्रदेश अधिक होते हैं तब उन सबको समान करने हेतु समुद्धात किया जाता है ।

समुद्धात करते से उक्त चारों कर्मों के प्रदेश और स्थितिकाल में समानता आ जाती है। यदि वे समुद्धात न करें तो आयुकर्म पहले ही समाप्त हो जाए और उक्त तीन कर्म शेष रह जाएँ। ऐसी स्थिति में या तो तीन कर्मों के साथ वे भोक्तगति में जाएँ या नवीन आयुकर्म का बन्ध करें, किन्तु ये दोनों ही बातें असम्भव हैं। मुक्तदशा में कर्म शेष नहीं रह सकते और न ही मुक्त जीव नये आयुकर्म का बन्ध कर सकते हैं। इसी कारण केवलिसमुद्धात के द्वारा वेदनोयादि तीन कर्मों के प्रदेशों की विशिष्ट निर्जरा करके तथा उनकी लम्बी स्थिति का धात करके उन्हें आयुष्यकर्म के बराबर कर लेते हैं, जिससे चारों का क्षय एक साथ हो सके।

गीतम स्वामी विशेष परिज्ञान के लिए पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन् ! क्या सभी केवली समुद्धात में प्रवृत्त होते हैं ? समाधान—न सभी केवली समुद्धात के लिए प्रवृत्त होते हैं और न ही सभी समुद्धात करते हैं। कारण ऊपर बताया जा चुका है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित होना सिद्धि है। जिसके चारों कर्म स्वभावतः समान होते हैं, वह एक साथ उनका क्षय करके समुद्धात किये बिना ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

### केवलिसमुद्धात के पश्चात् योगनिरोध आदि की प्रक्रिया

२१७१. कौत्समझए णं भंते ! आउज्जीकरणे पण्णते ?

गोयमा ! असंखेजसमझए अंतोमुहृत्तिए आउज्जीकरणे पण्णते ।

[२१७१ प्र.] भगवन् ! आवर्जीकरण कितने समय का कहा गया है ?

[२१७१ उ.] गीतम ! आवर्जीकरण असंख्यात समय के अन्तर्मुहृत्ते का कहा गया है।

२१७२. कौत्समझए णं भंते ! केवलिसमुद्धाए पण्णते ?

गोयमा ! अट्टसमझए पण्णते । तं जहा—पढ़से समए दंडं करेति, चिह्नए समए कवाङ्कं करेति, ततिए समए मंथं करेति, चउत्थे समए लोगं पूरेह, पञ्चमे समये लोयं पद्मिसाहरति, छठे समए मंथं पद्मिसाहरति, सत्तमे समए कवाङ्कं पद्मिसाहरति, अट्टसे समए दंडं पद्मिसाहरति, दंडं पद्मिसाहरिता ततो पच्छा सरीरस्थे भवति ।

[२१७२ प्र.] भगवन् ! केवलिसमुद्धात कितने समय का कहा गया है ?

[२१७२ उ.] गीतम ! वह आठ समय का कहा गया है, वह इस प्रकार है—प्रथम समय में दण्ड (की रचना) करता है, द्वितीय समय में कपाट करता है, तृतीय समय में मन्थान करता है, चौथे समय में लोक को व्याप्त करता है, पंचम समय में लोक-पूरण को सिकोड़ता है, छठे समय में मन्थान को सिकोड़ता है, सातवें समय में कपाट को सिकोड़ता है और आठवें समय में दण्ड को सिकोड़ता है और दण्ड का संकोच करते ही (पूर्ववत्) शरीरस्थ हो जाता है।

२१७३. [१] से णं भंते ! तहासमुग्धायगते कि मण्डोगं जुंजद वह्नोगं जुंजइ कायजोगं जुंजइ ?

१. (क) प्रजापना. (प्रमेयबौधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११२५ से ११२६

(ख) प्रजापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कीष, भा. ७, पृ. ८२३

गोयमा ! जो मणज्ञोगं जुंजह जो बहुज्ञोगं जुंजह, कायज्ञोगं जुंजह ।

[ २१७३-१ प्र.] भगवन् ! तथारूप से समुद्घात प्राप्त केवली क्या मनोयोग का प्रयोग करता है, वचनयोग का प्रयोग करता है, अथवा काययोग का प्रयोग करता है ?

[ २१७३-१ उ.] गौतम ! वह मनोयोग का प्रयोग नहीं करता, वचनयोग का प्रयोग नहीं करता, किन्तु काययोग का प्रयोग करता है ।

[ २ ] कायज्ञोगमें भंते ! जुंजमाणे कि ओरालियसरीरकायज्ञोगं जुंजह ओरालियमी-सासरीरकायज्ञोगं जुंजह ? कि वेउविव्यसरीरकायज्ञोगं जुंजह वेउविव्यमीसासरीरकायज्ञोगं जुंजह ? आहारगसरीरकायज्ञोगं जुंजह आहारगमीसासरीरकायज्ञोगं जुंजह ? कि कस्मगसरीर-कायज्ञोगं जुंजह ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायज्ञोगं पि जुंजह ओरालियमीसासरीरकायज्ञोगं पि जुंजह, यो वेउविव्यसरीरकायज्ञोगं जुंजह जो वेउविव्यमीसासरीरकायज्ञोगं जुंजह, यो आहारगसरीर-कायज्ञोगं जुंजह जो आहारगमीसासरीरकायज्ञोगं जुंजह, कस्मगसरीरकायज्ञोगं पि जुंजह; एढभड्टमेसु समएसु ओरालियसरीरकायज्ञोगं जुंजह, वितिय-छट्ट-सत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगसरीर-कायज्ञोगं जुंजह, ततिय-चउत्थ-पंचमेसु समएसु कस्मगसरीरकायज्ञोगं जुंजह ।

[ २१७३-२ प्र.] भगवन् ! काययोग का प्रयोग करता हुआ केवली क्या श्रीदारिकशरीरकाय-योग का प्रयोग करता है, श्रीदारिकमिश्रशरीरकाय योग का प्रयोग करता है, वैक्रियशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, वैक्रियमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, आहारकशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, आहारकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है अथवा कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग करता है ?

[ २१७३-२ उ.] गौतम ! (काययोग का प्रयोग करता हुआ केवली) श्रीदारिकशरीरकाय-योग का भी प्रयोग करता है, श्रीदारिकमिश्रशरीरकाययोग का भी प्रयोग करता है, किन्तु न तो वैक्रियशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, न वैक्रियमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, न आहारक-शरीरकाययोग का प्रयोग करता है और न ही आहारकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, वह कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग करता है । प्रथम और अष्टम समय में श्रीदारिकशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, दूसरे, छठे और सातवें समय में श्रीदारिकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है तथा तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग करता है ।

२१७४. [ १ ] से णं भंते ! तहासमुद्घायगते सिञ्चकइ बुञ्चकइ परिणिष्वाइ सञ्चकुक्खाणं अंतं करेह ?

गोयमा ! जो इण्टके समट्ठे, से णं तथो पडिमियत्तति, ततो पडिनियतित्ता ततो पञ्चामणज्ञोगं पि जुंजह वडज्ञोगं पि जुंजह कायज्ञोगं पि जुंजह ।

[ २१७४-१ प्र.] भगवन् ! तथारूप समुद्घात को प्राप्त केवली क्या सिढ, बुद्ध, मुक्त और परिनिवाण को प्राप्त हो जाते हैं, क्या वह सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[२१७४-१ उ.] गौतम ! वह धर्म (वाह) समय (शक्य) नहीं है। पहले वे उससे (केवलि-समुद्घात से) प्रतिनिवृत्त होते हैं। तत्पश्चात् वे मनोयोग का उपयोग करते हैं, बचनयोग और काययोग का भी उपयोग करते हैं।

[२] मणजोगणं जुंजमाणे कि सच्चमणजोगं जुंजइ मोसमणजोगं जुंजइ सच्चामोसमणजोगं जुंजइ असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, णो मोसमणजोगं जुंजइ णो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ ।

[२१७४-२ प्र.] भगवन् ! मनोयोग का उपयोग करता हुआ केवलिसमुद्घात करने वाला केवली क्या सत्यमनोयोग का उपयोग करता है, मृषामनोयोग का उपयोग करता है, सत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है, अथवा असत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है ?

[२१७४-२ उ.] गौतम ! वह सत्यमनोयोग का उपयोग करता है और असत्यामृषामनोयोग का भी उपयोग करता है, किन्तु न तो मृषामनोयोग का उपयोग करता है और न सत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है ।

[३] वयजोगं जुंजमाणे कि सच्चवद्वजोगं जुंजइ मोसवद्वजोगं जुंजइ सच्चामोसवद्वजोगं जुंजइ असच्चामोसवद्वजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! सच्चवद्वजोगं जुंजइ, णो मोसवद्वजोगं जुंजइ णो सच्चामोसवद्वजोगं जुंजइ असच्चामोसवद्वजोगं पि जुंजइ ।

[२१७४-३ प्र.] भगवन् ! बचनयोग का उपयोग करता हुआ केवली क्या सत्यवचनयोग का उपयोग करता है, मृषावचनयोग का उपयोग करता है, सत्यमृषावचनयोग का उपयोग करता है, अथवा असत्यामृषावचनयोग का उपयोग करता है ?

[२१७४-३ उ.] गौतम ! वह सत्यवचनयोग का उपयोग करता है और असत्यामृषावचनयोग का भी उपयोग करता है, किन्तु न तो मृषावचनयोग का उपयोग करता है और न ही सत्यमृषावचनयोग का उपयोग करता है ।

[४] कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेजज वा गच्छेजज वा खिट्ठेजज वा णिसीएजज वा तुयट्टेजज वा उल्लंघेजज वा पलंघेजज वा पाडिहारियं पीड-फलग-सेज्जा-संथारणं परच्छप्पिणेज्जा ।

[२१७४-४] काययोग का उपयोग करता हुआ (केवलिसमुद्घातकर्ता केवली) आता है, जाता है, ठहरता है, बैठता है, करवट बदलता है (या लेटता है), लांधता है, अथवा विशेष रूप से लांधता (छलांग मारता) है, या वापस लौटाये जाने वाले पीठ (चीकी), पट्टा, शव्या (वसति-स्थान), तथा संस्तारक (आदि सामान) वापस लौटाता है ।

२१७५. से णं भंते ! तहा सजोगी लिखभति जाव अंतं करेति ?

गोयमा ! णो इण्टने सभद्ठे । से णं पुञ्चामेव सण्णिस्स पंचेवियस्स पञ्जत्तयस्स जहणजोगिस्स हेहुा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं णिर्भइ, तझो श्रणंतरं च णं बेहूंवियस्स

पञ्चजन्मस्स जहणजोगिस्स हेद्वा असंखेजगुणपरिहीण बोच्चं बइजोगं णिरुभति, तथो अर्णतर्च च  
णं सुहुमस्स पणगजोबस्स अपञ्जन्मयस्स जहणजोगिस्स हेद्वा असंखेजगुणपरिहीण तच्चं कायजोगं  
णिरुभति । से णं एतेण उधाएणं पढमं मणजोगं णिरुभति, मणजोगं णिरुभिता बइजोगं णिरुभति,  
बइजोगं णिरुभिता कायजोगं णिरुभति, कायजोगं णिरुभिता जोगणिरोहं करेति, जोगणिरोहं करेता  
अजोगयं पाउणति, अजोगयं पाउणिता इसीहस्सपंखबुद्धारणम् । ए असंखेजजसमाइयं अंतोमुहुत्तियं

सेलेसि पश्चिमजइ, पुष्करइतगुणसेहीयं च णं कम्मं ॥१॥ ॥२॥ ॥३॥ ॥४॥ ॥५॥ ॥६॥ तीसे

सेलेसिमद्वाए असंखेजजाहिं गुणसेहीहि असंखेजजे कम्मखंधे खवयति, खवहता वेदणिजजाऽउय-णाम-  
गोसे इच्चेते चत्तारि कम्मसे खुगवं खवेति, जुगवं खवेता ओरालियतेवा-कम्मगाहं सखाहिं  
विष्वजहणाहिं विष्वजहति, विष्वजहता उज्जुसेहीपश्चिमणे आफुसमाणगतोए एगसमएण अविमाहेण उद्वं  
गंता सामारोबद्धसे सिञ्चक्षति चुञ्चक्षति० ।<sup>१</sup>

[ २१७५ प्र.] भगवन् ! वह तथारूप सयोगी (केवलिसमुद्धातप्रवृत्त केवली) सिद्ध होते हैं,  
बुद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[ २१७५ उ.] गोत्तम ! वह बंसा करने में समर्थ नहीं होते । वह सर्वप्रथम संज्ञीपचेन्द्रिय-  
पर्याप्तक जघन्ययोग वाले के (मनोयोग से) भी नीचे (कम) असंख्यातगुणहीन मनोयोग का पहले  
निरोध करते हैं, तदनन्तर द्विन्द्रियपर्याप्तक जघन्ययोग वाले के (वचनयोग से) भी नीचे (कम)  
असंख्यातगुणहीन वचनयोग का निरोध करते हैं । तत्पश्चात् अपर्याप्तक सूक्ष्मपनकजीव, जो जघन्ययोग  
वाला हो, उसके (काययोग से) भी नीचे (कम) असंख्यातगुणहीन तीसरे काययोग का निरोध करते  
हैं । (इस प्रकार) वह (केवली) इस उपाय से सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करते हैं, मनोयोग को  
रोक कर वचनयोग का निरोध करते हैं, वचनयोगनिरोध के पश्चात् काययोग का भी निरोध कर  
देते हैं । काययोगनिरोध करके वे (सवेशा) योगनिरोध कर देते हैं । योगनिरोध करके वे अयोगत्व  
प्राप्त कर लेते हैं । अयोगत्वप्राप्ति के अनन्तर ही धीरे-से पांच हस्त अक्षरों (अ इ उ श्व लु) के  
उच्चारण जितने काल में असंख्यातसामयिक अन्तमुहूर्त तक होने वाले शंखेशीकरण को अगांकार  
करते हैं । पूर्वरचित गुणश्रेणियों वाले कर्म को उस शंखेशीकाल में असंख्यात कर्मस्कन्धों का क्षय  
कर डालते हैं । क्षय करके वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार (प्रकार के अधाती) कर्मों का  
एक साथ क्षय कर देते हैं । इन चार कर्मों को युगपत् क्षय करते हो श्रीदारिक, तंजस और कामण  
शरीर का पूर्णतया सदा के लिए त्याग कर देते हैं । इन शरीरत्रय का पूर्णतः त्याग करके शृजुश्रेणी  
को प्राप्त होकर अस्पृशात् गति से एक समय में अविग्रह (बिना मोड़ की गति) से ऊर्ध्वगमन कर  
साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) से उपयुक्त होकर वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत्त हो जाते हैं तथा  
सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं ।

विवेचन—केवलिसमुद्धात् से पूर्वं और पश्चात् केवली की प्रवृत्ति—इस प्रकरण में सर्वप्रथम  
आवर्जीकरण, तत्पश्चात् आठ समय का केवलिसमुद्धात्, तदनन्तर समुद्धातगत केवली के द्वारा

१. अधिक पाठ—‘तथ्य सिद्धो भवति’ अर्थात्—वह वहाँ (सिद्धशिला में पहुंच कर) सिद्ध (मुक्त) हो जाता है ।

योगत्रय में से काययोगप्रवृत्ति का उल्लेख और उसका क्रम भी बताया गया है। आवर्जिकरण के चार पर्यंत यहाँ अभिप्रेत हैं—(१) आत्मा को मोक्ष के अभिमुख करना, (२) मन, वचन, काया के शुभ प्रयोग द्वारा मोक्ष को आवर्जित—अभिमुख करना और (३) आवर्जित अथत्—अव्यत्व के कारण मोक्षगमन के प्रति शुभ योगों को व्यापृत-प्रवृत्त करना आवर्जितकरण है तथा (४) आ—मर्यादा में केवली की दृष्टि से शुभयोगों का प्रयोग करना। केवलिसमुद्घात करने से पूर्व आवर्जिकरण किया जाता है, जिसमें असंख्यात समय का अन्तर्मुहूर्त लगता है। आवर्जिकरण के पश्चात् बिना व्यवधान के केवलिसमुद्घात प्रारम्भ कर दिया जाता है, जो आठ समय का होता है। मूलपाठ में उसका क्रम दिया गया है। इस प्रक्रिया में प्रारम्भ के चार समयों में आत्मप्रदेशों को फैलाया जाता है, जब कि पिछले चार समयों में उन्हें सिकोड़ा जाता है। कहा भी है—केवली प्रथम समय में ऊपर और नीचे लोकान्त तक तथा विस्तार में अपने देहप्रमाण दण्ड करते हैं, दूसरे में कपाट, तीसरे में मन्थान और चौथे समय में लोकपूरण करते हैं फिर प्रतिलोम रूप से संहरण अथत् विपरीत क्रम से संकोच करके स्वदेहस्थ हो जाते हैं।<sup>१</sup>

(२) समुद्घातकर्ता केवली के द्वारा योगनिरोध आदि की प्रक्रिया से सिद्ध होने का क्रम—सिद्ध होने से पूर्व तक को केवली की चर्ची—दण्ड, कपाट आदि के क्रम से समुद्घात को प्राप्त केवली समुद्घात-अवस्था में सिद्ध (निष्ठितार्थ), बुद्ध, मुक्त, परिनिवरण को प्राप्त (कर्मसंताप से रहित हो जाने के कारण शीतीभूत) और सर्वदुःखरहित नहीं होते। क्योंकि उस समय तक उनके योगों का निरोध नहीं होता और सयोगी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। सिद्धि प्राप्त होने से पूर्व तक वे व्याप्ति करते हैं। इस विषय में कहते हैं—समुद्घातगत केवली केवलिसमुद्घात से निवृत्त होते हैं, फिर मनोयोग, वचनयोग और काययोग का प्रयोग करते हैं।<sup>२</sup>

(३) केवलिसमुद्घातगत केवली द्वारा काययोग का प्रयोग—समुद्घातगत केवलो श्रीदारिक-शरीरकाययोग, श्रीदारिकामशरीरकाययोग तथा कामणशरीरकाययोग का प्रयोग क्रमशः प्रथम और अष्टम, द्वितीय, षष्ठि और सप्तम, तथा तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में करते हैं। शेष वैक्रिय-वैक्रियमिश्र आहारक-आहारकमिश्र काययोग का प्रयोग वे नहीं करते।<sup>३</sup>

(४) केवलिसमुद्घात से निवृत्त होने के पश्चात् तीनों योगों का प्रयोग—निवृत्त होने के पश्चात् मनोयोग और उसमें भी सत्यमनोयोग, असत्यमृषामनोयोग का ही प्रयोग करते हैं, सूषा-मनोयोग और सत्यमृषामनोयोग का नहीं। तात्पर्य यह है कि जब केवली भगवान् वचनागोचर महिमा से युक्त केवलिसमुद्घात के द्वारा विषमस्थिति वाले नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म को आयुकर्म के ब्राह्मण स्थिति वाला बना कर केवलिसमुद्घात से निवृत्त हो जाते हैं, तब अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु उस अवधि में अनुत्तरीपपातिक देवों द्वारा मन से पूछे हुए प्रश्न का समाधान करने हेतु मनोवर्गण के पुद्गलों को ग्रहण करके मनोयोग का प्रयोग करते हैं। वह मनोयोग सत्यमनोयोग या असत्यमृषामनोयोग होता है। समुद्घात से निवृत्त केवली सत्यवचन-

१. प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५

२. वही, भा. ५, प. ११३०

३. वही, भा. ५, ११३१-३२

योग या असत्यामृषावचनयोग का प्रयोग करते हैं, किन्तु मृषावचनयोग या सत्यमृषावचनयोग का नहीं। इसो प्रकार समुद्धातनिवृत्त केवली गमनागमनादि क्रियाएँ पतनापूर्वक करते हैं। यहाँ उल्लंघन और प्रलंघन क्रिया का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—स्वाभाविक चाल से जो डग भरी जाती है, उससे कुछ लम्बी डग भरना उल्लंघन है और अतिविकट चरणन्यास प्रलंघन है। किसी जगह उड़ते-फिरते जीव-जन्म हों और भूमि उनसे व्याप्त हो, तब उनकी रक्षा के लिए केवलों को उल्लंघन और प्रलंघन क्रिया करनी पड़ती है।<sup>१</sup>

(५) समग्र योगनिरोध के बिना केवली को भी सिद्धि नहीं—दण्ड, कपाट आदि के क्रम से समुद्धात को प्राप्त केवली समुद्धात से निवृत्त होने पर जब तक सयोगी-अवस्था है, तब तक वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो सकते। शास्त्रकार के अनुसार अन्तर्मुहूर्तकाल में वे अयोग-अवस्था को प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अन्तर्मुहूर्तकाल तक तो केवली यथायोग्य तीनों योगों के प्रयोग से मुक्त होते हैं। सयोगी-अवस्था में केवली सिद्ध-मुक्त नहीं हो सकते, इसके दो कारण हैं—(१) योगन्त्रय कर्मबन्ध के कारण हैं तथा (२) सयोगी परमनिंजरा के कारणभूत शुक्लध्यान का प्रारम्भ नहीं कर सकते।<sup>२</sup>

(६) केवली द्वारा योगनिरोध का क्रम—योगनिरोध के क्रम में केवली भगवान् सर्वप्रथम मनोयोगनिरोध करते हैं। पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जोव के प्रथम समय में जितने मनोद्रव्य होते हैं और जितना उसका मनोयोग-व्यापार होता है, उससे भी असंख्यातगुणहीन मनोयोग का प्रति समय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में मनोयोग का पूर्णतया निरोध कर देते हैं।

मनोयोग का निरोध करने के तुरंत बाद ही वे पर्याप्तक एवं जघन्ययोग वाले द्वीन्द्रिय के वचनयोग से क्रम असंख्यातगुणहीन वचनयोग का प्रतिसमय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में पूर्णतया द्वितीय वचनयोग का निरोध करते हैं।

जब वचनयोग का भी निरोध हो जाता है, तब अपर्याप्तक सूक्ष्म पनकजोव, जो प्रथम समय में उत्पन्न हो तथा जघन्य योग वाला एवं सबकी अपेक्षा अल्पबीर्य वाला हो, उसके काययोग से भी क्रम असंख्यातगुणहीन काययोग का प्रतिसमय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में पूर्णरूप से तृतीय काययोग का भी निरोध कर देते हैं।

इस प्रकार काययोग का भी निरोध करके केवली भगवान् समुक्ष्वान्, सूक्ष्मक्रिय, अविनश्वर तथा अप्रतिपाती ध्यान में आरूढ होते हैं। इस परमशुक्लध्यान के द्वारा वे वदन और उदर आदि के छिद्रों को पूरित करके अपने देह के तृतीय भाग—त्यून आत्मप्रदेशों को संकुचित कर लेते हैं। काययोग को इस निरोधप्रक्रिया से स्वशरीर के तृतीय भाग का भी त्याग कर देते हैं।<sup>३</sup>

सर्वथा योगनिरोध करने के पश्चात्—वे अयोगिदशा प्राप्त कर लेते हैं। उसके प्राप्त होते ही शीलेशीकरण करते हैं। न अतिशीघ्र और न अतिमन्द, अथत् मध्यमरूप से पांच ह्रस्व (अ, इ, उ,

१. प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११३३-११३५

२. वही, भा. ५, पृ. ११३८ से ११४०

३. वही, भा. ५, पृ. ११४१

श्व, लू) अक्षरों का उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल तक शीलेशीकरण-अवस्था में रहते हैं। शील या प्रदै द्वै-हर्दरूप चारिद, उसका इश - स्वामी शीलेश और शीलेश की अवस्था 'शीलेशी' है। उस समय केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तथा समुच्चिक्रियाप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। उस समय केवली केवल शीलेशीकरण को ही प्राप्त नहीं करते, अपितु शीलेशीकरणकाल में पूर्वरचित गुणश्रेणी के अनुसार असंख्यातगुण-श्रेणियों द्वारा असंख्यात वेदनीयादि कर्मस्कन्धों का विपाक और प्रदेशरूप से क्षय भी करते हैं तथा अन्तिम समय में वेदनीयादि ज्ञान अवधिकर्मों का एक साथ सर्वथा क्षय होते ही ओदारिक, तंजस और कार्मण इन तीनों शरीरों का पूर्णतया त्याग कर देते हैं। फिर शृजुश्रेणी को प्राप्त हो कर, एक ही समय में बिना विग्रह (मोह) के लोकान्त में जाकर ज्ञानोपयोग से उपयुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं। जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे सब साकारोपयोग से उपयुक्त को ही प्राप्त होती हैं, अनाकारोपयोगयुक्तसमय में नहीं।<sup>१</sup>

### सिद्धों के स्वरूप का निरूपण

२१७६. ते णं तत्थ सिद्धा भवति, असरोरा जीवध्या दंसण-णाणोवउत्ता णिद्वियद्वा णीरथा णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणाग्यद्वं कालं चिद्ठंति । से केणट्ठेण भवते । एवं बुद्धति ते णं तत्थ सिद्धा भवति असरोरा जीवध्या दंसण-णाणोवउत्ता णिद्वियद्वा णीरथा णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणाग्यद्वं कालं चिद्ठंति ?

गोयमा ! से जहाणामए बोयाणं ग्रगिदद्वाणं पुणरवि अंकुरुप्तत्ती न हवइ एवमेव सिद्धाण वि कम्मबोएमु दद्वेसु पुणरवि जम्मूर्पंसी न हवति, से तेषट्ठेण गोयमा । एवं बुद्धति ते णं तत्थ सिद्धा भवति असरोरा जीवध्या दंसण-णाणोवउत्ता निद्वियद्वा णीरथा णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणाग्यद्वं कालं चिद्ठंति ति ।

णिक्किणसव्वदुववाजा जाति-जरा-मरण-र्धणविमुक्ता ।

सासयमव्याबाहुं चिद्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ २३१ ॥

[२१७६] वे सिद्ध वहाँ अशरीरी (शरीररहित) सघनश्चात्मप्रदेशों वाले दर्शन और ज्ञान में उपयुक्त, कृतार्थ (निष्ठितार्थ), नीरज (कर्मरज से रहित), निष्कम्प, अज्ञानतिमिर से रहित और पूर्ण शुद्ध होते हैं तथा शाश्वत भविष्यकाल में रहते हैं।

[प्र.] भगवन् । किस कारण से ऐसा कहते हैं कि वे सिद्ध वहाँ अशरीरी सघनश्चात्मप्रदेश-युक्त, कृतार्थ, दर्शनज्ञानोपयुक्त, नीरज, निष्कम्प, वितिमिर एवं विशुद्ध होते हैं, तथा शाश्वत अनागतकाल तक रहते हैं ?

१. प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका) आ. ५, प. ११४७-११५५

[ च.] गीतम ! जैसे अग्नि में जले हुए बीजों से फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार सिद्धों के भी कर्मबीजों के जल जाने पर पुनः जन्म से उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण से ही गीतम ! ऐसा कहा जाता है कि सिद्ध अशारीरी सधन आत्मप्रदेशोंवाले, दर्शन और ज्ञान से उपयुक्त, निष्ठितार्थी, नीरज, निष्कंप अज्ञानोधकार से रहित, पूर्ण विशुद्ध होकर शाश्वत भविष्यकाल तक रहते हैं।

[गाथार्थ—] सिद्ध भगवान् सब दुःखों से पार हो चुके हैं, वे जन्म, जरा, मृत्यु और बन्धन से विमुक्त हो चुके हैं। सुख को प्राप्त अत्यन्त सुखी वे सिद्ध शाश्वत और बाधारहित होकर रहते हैं ॥ २३१ ॥

॥ पण्डिताए भगवतीए छत्तीसहमं समुद्घायपदं समस्तं ॥

॥ पण्डिताणा समस्ता ॥

किदेहन—सिद्धों का स्वरूप—सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित रहते हैं। वे अशारीर, अथर्ति—श्रीदारिक आदि शरीरों से रहित होते हैं, क्योंकि सिद्धत्व के प्रथम समय में ही वे श्रीदारिक आदि शरीरों का त्याग कर देते हैं। वे जीवधन होते हैं, अथर्ति—उनके आत्मप्रदेश सधन हो जाते हैं। बीच में कोई छिद्र नहीं रहता; क्योंकि सूक्ष्मक्षिय-अप्रतिपाती ध्यान के समय में ही उक्त ध्यान के प्रभाव से मुख, उदर आदि छिद्रों (विवरों) को पूरित कर देते हैं। वे दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में उपयुक्त होते हैं, क्योंकि उपयोग जीव का स्वभाव है। सिद्ध कृतार्थ (कृतकृत्य) होते हैं, नीरज (विद्यमान कर्मरज से रहित) एवं निष्कंप होते हैं, क्योंकि कम्पनक्रिया का वहाँ कोई कारण नहीं रहता। वे वितिमिर अथर्ति—कर्मरूपी या अज्ञानरूपी तिमिर से रहित होते हैं। विशुद्ध अथर्ति—विजातीय द्रव्यों के संयोग से रहित—पूर्ण विशुद्ध होते हैं और सदा-सर्वथा सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं।<sup>१</sup>

सिद्धों के इन विशेषणों के कारण पर विश्लेषण—सिद्धों को अशारीर, नीरज, कृतार्थ, निष्कंप, वितिमिर एवं विशुद्ध आदि कहा गया है। उसका कारण यह है कि अग्नि में जले हुए बीजों से जैसे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि अग्नि उनके अंकुरोत्पत्ति के सामर्थ्य को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार सिद्धों के कर्मरूपी बीज जब केवलज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म हो चुकते हैं, तब उनकी फिर से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि जन्म का कारण कर्म है और सिद्धों के कर्मों का समूल नाश हो जाता है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, कर्मबीज के कारण रागद्वेष हैं। सिद्धों के रागद्वेष आदि समस्त विकारों का सर्वथा अभाव हो जाने से पुनः कर्म का बन्ध भी सम्भव नहीं है। रागादि ही आयु आदि कर्मों के कारण हैं उनका तो पहले ही क्षय किया जा चुका है। क्षीण-रागादि की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि निमित्तकारण का अभाव है। रागादि की उत्पत्ति में उपादान कारण स्वयं आत्मा है। उसके विद्यमान होने पर भी सहकारी कारण वेदनीय-कर्म आदि विद्यमान न होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य किसी एक कारण से नहीं हो सकता।

१. प्रजापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, ११५५-११५६

सिद्धों में रागादि वेदनीयकर्मों का अभाव होता है, क्योंकि वे उन्हें शुक्लष्यानुरूपी अग्नि से पहले ही भस्म कर चुकते हैं और उनके कारण संक्लेश भी सिद्धों में संभव नहीं है। रागादि वेदनीयकर्मों का अभाव होने से पुनः रागादि की उत्पत्ति की संभावना नहीं है। कर्मबन्ध के अभाव में पुनर्जन्म न होने के कारण सिद्ध सदैव सिद्धदशा में रहते हैं, क्योंकि रागादि का अभाव हो जाने से आयु आदि कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण सिद्धों का पुनर्जन्म नहीं होता।<sup>१</sup>

**अन्तिम मंगलाचरण—शिष्टाचारपरम्परानुसार** ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए। अतएव यहीं ग्रन्थ की समाप्ति पर परम मंगलमय सिद्ध भगवान् का स्वरूप बताया गया है, तथा शिष्य-प्रशिष्यादि की शिक्षा के लिए भी कहा गया है—

‘णिडिष्ण-सद्ब्रुक्षा………सुहो सुहं पत्ता।’<sup>२</sup>

॥ प्रजापना भगवती का छत्तीसवाँ समृद्धातपद समाप्त ॥

॥ प्रजापनासूत्र समाप्त ॥



१. प्रजापना (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ११५७

२. प्रजापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११५९-६०

# प्राञ्जापना-परिशिष्ट

परिशिष्ट-१

## गाथानुक्रम

गाथांश	सूचारूप	गाथा	सूचारूप
अगंतूण समुग्धायं	२१७० [२]	आहार भविय सणो	१५६५
प्रच्छ पञ्चं बलिमोडशो	५४ [८]	आहार सम सरीरा	११२३
अज्जोरुह वोडाणे	४९	आहारे उवओगे	२
अजभयणमिणं चित्तं	३	इन्द्र्य इव्वाडो	४६
अडहुतरं च तीसं	१७४	इय सव्वकालैतिता	२११
अणभिगहियकुद्दी	११०	इय सिद्धाणं सोक्खं	२११
अणभिगहिया भासा	८६५	इंदियउबचय णिव्वत्तणा य	१००६
अणंतराय आहारे	२०३२	उत्ततकणगवणा	१८७
अत्यिय तिदु कविट्ठे	४१	एहि सरीरेहि	२६
अद्वाय असी य मणी	१७२	एककस्स उ जं गहणं	५४
अद्विवण्ण सहस्सा	१७४	एक्कारसुतरं हेड्डिमेसु	२०९
अप्फोया अइमुत्तय	४५	एगपएउणेगाइं	११०
अयसी कुसुंभ कोइव	५०	एगस्स दोण्ह तिण्ह व	५४
अलोए पडिहया सिद्धा	२११	एगा य होइ रयणी	२११
अबए पणए सेवाले	५४ [१]	एगिदियसरीरादी	१७९३
असरीरा जीवघणा	२११	एते चेव उ भावे	११०
असुरा नाग सुवण्णा	१७७	एरंडे कुर्खिवदे	४७
असुरेसु होति रत्ता	१८७	ओगाहणसंठाणे	२
अस्सणी खलु पठमं	६४७	ओगाहणा अबाएं	१००६
अंधिय णंत्तिय मच्छय	५८ (१)	ओगाहणा ए सिद्धा	२११
अंबट्टा य कलिदा	१०३	कण्हे कुर्दे वज्जे	५४
आणय-पाणयकप्पे	२०६ (२)	कति पगडी कह बंधति	१६६४
आभरण-वत्थ-गंधे	१९०३	कर्हि पडिहता सिद्धा	२११
आमंतणि याऽऽणमणी	८६६	कंगया कदुइया	४५
आयपइट्टिय खेत्तं	१७१	कंदा य कंदमूला य	५५
आसीतं बत्तीसं	१७४	कंदू य कण्हकड्डू	५४

काला असुरकुमारा	१८७	जस्स बोयस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]
काले य महाकाले	१९२	जस्स मूलस्स कट्टाओ छल्ली तणुयतरी	५४ [६]
किण्णर किपुरिसे खलु	१९२	जस्स मूलस्स कट्टाओ छल्ली बहलतरी	५४ [५]
किमिरासि भद्रमुत्था	५४	जस्स मूलस्स भग्गस्स समो	५४ [३]
कुत्थु भरि पिष्पलिया	४२	जस्स सालस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]
कुरु-मंदर-आवासा	१००३	जस्स सालस्स भग्गस्स समो	५४ [३]
केवलणाणुवउत्ता	२११	जस्स सालस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]
कोहे माणे माया	८६३	जस्साउएण तुल्लाइ	२१७० [२]
गति ठिति भवे य भासा	८२३ [२]	जह श्रयगोलो धंतो	५४ [१०]
गूढसिरायं पत्तं	५४	जह णाम कोइ मेच्छो	२११
गोमेज्जए य रुथए	२४	जह वा तिलपप्पडिआ	५३
चउरासीइ असीइ	२०६ [२]	जह सगलसरिसबाणं	५३
चउसट्टी सट्टी खलु	१८७	जह सब्बकालगुणितं	२११
चक्कागं भज्जमाणस्स	५४	जंबुद्दीवे लवणे	१००३
चत्तारि य रमणीओ	२११	जं संठाणं तु इहं	२११
चमरे धरणे तह बेणुदेव	१८७	जाई मोग्गर तह जूहिया	४३
चंदण गेहय हंसे	२४	जाउलग माल परिलो	४२
चंपगजाती णवणीहया	४१	जीव गतिदिय काए	१२५९
चोत्तीसा चोयाला	१८७	जीसे तयाए भग्गाए समो	५४ [३]
चोवट्टि असुराणं	१८७	जीसे तयाए भग्गाए हीरो	५४ [४]
छट्टि च इत्थियाओ	६७४	जोसे सालाए कट्टाओ छल्ली तणुयतरी	५४ [६]
जणवय-सम्मत- ठवणा	८६२	जोसे सालाए कट्टाओ छल्ली बहलतरी	५४ [५]
जत्थ य एगो सिद्धो	२११	जे केइ नालियाबद्दा	५४ [८]
जस्स कंदस्स कट्टाओ छल्ली तणुयतरी	५४	जो अतिथिकायधम्मं	११०
जस्स कंदस्स कट्टाओ छल्ली बहलतरो	५४ [५]	जो जिणदिट्ठे भावे	११०
जस्स कंदस्स भग्गस्स समो	५४ [३]	जोणिब्बूए बीए	५४ [९]
जस्स कंदस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]	जोयणसहस्स गाउपपुहत्त	१५१२
जस्स खंधस्स कट्टाओ छल्ली तणुयतरो	५४ [६]	जोयणसहस्स छग्गाउयाइ	१५१२
जस्स खंधस्स कट्टाओ छल्ली बहलतरी	५४ [५]	जो सुसमहिजंतो	११०
जस्स खंधस्स भग्गस्स समो	५४ [३]	जो हेउमयाणंतो	११०
जस्स पत्तस्स भग्गस्स समो हीरो	५४ [४]	णगोह णंदिरुक्षे	४१
जस्स पवालस्स भग्गस्स समो	५४ [३]	णाणाविह संठाणा	५३
जस्स पवालस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]	णिच्छण्णसब्बदुक्खा	२१७६
जस्स पुफ्फस्स भग्गस्स समो	५४ [३]	णिच्छब्बसब्बदुक्खा	२११
जस्स पुफ्फस्स भग्गस्स हीरो	५४ [४]	णिद्वस्स णिद्वेण दुयाहिएण	९४८
जस्स बोयस्स भग्गस्स समो	५४ [३]	णिबंध जंबु कौसंब	४०

णीलाणुरागवसणा	१८७	पुर्तजीव्यरिद्धि	४०
णेरहणय अंतकिरिया	१४०६	पुण्का जलया यलया	५४ [८]
णेरहय-तिरिय-मणुया	१९७३	पुस्सफलं कालिंगं	५४
तणमूल कंदभूले	५४ [२]	पूर्विकरंज सेष्हा	४२
तत्य वि य ते अवेदा	२११	पूसफली कालिंगी	४५
तय छलिल-पवालेसु य	५५ [३]	फुसई अण्ते सिद्धे	२११
ताल तमाले तक्कलि	४८	बत्तीस अट्टबीसा	२०६ [२]
तिष्ण सया तेत्तीसा	२११	बलि-भूयाणदे वेणुदाली	१८७
तिलए लउए छतोह	४१	बारबती य सुरद्वा	१०२
तीसा चत्तालीसा	१८७	बारस चउबीसाहं	५५९
तीसा य पण्डीसा	१७४	बि चउत्थ पंच छट्ठं	७९०
तुलसी कण्ह उराले	४९	बि चउत्थ पंच छट्ठं	७९०
दमपिष्ठली य दब्बी	४९	भासग परित पञ्जत्त	२१२
दब्बाण सब्बभावा	११०	भासग परित पञ्जत्त	१२५९
दंसण-नाण-चरित्ते	११०	भासा कथो य पहवति	५५९
दिसि गति इंदिय काए	२१२	भासा सरीर परिणाम	१३
दोब-दिसा-उदहीण	१८७	भुयरुख हिगुरुखें	४८
दीहं वा हसं वा	२११	भूअत्थेणाधिगया	११०
न वि अत्थ माणुसाणं	११०	भेद-विसय-संठाणे	१३८१
निस्सगुवएसहइ	११०	महुरा य सूरसेणा	१०२
निस्संकिय-निक्खंकिय	११०	मासपणी मुग्गपणी	५४ [१]
पउमलता नामलता	४४	मुहिय अच्छा भल्ली	४५
पउमुष्पलनलिणाणं	५४ [८]	रायगिह मगह चंपा	१०२
पउमुष्पल संधाङे	५५ [३]	रुखांगा गुच्छा गुम्भा	३८
पउमुष्पलिणीकंदे	५४ [८]	रु कंडुरिया जारू	५४ [१]
पढमो ततिओ नवमो	७९०	लोगागासपएसे णिगोयजीवं	५४ [११]
पढमो ततिओ सत्तम	७९०	लोगागासपएसे परित्तजीवं	५४ [११]
पण्णवणा ठाणाङे	२	वइराङ वच्छ वरणा	१०२
पतउर सीयउरर	४२	ववगयजर-मरणभए	१
पत्तेया पञ्जत्ता	५४ [११]	बंसे बेलू कणए	४६
परमत्थसंथवो वा	११०	वाइंगण सल्लाइ बोंडइ	४२
परिणाम-वण्ण-रस-गंध	१२१८	विसमं समं करेति	२१७०
पलंडू लहसणकदं य	५४ [८]	विहि-संठाण-पमाणं	१४७४
पाढा मियवालुंकी	५४ [१]	विट समंसकडाहं	५४ [८]
पुट्टोगाढ अणंतर	८७७ [३३]	वेणु णल इक्खुवाडिय	५४ [८]
पुरुषी य सक्करा वालुया	२४		

वेयण-कसाय-मरणे	२०८५	साएय कोंसला रथपुरे	१०२
बेटं वाहिरपत्ता	५४ [८]	सातमसातं सब्वे	२०५४
सचिताऽऽहारद्वी	१७९३	साली दीही गोधूम	५०
सण वाण कास मद्दग	४२	साहारणमाहारो	५४ [१०]
सणिणहिया सामाणा	१९४	सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य	२११
सत्तद्व जातिकुलकोडिलक्ष्म	९१ [४]	सिद्धस्स सुहो रासी	२११
सप्काए सज्जाए	५४ [८]	सिंघाडगस्स गुच्छो	५४ [२]
समणिढ्याए बंधो	१४८	सीता य दब्बसारीर	२०५४
समयं वक्कंताणं	५४ [१०]	सुयरयणनिहाणं जिणवरेण	१
सम्मत्तस्स अभिगमे	२०३२	सुरगणसुहं समत्तं	२११
सरीरप्पहवा भासा	८५९	स्त्रेडिय भत्तिय होत्तिय	४७
सब्वो विकिसलश्चो खलु	५४ [९]	सेद्विया वि य णगरी	१०२
ससविन्दु गोत्तफुसिया	४५	सो होई अहिगमर्हई	११०
संजय अस्संजय मीसगा	१९८०	हरियाले हिगुलए	२४
संठाणं बाहूलं	९७२	हासे हासरई वि य	१९४



## परिशिष्ट २

### विशिष्टथब्दसूची

शब्द	सूचारूप	शब्द	सूचारूप
अइकाय	१९२	अजीवपजजव	४३८
अकण्ण	६५	अजीवप्रजाप	३
अकम्मभूमए	६४५	अजीवपरिणाम	९२५
अकसाई	१३३४	अजीवमिस्सिया	८६५
अकाइए	१२९०	अजोगी	२५२
अकिरए	१५८८	अजोणिय	७५३
अक्ष	१९७	अज्जल	९८
अक्षरपुटिया	१०७	अज्ञस्थवयण	८९६
अगुखलहुप्रणाम	१६९४	अज्ञवसाण	२०३२
अगुखलहुए	१००५	अटु	९९४
अगमहिसी	१९९	अटुपिटुणिटिया	१२३७
अग्निकुमार	१४०	अटुफास	८७७
अग्निमाणव	१८७	अटुविहवंधए	१५८१
अग्निसीह	१८७	अटुविहवेदए	१७८८
अचन्द्रुदंसण	४४५	अटुकच्छभ	६४
अचरिमसमय	११२	अडा	८८
अचरिमतपएस	७७५	अडिला	८७
अचरिम	७८१	अणगार	९७२
अचित्तजोणिय	७६३	अणभिग्नहियकुद्वी	११०
अचित्ता	७५४	अणभिग्नाहिया	८६६
अचिच्चमालि	१९७	अणवणिय	१८८
अच्चुए	४२६	अणंतगुणकक्खड	१८००
अच्चुतवडेसए	२०६	अणंतगुणकालए	५२३
अच्चुय देव	१५५१	अणंतगुणतित्तरस	८७७
अच्छर	१८८	अणंतगुणलुक्ख	५२४
अच्छ्रोड	५८	अणंतगुणसीय	८७७
अजसोकित्तिणाम	१७०२	अणंतगुणसुबिभगंध	८७७
अजहण्णमणुक्कोसगुणकक्खड	५४५	अणंतजीव	५४
अजोवदव्वदेस	१०९५	अणंतपएसिए	५१०

अणंतभिस्सिया (भाषाभेद)	४६५	सतिलसिद्ध	१६
अणंतरागय आहार	२०३२	अतिराउल	८४२
अणंतरोगाढ	८७७	अतिथकाय	२७३
अणंतरोववन्नग	९९८	अस्थिकायधम्म	११०
अणंतसमयसिद्ध	१७	अत्थोगाह	१०१७
अणाएजजणाम	१७०२	अथिरणाम	१७०२
अणागारपस्सी	१९५४	अदिण्णादाण	१६३९
अणागारोवउत्त	२६२	अदुब्बखमसुह (वेदनाभेद)	२०५४
अणाणुगामिए	२०२७	अदूरसामंत	२०५२
अणाणुपुक्षो	८७७	अदेवीय	२०५१
अणादेजजणाम	१६९३	अद्वारिट्टु	१२२६
अणाभोगणिष्वात्तय	९६३	अद्वणारायसंघयणणाम	१६९४
अणाहारए	१३६७	अद्वामिस्सिय (भाषाभेद)	८६५
अणिज्जिण्णा	२१७०	अद्वपविट्टु	१७४४
अणित्थंथ	२११	अद्वगागह	१०७
अणिदा (वेदनाभेद)	२०५४	अद्वामिस्सिय (भाषाभेद)	८६५
अणियाण	१७७	अद्वासमय	५
अणुतडियाभेय	८८१	अधम्मत्विकाय	५
अणुसरविमाण	२०९	अधेसत्तमपुढवी	३४२
अणुत्तरोववाइय	१५४४	अधोलोय	२८४
अणुभावणामणिहत्ताउय	६८४	अपद्वाण	१७४
अणुभाव	१६७९	अपच्चक्खाणकिरिया	११२९
अणुवउत्त	९९६	अपज्जत्त	३५३
अणुवरयकाइया	१५६८	अपज्जत्तगणाम	१७०२
अणुवसंत	९६३	अपज्जत्तय	४२८
अणुवसंपञ्जमाणगती	११०५	अपञ्जवसिय	१२६५
अणुवाय	११०५	अपडिवाई	२०२७
अणु	८७७	अपदमसमयसिद्ध	१७
अणेगसिद्ध	१६	अपदेसट्टुयाए	३३०
अणेरइय	११९९	अपरित्त	२६५
अणोगाढ	८७७	अपरियार	२०५१
अणोवमा (मिष्ट खायविशेष)	१२३८	अपसत्यविहायगतिणाम	१७०२
अणंतरट्टात्य	१७९७	अपणबहु	२०३२
अणंलिगसिद्ध	१६	अप्पाबहुदंडग	६९२
अणाणी	८२	अफुसमाणगति	११०५
अतित्यगरसिद्ध	१६	अषंधय (क)	१६४३

अधोहा	१६९७	अंधिय	५८
अधभक्षण	१५८०	अंबटु	१०३
अधभवालुया	२४	आइल्लभ	१६१४
अधभोवगमिया	२०७२	आउ	८५३
अधवसिद्धय	१३९३	आगरिस	५५९
अभिगम	२०३२	आगास्तिकाय	५
अमाइसम्महिट्टिउधवणग	९९८	आगास्थिगल	१००२
अभूढिटी	११०	आगासफलिघोदम	१२३८
अयोमुह (अन्तर्दीप-मनुज्य)	९५	आणग्र	३३४
अरकाग (म्लेच्छ जातिविशेष)	९८	आणमणी	८३४
अरणवर	१००३	आण्य	१९६
अवणीय-उवणीयवयण	८९६	आणुपुष्टिणाम	१६९४
अवणीयवयण	८९६	आभरण	१००३
अवरविदेह	१०९८	आभासिय	९८
अवाय	१००६	आभिणिकोहियणाणसागारोवओग	१९०९
अविगगह	२१७५	आभोगणिव्वत्तिश्र	९६३
अविरत	३३४	आयतसंठाण	८
अवेदश्र	१३३०	आयरिय	१११८
अव्योयडा	८६६	आयवणाम	१७०२
असच्चामोसभासग	९००	आरंभिया	११२९
असंख्यपृष्ठविट्टु	१७४४	आराहम	८९९
असंजयसम्महिट्टि	१५३३	आरिय	१०२
असातावेयणिज्ज	१६९०	आलावग	१२५८
असेलेसिपडिवणग	८६७	आवकहियसामाइप	१३४
अस्सातावेदग	३२५	आवत्त	७१
अहस्त्राय	१३३	आवलिय	९१८
अहसिद	२०७	आसकण्ण	९५
अहरोटु	१७८	आसमुह	९५
अहिगमर्हई	११०	आसालिय	७७
अहेलोइयगाम	१५५१	आसीविस	७९
अंकलिचि	१०७	आहृच्च	११२४
अंगारग	१९५	आहारग	९०१
अंगुलपङ्गवग्गमूल	९२०	आहारगसमुख्याश	१०७७
अंगुलपयर	९१८	आहारसरीरकायजोग	२१७३
अंगुलपुहुत्त	९७६	आहारग	२६३
अंतोमुहुत्त	३३५	आहारसणा	७२५

आहिकरणिया	१६१९	उबघट्यणिस्सिय	८६३
इच्छाणुलोमा	८६६	उबरिमउबरिमगेवेज्जग	४३५
इड्डी	११९८	उबरिमगेवेज्जग	६२२
इत्तिरिय	१२१५	उबरिमभजिभमगेवेज्जग	४३४
इत्थिवेय	१६९१	उबरिमहेट्टिमगेवेज्जग	१४६
इरियावहियबंधग	१६९९	उबसंतकसाय	१२५
इसिपाल	१९४	उबसंतकसायकीयरागदेसणारिय	१११
इसिबाहय	१८८	उबवटुण	५५९
इसी	१९४	उसभणारायसंघयणणाम	१६९४
इंद	१९८	उसभंक	१९६
इंदिय	२	उसिणा	२०५५
ईसर	१७७	उसस्पिणी	९१०
ईसाण	६२२	उस्सासणाम	१७०२
ईसाणकप्प	१९८	उस्सासविस (सर्वक्षेष)	७९
ईसिपब्भारा	२११	एगांशोवत्त (द्विन्द्रिय जीव)	५६
उबकड (श्रीन्द्रिय जीव)	५७	एगखूर	७०
उबकलिय	५७	एगजीव	५३
उबकामुह	९५	एगट्टिय	३९
उगगह	१०४	एगिदिय	१२७२
उच्चागोअ	१६९५	एगिदियजाइणाम	१६९४
उड्डलोअ	१४८	एरण्णवय	१२५७
उत्तरवेउविअ	९८३	एरवय	१०५८
उदधिवलय	१५१	ओषसण्णा	७२५
उवहिकुमार	१४०	ओभंजलिया	५८
उहिस्सपविभत्तगति	११०५	ओरालिय	१५४४
उहेहिय	५७	ओरालियमीसासरीरकायजोग	२१७३
उद्धकवाड	१५५	ओहिदंसण	१९२८
उप्पडा	५७	कवखड	३३३
उप्पणमिस्सिया	८६५	कच्छभ	६४
उप्पणविग्यमिस्सिया	८६४	कुट्टपाउयार	१०६६
उप्पाय	५७	कणम	५८
उरपरिस्तप्प	३८१	कणिकामच्छ	६३
उरुलुवग	५७	कण्णत्तिया	८७४
उवझोग	९३२	कण्णपाउरण	९५
उवझोगद्वा	१००६६	कुप्प	१००३
उवघायणाम	१७०८२	कुप्पातीय	१४५

कप्पासुट्टिसर्मिजिय	५७	कुम्मुण्णया	७७३
कप्पासिय	१०५	कुलक्खा	९६
कप्पोवग	६६१	कुहंड (वाणव्यन्तरदेव जाति)	१८८
कम्म	१६६७	कूड़	१००३
कम्मखंच	२१७५	केवकय	९८
कम्मगसरीर	१४५२	केवलकप्प	१२४५
कम्मभूमय	१७४७	केवलणाण	४५२
कम्मारिय	१०१	केवलिसमुग्धाय	२०८६
कम्मासरीरकायप्पश्रोभगति	१०८७	कोडाकोडी	९१८
कलुय	५६	कोडिगारा	१०६
कसाय	२	कोत्थलवाहन	५७
कसायदेयणिजज	१६८२	कोलालिय	१०५
कसायसमुग्धाय	२०८६	कोलाहा	७९
कसाहीय (सर्वविशेष)	८०	कोंकणग	९८
कंका	८८	खग	१९६
कंदलगा	७१	खरबादरपुढविकाह्य	२२
कंदिल	१८८	खस	९८
काउलेसा	१५८५	खंडाभेघ	८८७
कामंजुगा	८८	खारा	८५
काय (म्लेच्छ जातिविशेष)	९८	खासिय	९८
कायजोग	२१७३	खोर (वर)	१००३
काल (समय)	२११	खुजसंठाणणाम	१६९४
काल (महानरक)	१७४	गगर	९८
काल (वाणव्यन्तरेन्द्र)	१९०	गतिणाम	१६९३
कालोय	१००३	गळभेवकर्तिय	१४८४
किण्णर	१९२	गयकण	९५
किण्हपत्त	५८	गह	१४२
किराय	९८	गंडोपद	७०
किरिया	२	गंधधव	१८८
किगिरिड	५७	गंधावति (पर्वत)	१०९८
किपुरिस	१४१	गामणिद्धमण	९३
कुक्कुड	५८	गिहिलिगसिद्ध	१६
कुक्कुह	५८	गीतजस	१९२
कुच्छिकिमिया	५६	गीतरति (वाणव्यन्तर देवेन्द्र)	१९२
कुच्छिपुहत्तिय	८३	गुणसेढी	२१७५
कुच्छि	८३	गूढदंत	९५

मेवेज्जा	१९६	चित्तार	१०६
गोकण्ण (पशुविशेष)	७२	चिलाय	९८
गोकण्ण (अन्तर्छीपज मनुष्य)	१५	चिलल	९८
गोजलोया	५६	चिललय	५४९
गोणस (सर्पभेद)	८०	चुल्लहिमवंत	१०९८
गोमयकीड़ग	५८	चुंच्चा	१०३
गोमुह	१५	चुंच्य	९८
गोमेजज्ञय	२४	चोथासब	१२३७
गोम्ही	५७	छउमत्य	११५
गोय	१५८७	छहुभत्त	१८२४
गोरक्खर	७१	छट्टाणवडिय	४४०
गोलोम	५६	छत्तार	१०६
गोड	९८	छब्बिय	१०६
गोधोड़ब	९८	छायाणुवातगति	१११५
घझोदय	२८	खेदोबट्टाबणिय	१३४
घणदंत	९५	खेबट्टसंघयणणाम	८६९४
घणवाय	३४	जणवयसच्च	८६२
घणोदधिवलय	१५१	जमलपय	९२१
घुला	५६	जरुल	५८
घोम	१८७	जलकंत	२४
चउजमलपय	१२१	जलकंत (उदधिकुमारेन्द्र)	१८७
चउट्टाणवडिय	४४१	जलचारिय (चतुरन्द्रिय जीव)	५८
चउत्यभत्त	१८०६	जलोउय	५६
चउणाइया (भुजपरिसंविशेष)	८५	जलोय	५६
चउरंसंठाणपरिणत	९	जलोया (चर्मपक्षिविशेष)	८७
चमर	७२	जवण	९०
चरिमंतपएण	७७९	जवणालिया	१०७
चंद	१००३	जसोकित्तिणाम	१७०२
चंदणा	५६	जहृणगुणक्कखड	५४५
चंदणभा	१२३७	जहृणगुणकाल	४५७
चंपा	१०२	जहृणगुणसोत	५४७
चिक्खल्ल	१६७	जाइणाम	१६९४
चित्तपक्ष	५८	जाइनामनिहत्ताउय	६५६
चित्तलग	७४	जायणी	८६६
चित्तलिण	८०	जाहा	८५
		जिज्ञासार	१०६

जीवणिकाय	१५७४	गिदा	२०५४
जीवस्थिकाय	२७०	गिहा	१६८०
जीवमिस्सिय	८६५	गिहाणिहा	१६८०
जीवंजीव	८७	गिम्माणणाम	१६९३
जोइसिय	१९५	गिरयगतिणाम	१७०९
जोग	१८६५	गिरयाणपुब्विणाम	१७०२
जोगसन्तव	८६२	गिसढ	१०९५
झिगिरा	५७	गिहत्ताउअ	६५४
ठवणासच्च	८६२	गिहि	१००३
ठितलेस्सा	१९५	गीणिय	५८
ठितीचरिम	८१०	गीयागोय	१६९५
ठितीणामणिहत्ताउय	६८५	गेहूर	९८
डोंव	९८	गेत्तावरण	१६७९
डोंबिलग	९८	गेत्तिय	५८
णकखत्त	१००३	गेरहय	४५५
णगरणिद्धमण	९३	गोइदियमरयोग्याह	१०१९
णग्नोहपरिमंडलसंठाणणाम	१६९४	गोकसायवेयणिज्ज	१६८२
णपुंसगआणमणी	८३४	गोपज्जत्तयणोग्यपज्जत्तय	१६८५
णपुंसगपणवणी	८३५	एक	१४८
णय	१११३	तउसमिजिय	५७
णरदावणिया (?)	१०५	तणविदिय	५७
णंगोली	९५	तणुत्तु	२११
णंदावत्त	५८	तणुयतरी	५४
णंदियावत्त	५६	तणुवाय	३४
णाग (नागकुमारदेव)	१७७	तप्पागारसंठिय	२००८
णाग (दीप समुद्रनाम)	१००३	तमतम्प्यभा	७७४
णागफड	१७७	तयाविस	७९
णाण (ज्ञान)	११०	तसकाइय	१२८९
णात	१०४	तसणाम	१६९३
णाम	११०	तंतुवाय	१०६
णारायसंघयणाम	१७०२	तंदुलमच्छ	६३
णिघोयजीव	५४	तामलित्ति	१०२
णिखुड	१४७	तिजमलपय	९२१
णिख्याय	३१	तित्यगर	१४०६
णिहङ्गिया	१०७	तित्यगरणाम	१७०२

तित्थसिद्ध	१६	दुहणाम	१६६४
तित्थगरसिद्ध	१६	द्वृभगणाम	१७०२
तिरियगति	५६१	देवकुरु	१०९८
तिरियगतिणाम	१७०२	देवाणुपुव्विणाम	१७०९
तिरियलोय	२७६	दोणमुहनिवेस	८२
तुष्णाग	१०६	दोसापुरिया	१०७
तुरुक	१७७	दोस्सिया	१०५
तेइंदिय	५८२	धणु	८३
तेइंदियजाइणाम	१७०२	धमाससार	१२२८
तेदुरणमज्जिय	५७	धम्मतियकाय	५
तेयासमुखाय	२०८६	धम्मरुइ	११०
तोडु	५८	धरण	१८१
थणिय	१७७	हःय	१०५
थणियकुमार	१२०९	धायइसंब	१००३
थलयर	१५२४	धूमप्पभा	७७४
थावरणाम	१६९३	नक्खत्तदेवय	१९५
थिगल	९७२	नक्खत्तविभाण	४०४
थिगणाम	१६९३	नदी	१००३
थिरीकरण	११०	नपुंसगवेद	१३२९
थीणगिद्धी	१६८०	नागकुमार	१४०
थेर	१११८	निक्कंखिय	११०
दज्जपुण्फ	७९	निरयावलिया	१४८
दमिल	९८	निरयावास	१७२
दरिसणावरणिज्ज	१५८७	निहवक्कमाउय	६७९
दव्वीकर	७८	निवत्त	२११
दंतार	१०६	निवत्तणा	१००९
दामिली	१०७	निवितिगिच्छा	११०
दित्तिवाम	११०	निस्समग्रुइ	११०
दित्तिविस	७९	नीलपत्ता	५८
दिली	६५	नीलमत्तिया	२३
दिवसपुहटा	१८०६	नीललेस्सा	११८०
दिव्वाग	८०	पउम (द्वोपसमुद्रनाम)	१९६
दिसाकुमार	१४०	पउमुत्तरा (शर्करमविशेष)	१२३८
दीव	१७७	पउस	९८
दीवकुमार	१४०	पओगगति	२०८५
दुसमयसिद्ध	१७	पच्चक्क्षा	५४

पच्चक्षवयण	५९६	परिसजीव	५४
पच्चक्षाण	१४२०	परिमंडलसंठाणपरिणय	१२
पञ्जत्त	३५३	परियारग	२०५२
पञ्जत्तगणाम	१७०२	परियारणा	२०५२
पञ्जत्ति	१८६५	परिव्वायग	१४७०
पञ्जव	४३८	पलहव	९८
पटुगार	८०८	पवण	१७७
पडाग (भृत्यविशेष)	६३	पवालंकुर	१२२९
पडाग (संपर्विशेष)	८०	पव्वय	४७
पडिरूव	१९२	पसत्यविहायगतिणाम	१६९४
पडीणवाय	३४	पंकप्पमा	७७४
पडुच्चसच्च	८६२	पंचकिरिए	१९५५
पणगजीव	२१७५	पंचाला	१०२
पणगमत्तिया	२३	पंचिदिय	१७४६
पणवणी	८३२	पंचेदियजाइणाम	१७०२
पक्षविट्या	५७	पंडगवण	१५४८
पक्षाहार	५७	पंहुमत्तिया	२३
पक्षेयजीव	४०	पाओ (दो) सिया	१६०८
पक्षेयबुद्धसिद्ध	१६	पायहस	८८
पक्षेयसरीरणाम	१७०२	पारस	९८
पदेसणामणिहत्ताउथ	६८४	पारिभहिया	१६२१
पष्पडमोदभ	१२३८	पारिप्पवा	८८
पष्पडिया	५३	पारियावणिया	१५६७
पभंजण	१८७	पास (म्लेच्छजातिविशेष)	९८
पम्हलेस्सा	१११६	पासणता	१९४५
पयगदेव	१८८	पाहुया	५७
पयत	१९४	पिपीलिया	५७
पयलाउय	८५	पिथंगाला	५८
पयलापयला	१६८०	पियाल	४०
परपतिट्ठिय	९६०	पिसुय	५७
परपुङ्क	१२२६	पीबंकुजीवश	१२३०
परभवियाउय	५५९	पुक्खर (द्वीप-समुद्र)	१००३
परमकण्हा	१६७	पुक्खरसारिया	१०७
परमत्यसंयव	११०	पुच्छणी	८८६
परस्सर	७४	पुडवि (द्वीप-समुद्र)	१००३
पराधायणाम	१७०२	पुण्ण	१८७

पुण्णभद्र	१९२	बादिरकाय	२४
पुतंजीवय	४०	बादरणाम	१६९३
पुष्फविद्या	५७	बादरणिगोय	१३१९
पुष्कुतरा	१२३८	बादरतसकाहय	१३१२
पुमधाणमणी	८३४	बादरतेउकाहय	२४३
पुमपण्णवणी	८३५	बादरनिगोद	२४४
पुमवयण	८५७	बादरपुढिकाहय	२२
पुमवयू	८३३	बारवती	१०२
पुरिसलिंगसिद्ध	१६९१	बाहिरपूक्खरङ्ग	१००३
पुरिसवेय	२४	बिडाल	७४
पुलय	६५	बुद्धबोहिय	११६
पुलग	५६	बुद्धबोहियसिद्ध	१६
पुलाकिमि	९८	बेहंदिय	४४८
पुलिद	१०९८	बोंदि	२११
पुञ्चविदेह	१११२	भडग	९८
पुञ्चवेयालो	१२३१	भत्ति	१९५
पेहुण	१३२६	भयणिस्त्या	८६३
पोगलपरियद्वट	१०६	भयसण्णा	७२५
पोस्थार	१०७	भरिली	५८
पोलिदी	१४२०	भवचरिम	८१२
पोसहोदवास	५७	भवणवद्व	१०९७
फलविटिय	१६९३	भवधारणिज्ज	१५२९
फासणाम	९७३	भवपञ्चद्वय	१९८२
फासिदिम	११०५	भवसिद्धम्	१३९२
फुसभाणगति	९८	भवियदव्वदेव	१४७०
घउस	९८	भवोवग्महकम्म	२१७०
घब्बर	८८	भवोववातगति	१०९९
बलागा	१८७	भंडवेयालिय	१०५
बलि	१९५	भंडार	१०६
बहससति	३९	भारंडपवद्वी	८७
बहुबीयग	१०८५	भाव	११०
बंधणज्ञेयणगति	११०५	भावचरिम	८२९
बंधणविमोयणगति	१२२६	भावसच्चा (भाषाप्रभेद)	८६२
बंशुजीवग्र	२०१	भाविदिय	१०६४
बंभलोग्र			

भासाचरिम	६१४	महाकाय	१९२
भासारिय	१०१	महाकाल (व्यन्तरेत्त्र)	१८९
भिसकंद	१२३८	महाकाल (नरक)	१७४
भिसमुणाल	५१	महाकोस	१८७
भीम	१९३	महापुरिस	१९२
भूयम	१५१२	महापोडरीय	५१
भूय	१००३	महाभीम	१९२
भूयवाइय	१८८	महावोख्य	१७४
भूयाणंद	१८१	महाविदेह	८२
भोगवईया (लिपिभेद)	१०७	महावीर	१
भीन (कुलाये)	१०४	महासुक्क	१५३२
भोगविस	७९	महासेत	१९४
मझअण्णाणी	४८८	महाहिमवंत	१०९८
मउलि (सर्वभेद)	७८	महिल	१०२
मगमिगकीड	५८	महिस	८४९
ममण	१७९८	महेसर	१९४
मघव	१९७	महोरग	७७
मजिभमउवरिमगेवेज्जग	४३२	मंकुणहस्थी	७३
मजिभमगेवेज्जग	६२२	मंगूस	८५
मजिभममजिभमगेवेज्जग	१४६	मंडलियावाय	३४
मजिभमहेट्टिमगेवेज्जग	१४६	मंढ	९८
मणजोग	२१७३	मंदर	१००३
मणपञ्जज्ञति	१९०४	मंदरपञ्चय	१०५८
मणपञ्जवणाण	४५२	मंसकच्छभ	६४
मणपञ्जवणाणारिय	१०८	माईमिध्छहिट्टिउवदण्णग	९९८
मणपरियारग	२०५२	माईबाह	५८
मणभक्खण	१८६४	माउर्लिगी	४२
मणसुखेत	१५५१	माणसमुख्याय	२०३३
मत्तियावह	१०२	माणिभद्र	१९२
मदणसलागा	८८	मायासमुख्यात	२१३९
मलय	९८	मारणंतियसमुख्याय	२०८६
मसारगल्ल	२४	मालव	९८
महदंडय	२१२	मालवंतपरियाय	१०९८
महब्बला	१७७	मालिण	८०
महाकंदिय	३४	मालुय	५७

मासपुरी (नगरी)	१०२	रोम	९८
माहिद	१९६	रोसग	९८
माहेसरी (लिपिविशेष)	१०७	रोहिणीय	५७
मिच्छत	१६६७	रोहियभञ्ज्ञ	६३
मिच्छतवेयणिज्ज	१६८२	लउस	९८
मिच्छदिट्ठि	१९८	लट्टुदंत	९५
मिच्छादंसणवत्तिया	११२९	लह्डि	१००६
मिच्छादंसणसल्ल	१५८०	लवणसमुद्र	१००३
मिलक्खू	९७	लंतब्र	२०२
भुत्तालथ	२११	लंतगदेव	२०२
मुद्रया	६५	लाढ	१०२
मुहं	९८	लाभतराम	१६८६
मुसं(सुं)डि	१७७	लालाविस	७९
मुजपाउयारा	१०६	लाकग	८८
मूयलि	९८	लेप्पार	१०६
मूस	८५	लेसा	२
मेच्छ	२११	लेसागति	११०५
मेय	९८	लेसापरिणाम	९२६
मेरथ	१२३७	लेसाणुवायगति	११०५
मेलिमिद	७९	लोश्र	१४९
मेसरा	८८	लोगणाली	२००७
मेहमुह	९५	लोगनिष्ठुड	१५७
मेहुणसण्णा	७२५	लोभसमुग्घाय	२१३३
मेठमुह	९५	लोहियक्षमणि	१२२९
मोगगर	१८८	लोहियपत्त	५८
मोत्तिय	५६	लोहियमत्तिया	२३
मोसमणजोग	२१७४	लोहियवण्णणाम	१७०२
मोसमणप्पओग	१०६८	लहसिय	९८
मोसवइजोग	२१७४	वइउल	८०
मोहणिज्ज	१६८२	वइजोग	२१७३
रत्णवडेसय	१९८	वइजोगपरिणाम	९३१
रत्तवंषुजीवन्न	१२२९	वइराड	१०२
रम्मगवास	९६	वइरोयणराय	१८०
रथण	१००३	वइरोसभणारायसंघयणाम	१७०२
र्यणवडेसय	२०६	वइसुह्या	१६८१

वक्खार	१००३	वालुयप्पभा	७७४
वग	८४९	वास	१२८९
वग्न	९२१	वासहरपव्वय	१४८
वग्णणा	१२४५	वास (द्वीन्द्रिय जीव)	५६
वग्धमःह	९५	वासुदेव	८२
वज्जकदश्च	१२३३	विउष्फेस	१७७
वज्ञार	१०६	विग्यमिस्सिया (भाषाभेद)	८६५
वट्टग	८८	विग्लिदिय	८९१
वडगर	६३	विचित्तपक्ष	५८
वणप्फङ्काइय	४४७	विजय	६२२
वणप्फङ्काल	१२७२	विजयवेजयंतीपडाग	१९५
वणयर	१९७३	विजया	१००३
वरथ	१००३	विजाहरसेडि	१५५१
वयजोग	२१७४	विजुकुमार	१४०
वरण	१०६	विजुदंत	९५
वराड	५६	विडिम	१९६
वरण	१००३	विततपक्ष्यी	९०
वरेल्लग	८८	वित्यारहइ	११०
ववहारसच्च	८६२	विदेह	१०३
वसभवाहण	१९८	विभंगणाण	४४०
वसिद्धु	१८७	वियडजोणिय	७७२
वंकगति	११०५	वियडावति	१०९८
वंजणोग्गह	१००६	विलंब	१८७
वंजुलगा	८८	विसाल	१९४
वंसीपत्ता (योनिभेद)	७७३	विहाणमगणा	१७९८
वंसीमुह	५६	विहायगतिणाम	१६९३
वाइंगण	४२	वेउविधय	९०१
वाउकाइय	२३८	वेउविद्यसमुखाय	२०८६
वाउकुमार	१४०	वेजयंत	४२६
वाउक्कलिया	३४	वेढला	६५
वाउब्भाम	३४	वेणैया (लिपिविशेष)	१०७
वाणमन्तर	६५०	वेणुदालि	१८७
वणारसी	१०२	वेदग	१०३
वामणसंठाणणाम	१६९४	वेदणासमुखाय	२१२६
वास्णोदश	२८	वेमाणिय	८०८

वेसाणिय	१५	समुद्रवायस	८७
वोक्काण	१८	सम्मत	२१२
बोयड (भाषाभेद)	८६६	सम्मतवेदणिज्ज	१७३७
सन्करण्यभा	७७४	सम्मतसच्च	८६२
सन्कुलिकण्ण	१५	सम्मामिच्छत्त	१७३२
सन्क	१३७	सम्मामिच्छदिट्ठि	१३४५
सग	१८	समुच्छिमणुस्स	९२
सच्चमणजोग	२१७४	सयपुत्रिकंदीवर	४९
सच्चवइजोग	२१७४	सर्यबुद्ध	११५
सजोगिकेवली	११८	सर्यभुरमणसमुद्	१५५१
सण्कुमार	१९६	सरङ्ग	८५
सणिक्ष्वर	१९५	सरीरणाम	१६९३
सण्णा	२	सरीरपञ्जस्ति-अपञ्जस्तथ	१९०५
सण्णी	२	सरीरसंचातणाम	१६९४
सण्णभूय	१९६	सरीरंगोवंगणाम	१६९४
सण्णहिय	१९४	सरीरोभाहणा	१५०२
सण्हवादर-पुढविकाइय	२२	सलिगसिद्ध	१६
सण्हमच्छ	६३	सल्ला	८५
सतवच्छ	८८	सञ्चटुगसिद्धदेव	६७३
सतवाइय	५७	सञ्चणिरुद्ध	१७४४
सत्त	२११	सञ्चद्धा	१२६०
सत्तविहबंधग्र	१५८१	सहसमुद्या	११०
सत्तविहवेदग्र	१७८८	सहससखा	१९७
सत्ति	१८८	सहससप्त	५१
सत्यवाह	११०८	संख	५६
सहपरियारग	२०५२	संखार	१०६
सशिहिय	१९३	संखावत्ता (योनिभेद)	७७३
सप्तुरिस	१९२	संखेजजीविय	५४
सबर	९८	संघयणणाम	१७०२
समचउरंसंठाणणाम	१६९४	संठाण	८
समय	१७	संथारग	२१७४
समयखेत	१५५०	संपराइयबंधग	१६९९
समंस	५४	संभिन्न	२००७
समुगपक्खी	८६	संवर	७२
समुरघाय	२	संबुक्क	५६
समुदलिक्खा	५६		

संवृद्धजोणिय	७७३	सुयणाण	१२१६
संसयकरिणी	८८६	सुयविट	५७
संसारथपरित्त	१३७३	सुरद्व	१०२
संसारपरित्त	१३७६	सुरभिगंधणाम	१६९४
साइयार	१३५	सुरूच	१९२
सात	२०५४	सुवच्छ	१९४
सातावेदणिङ्ग	१६९०	सुवण्णकुमार	१४०
सामाइय	१३३	सुहा (वेदनाभेद)	२०६९
सामाण	१९४	सुहुमशाउकाइय	१३०१
सारंग	५८	सुहुमणाम	१६९३
सारा	८५	सुहुमणिश्रोय	२३९
साहारण	५४	सुहुमतेउकाइय	२३९
सिद्ध	१५	सुहुमपञ्जत्य	२५१
सिद्धत्थिय	१२३८	सुहुमपुढविकाइय	६५०
सिष्पारिय	१०१	सुहुमवणप्फङ्काइय	१३०१
सिष्पिसंपुड	५६	सुहुमवाउकाइय	१५९
सिरिकंदलग	७१	सु-सुमार	६२
सिगिरिङ्ग	५८	सूईमुह	५६
सिधुसोबोर	१०२	सूरसेण	१०२
सिहल	९८	सूरा	१४२
सीता (योनिभेद)	७३८	सूलपाणि	१९६
सोमागार	६८	सेडि (रोमपक्षीविशेष)	८८
सीहकण्ण	९५	सेत	१९४
सीहमुह	९५	सेपकणवीर	१२३१
मुक्क	२१०	सेयबंधुजीवय	१२३१
मुक्कलेस्सा	११५६	सेयविमा (नगरी)	१०२
मुक्किलपत्त	५८	सेयासोम	१२३१
मुक्किलवण्णणाम	१७०२	सेलेसि	२१७५
मुत (य) अण्णाण	४४८	सेल्लगार	१०६
मुतणाण सागारपासण्णता	१९४८	सेवद्वसंघयण	१७०२
मुत्तवेयालिय	१०५	सेह	८८
मुत्तीमई	१०२	सोइंदिय	९७३
मुद्ददंत	९५	सोइंदियदंजणोगगह	१०१८
मुविभगंधणाम	१७०२	सोतिय	५६
मुभग्र	५१	सोमंगलग	५६
मुभगणाम	१७०२	सोरिय	१०२

सोवक्कमालय	६७३	हारोस	९८
सोवच्छय	५७	हालाहला	५७
सोहम्मकप्प	५८९	हासरई	११४
हत्थियमुह	९५	हिरण्णवय	९६
हत्थियसोङ्द	५७	हिल्लय	५७
हयकण्ण	३५	हुंडसाठाणणाम	१६१४
हरिय	१०३	हूण	९८
हरिवास	१०९८	हेट्टिमउवरिमगेवेज्जग	४२९
हरिस्सह	१८७	हेट्टिमजिक्कमगेवेज्जग	४२८
हरिदृपत्त	५८	हेट्टिमहेट्टिमगेवेज्जग	१८४२
हलिमच्छ	६३	हेमवय	१०९८



## वल्लरूपति-नामानुक्रम

शब्द	सूत्रांक	शब्द	सूत्रांक
अद्वितीय	४५	एलवासुंकी	४५
अद्वित्यलता	४४	कवकोड़ह	४५
अवक	४२	कवखड	४५
अवकबोंदी	४५	कच्छ	४७
अगधाड़य	४२	कच्छा	५५
अज्जरे	४९	कच्छुरी	५१
अज्जुण (बहु-बीजविशेष)	४१	कच्छुल	४२
अज्जुण (त्रृणविशेष)	४७	कण्य	४३
अटुई	४५	कणग	४६
अप्पा	४५	कणिण्या	१८७
पण्फोया	४५	कफ्फ	५४
अलिसंद	५०	कण्हकडबू	४९
अवभ	५४	कण्हकंदम	५१
अस(स्स)कणी	५४	कदुइया	१२३३
असाठभ	४७	करंज	४५
अंकोल्ल	४०	करीर	४०
अंजणई	४५	कलंबुया	४२
अंतरकंद	५४	कल्लाण	५१
आए	५२	कसेरूय	४६
आलूगा	५४	कंकावंस	५१
इक्कड	५४	कंगू	४६
इच्छुवाडिय	५४	कंगूया	५०
उद्ध	४६	कंठावेलू	४५
उराल	४९	कंडुकक	४६
उव्वेहलिया	५४	कंडुरिया	५३
उव्वेभरिया	५०	कंद	५४
एरंड	४७	कंदली	१९४
एरावण	४२	कंदुकक	५४
		कंबू	५४

कालंबरी	४१	जासुमण	४२
काशोली	५४	जासुवण	४५
कागणी	४५	जियंतश्च	४९
कायमाई	४२	जि(ज)यंकि	४५
कारियल्लई	४५	जूहिया	४३
किट्टि	५४	गल	४६
किट्टोया	५४	गवणीइया	४३
किष्हम	५५	गहिया	५२
किण्वे	५४	गही	५४
किमिरासि	५४	गंगलझ	५४
कुच्चकारिया	४२	गागरुक्ख	४०
कुञ्जय	४३	गागलया	४५
कुड्डा	४१	गालीया	४५
कुत्थुभरि	४१	गिरहा	५४
कुरुष	५२	गिरु	५४
कुवधा (या)	४५	गिर	१२३३
कुहण	५४	गीत्तकणवीरम्	१२२७
कोदूसा	५०	गोमालिया	४३
कोसंब	४०	तउस	५४
खल्लुड	५४	तक्कलि	४८
छोरकाशोली	५४	तलकडा	४२
गयमारिणी	४२	ताल	४८
गंज	४२	तिमिर	४६
गिरिकण्णाई	४५	तिलम्	४१
गोत्तफुसिया	४५	तिङ्गुय	११२२
घोसाडझ	१२३३	तिङु	४१
चविता	१२३४	तिदूय	५४
चंडी	५४	तुलसी	४२
चुच्चु	४२	तुस	४७
चोरग	४९	तेयलि	४८
चोरण	११२२	तेंदूस	५४
छिणरुहा	५४	दब्बहलिया	५४
छोरविराली	४५	दब्बी	५२
जवजवा	५०	दहकुल्लई	४९
जावझ	४२	दहिवझ	४५
जावति	४६	दंती	४१
			५४

दासि	४२	बिबफल	१७८
देवदार	४५	भिंठ	१२३५
देवदाली (वनस्पतिविशेष)	१२३३	भद्रमुखा	५४
देवदाली (बृक्ष विशेष)	४१	भमास (माष)	४६
घव	४१	भल्ली	४५
तालिएरी	४८	भंगी	५४
निष्काव	५०	भंडी (डा)	४२
तीली	४२	भाणी	५१
पउम (कंद)	५४	भुयरुखा	४८
पउमलता	४४	भूयण्य	४९
पउम	५५३	मगदंतिय	४३
पउमा	५४	मज्जार	४९
पउल	५४	मणोज्ज	४३
पतउर	४२	महग	४२
परिली	४२	महयग	४९
पलंडू (कन्द)	५४	मल्लिया	४३
पलुगा	५४	मसमा	५४
पाढा	५४	महित्य	४२
पारग	५९	महुरतण	४७
पालक्का	५९	महुररसा	५४
पाववल्लि	४५	महुसिगी	५४
पिलुक्खरुखा	४१	मंडुक्की	४९
पीईय	४३	माढरी	५४
पीयासोग	१२३०	माल	४२
पीलु	४०	मालुय	४०
पुस्सफल	५४	मासपणी	५४
पूयफली	४८	मासावल्ली	४५
पोक्खलत्यभ(भु)य	५१	मियबलु'की	५४
पोडइला	४७	मिहु	५४
फणस	४१	मुगपणी	५४
फणिज्जय	४९	मुसु'ढी	५४
बउल	४०	मूलश	१२३३
बदर	४२	मोगली	४५
बाउच्चा	४२	मोगर	४३
बिल्ली (गुञ्जवनस्पति)	४२	मोयइ	४०

बिल्ली (हरिद्वनस्पति)	४९	रत्तकणवीरम्	१२२९
रत्तचंदण	१७७	सामलता	४४
लज्जय	५१	पारबुल्लाग	४८
लवंगस्कुख	४८	सार	४८
लुणय	४७	सिउंडि	५४
लोदू	४१	सिताम्र	५२
लोयाणी	५४	सिपिय	४७
लोहिणी	५४	सिलिष्पुष्टि	१७८
वच्छाणी	४५	सिगवेर	५४
वत्युल	४३	सीयउरय	४२
वलई	५४	सीवणि	४०
वागली	४५	सीहकणी	५४
वाण	४२	सुगंधिय	५१
वालुंक	५४	सुभगा	४५
वासंती	४३	सुमणसा	४५
वासंतीलया	४४	सुयवेय	४७
विमङ्ग	४६	सुंकलितण	४७
विहंगु	५४	सुंठ	४७
वोडाण	४९	सुंठि	४७
सण	४२	सुंब	४६
सतीण	५०	सूरणकंद	५४
सत्तिवण्ण	४१	सूरवल्ली	४५
सप्पसुयंधा	५४	सेडिय	४७
सप्फासु	५२	सेरियय	४३
समासइक्खु	५४	सेलू	४०
सयरी	४१	सोत्थियसाश्र	४९
सरल	५३	हड	५१
सल्लइ	५०	हरडय	४०
ससंबिदु	४५	हरतण्युया	५४
संघट्ट	४५	हरितग	४९
साम	४२	हिंगुस्कुख	४८
		होसिय	४७



## अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रदर श्री ग्रामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्य ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविद्ये अंतलिक्षिते असज्जाए पण्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निरघाते, जुबते, जक्खालिते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते ।

दसविहे ओरालिते असज्जातिते, तं जहा—अट्ठी, मंस, सोणिते, असुतिसामने, सुसाणसामते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायदुग्धहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे ।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कण्ठि निर्गंथाण वा, निर्गंथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्जाय करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कण्ठइ निर्गंथाण वा निर्गंथीण वा, चउहि सज्जाहि सज्जाय करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पञ्चिमाते मज्जफ्फे, अड्ढरत्ते। कण्ठइ निर्गंथाण वा निर्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्जाय करेत्तए, तं जहा—पुब्बण्हे अवरण्हे, पओसे, पञ्चूसे ।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश्यक २

उपर्युक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

### आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. विग्राह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः अटु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्ध से स्वाति नक्षत्र पर्यंत अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्धाति—जिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यंत स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गभमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाइवेत—शीतकाल में इवेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उवृद्धास—बायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

### औदारिकशरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पञ्चेन्द्रिय तिर्यच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-न्यास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यंत का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. इमशान—इमशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यंत अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यंत स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यंत अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक द्वूसरा अधिकारी सत्तारूढ़ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजम्पुद्भाव—समीपस्य राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपार्थ्य के भीतर पञ्चेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिकशरीर सम्बन्धों कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

